प्रगतिवादी कविता में वस्तु और रूप का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध

(नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन के रचना-संदर्भ में)

केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद की पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

1991

प्रस्तुतकर्ता :
रवि रंजन

Shashi Mudiraj

निर्देशिका :
डॉ० शशि मुदीराज,
डी. लिट.
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
हैदराबाद–500134

वे वेंकटरमण राव 27/9/91

विभागाध्यक्ष :
डॉ० वे. वेंकटरमण राव,
पी–एच. डी.
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
हैदराबाद–500134

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitlied "PRAGATIVADI KAVITA MEIN VASTU AUR ROOP KA DWANDWATMAK SAMBANDH " has been done by me under the supervision of Prof. Shashi Mudiraj, Dept. of Hindi, University of Hyderabad, for the award of Ph.D. degree and is result of my own effort. It has not been submitted for any degree or diploma in any other University.

Place : Hyderabad
Date : 26-9-91

RAVI RANJAN

UNIVERSITY OF HYDERABAD
(P.O. Central University, Hyderabad 500 134)

Prof. Sashi Mudiraj
D.Litt.
Dept. of Hindi,
School of Humanities,
University of Hyderabad,
Hyderabad

Date: 20 Sep. 1991

CERTIFICATE

This is to certify that Mr. Ravi Ranjan, Has worked under my supervision for his Ph.D. thesis entitled "PRAGATIVADI KAVITA MEIN VASTU AUR ROOP KA DWANDWATMAK SAMBANDH " at the University of Hyderabad. This thesis represents his independent work and does not constitute part of any material submitted for any degree here or elsewhere.

Place : Hyderabad

Shashi Mudiraj
SHASHI MUDIRAJ
(Supervisor)

G.V. Subrahmanyam
27.9.91
Dean,
School of Humanities,
University of Hyderabad,
HYDERABAD-500 134.

प्रस्तावना

प्रस्तावना

हिन्दी में एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में " प्रगतिवाद के अभ्युदय के कारणों पर विचारते हुए हमारा ध्यान प्रथमतः बीसवीं सदी में भारत में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के प्रसार के अलावा सज्जाद जहीर एवं मुल्कराज आनंदजैसे कुछ वामपंथी बुद्धिजीवियों एवं रचनाकारों तथा " भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी " की केन्द्रीय भूमिका के फलस्वरूप सन् 1936 में " प्रगतिशील लेखक संघ " के गठन की ओर जाता है, जिसे प्रेमचंद जैसे प्रतिष्ठित कथाकार का संगठनात्मक एवं रचनात्मक सहयोग भी प्राप्त था । ऐसे तो भारतेन्दुयुगीन साहित्य में जो आलोचनात्मक यथार्थवादी स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगा था उसका विकास हमें आगे पंडित केशव प्रसाद मिश्र, गया प्रसाद शुक्ल " सनेही " तथा दूसरे कई कवियों की रचनाओं में दिखाई देता है पर वहाँ यथार्थ का स्वर ठोस विचार धारात्मक दृष्टि के अभाव में या तो केवल भावात्मक सहानुभूति का स्वर बनकर रह गया है या अनेक बार वह कविता की जगह नारेबाजी की शक्ल में व्यक्त हुआ है ।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आरंभिक चरण में जब छायावादी काव्य धारा में रोमांटिक विद्रोह, सामंती नैतिकता के बंधनों के प्रति आक्रोश, वेदना, प्रकृति प्रेम, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में सहज स्वच्छंदता का आग्रह, साम्राज्यवाद विरोध, रीतिकालीन सामंती प्रेम दृष्टि की जगह

नई रोमांटिक प्रेमदृष्टि आदि विभिन्न काव्यरुझानों की परस्पर टकराहट एवं कई बार परस्पर पूरक भूमिका के बाद एक हद तक जीवंतता का अभाव उत्पन्न होने लगा तो छायावादियों में अग्रणी निराला ने अपनी कविता को अन्तर्वस्तु एवं रूप दोनों ही स्तरों पर एक नया मोड़ देना आरंभ किया । स्पष्ट ही इस क्रम में उनका झुकाव क्रांतिकारी रोमांटिसिज्म एवं यथार्थवाद की ओर बढ़ता जा रहा था और वे रोमांटिक अन्तर्वस्तु तथा यथार्थ के कटु-तिक्त बोध को मिले जुले रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए अपनी नई सामाजिक चेतना का परिचय दे रहे थे । सन् 1935 की " सच है " शीर्षक कविता में जब वे अपने काव्य के सामाजिक ज्ञानसंवेदन को परिभाषित करते हुए उसे " जनता का जनता का ज्ञान वह *" बताते हैं तो इससे उनकी जनोन्मुखी काव्य दृष्टि का स्पष्ट संकेत मिलता है । प्रगतिवाद को प्रेमचंद के सक्रिय सहयोग तथा निराला जैसे महाप्राण कवि की यथार्थबोधी रचनाओं से मिले सम्बल के अलावा " रूपाभ " के सम्पादक के रूप में पंत के सबल नेतृत्व तथा जयशंकर प्रसाद द्वारा 1937 में लिखित " यथार्थवाद " समर्थक लेख तथा उनकी " तितली " जैसी औपन्यासिक कृति का महत्व भी कम नहीं है जिसमें उच्चकुलोत्पन्न सामंती नायक-नायिकाओं के स्थान पर बंजो, मधुआ आदि के जीवन के बहाने जनसाधारण को प्रतिष्ठ की गई है ।

सन् 1936 में " प्रगतिशील लेखक संघ " विधिवत गठन के साथ ही जब इससे जुड़े अनेकानेक रचनाकारों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अपनी जीवन-दृष्टि के रूप में स्वीकार करके छायावाद युग में निरंतर पल्लवित हो रहे यथार्थबोध को समाजवादी विचारधारा से जोड़कर उसे एक ठोस रचनात्मक जमीन पर खड़ा करने का ऐतिहासिक दायित्व

सम्पन्न करना आरंभ किया तो इसे ही साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन के रूप में पहचाना गया ।

/नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन को हिन्दी के विद्वान समीक्षकों ने प्रगतिवाद की वृहतत्रयी के रूप में स्वीकारा है और कहना न होगा कि प्रगतिवादी रचनाशीलता के आरंभिक दौर से लेकर अब तक इन तीनों कवियों का लेखन अत्यंत ही गरघर एवं प्रासं - गिक रहा है । अतः इनकी रचना-यात्रा के सम्यक अनुशीलन के बिना हिन्दी की प्रगतिवादी काव्यधारा के क्रमिक विकास एवं वैशिष्ट्य की वैज्ञानिक समझ लगभग असंभव है । ऐसे, इस संदर्भ में प्रगतिवाद के अकेले मौलिक चिंतक गजानन माधव मुक्तिबोध के अलावा शमशेर, शील, शैलेन्द्र एवं डॉ॰रामविलास शर्मा आदि कवियों एवं चिंतकों का योगदान भी कहीं से कम नहीं है ।/

जब प्रगतिवादी काव्यधारा की रचनात्मक ऊर्जा से आक्रांत होकर साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी ह ताकतों का मोर्चा संभाले अनेकानेक तथाकथित नव्यतान्वेषी रचनाकारों, द्वारा " व्यक्तित्व की खोज " एवं " पहचान की तलाश " के बहाने कविता में " प्रयोग " के लिए " प्रयोग " किया जा रहा था तथा ऐसे दिग्भ्रमित कवियों को प्रगतिवाद विरोधी झंडे के तले लाकर उन्हें नेतृत्व प्रदान करने वाले उनके शलाका पुरूष द्वारा " प्रयोग - वाद " को कोई " वाद " न मानते हुए भी उसे प्रगतिवाद के खिलाफ एक " वाद " के रूप में स्थापित करने के लिए तारसप्तक

से लेकर चौथा सप्तक तक का धुँआधार सम्पादन-प्रकाशन किया जा रहा है, तब ऐसे नाजुक दौर में भी नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन जैसे सप्तकेतर कवियों ने प्रगतिवादी काव्यधारा को जिलाये रखने का महनीय कार्य सम्पन्न किया । अपने शोध-क्रम में मैंने इन्हीं तीनों कवियों के रचना संदर्भ में प्रगतिवादी काव्यधारा में वस्तु - रूप सम्बन्ध पर विचारने का एक प्रयास किया है ।

संसार के महान साहित्यचिंतकों से लेकर हिन्दी के अल्पज्ञात एवं अल्पख्यात समीक्षकों ने रचना की " अन्तर्वस्तु " ﴾कांटेन्ट﴿ तथा उसके " रूप " तत्व ﴾फार्म﴿ पर गंभीरता - पूर्वक विचार किया है । इस संदर्भ में यदि एक ओर हमारे समक्ष क्रोचे, बर्तोल ब्रेख्त, जार्ज लुकाच, जान ड्यूई, रेने वेलेक, हर्बर्ट मारक्यूज, लूनाचार्स्की एवं टेरी ईगल्टन जैसे विश्वविख्यात मनीषियों का चिंतन है तो दूसरी ओर हिन्दी के कवियों-समीक्षकों में मुक्तिबोध, शमशेर, राजेश जोशी, डॉ•रामविलास शर्मा, डॉ•नामवर सिंह एवं डॉ•नन्द किशोर नवल आदि ने भी साहित्य में वस्तु-रूप सम्बन्ध को लेकर जो फिटफुट लिखा-पढ़ा है, वह कम मूल्यवान नहीं है । इन तमाम विद्वानों के वस्तु-रूप विषयक चिंतन से जो सार तत्व हमें प्राप्त होता है उसके आधार पर " वस्तु " उन तत्वों, पहलुओं, प्रक्रियाओं और उनके सम्बन्धों की पूर्णता को कहा जा सकता है, जो किसी पदार्थ के अस्तित्व का आधार होती है और साथ ही उसके " रूप " के विकास और परिवर्तन को नियंत्रित करती है । इसी प्रकार " रूप " या फार्म को " वस्तु " के पहलुओं, प्रक्रियाओं और तत्वों के परस्पर आंतरिक एवं विशिष्ट सम्बन्ध के रूप में रेखांकित किया जा सकता है । इस दृष्टि से विचारने पर किसी रचना में प्रतिबिम्बित होने वाले जीवन

को उसकी " वस्तु " तथा जिन बिम्बों, प्रतीकों एवं भाषा-प्रयोगों आदि के माध्यम से वह " वस्तु " संगठित होती है, उसे उसका " रूप " कहा जा सकता है। कविता या किसी भी साहित्यिक विधा में वस्तु और रूप की एकता एक ऐसा नियम है जो किसी भी रचना को महत्व एवं पूर्णता के साथ ही जीवनी शक्ति प्रदान करता है। वस्तु और रूप के संघर्ष से पहले वस्तु में परिवर्तन आरंभ होता है और अंततः उसका रूप निर्धारित होता है। अतः वस्तु और रूप की द्वन्द्वात्मक एकता में वस्तु की ही भूमिका निर्णायक होती है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि रूप पूरी तरह वस्तु पर निर्भर होता है। सच तो यह है कि रूप वस्तु से सापेक्षतः स्वतंत्र होता है।

प्रगतिवादी कविता पर जो कलाहीनता एवं नारेबाजी आदि का आरोप लगाया गया है, वह पूर्णतः तो नहीं पर अंशतः अवश्य सही है। वस्तुतः कोई रचना तब असफल हो जाती है जब रचनाकार वस्तुजगत को अपनी वैचारिक समझ के अनुरूप समंजस रूप में ग्रहण नहीं कर पाता है तथा उसे रागात्मक स्तर पर आत्मसात करके अपने सर्जनात्मक आवेग को अन्तर्वस्तु की नैसर्गिक आकांक्षा के अनुकूल रूप तत्व में ढालने की प्रक्रिया सम्पन्न नहीं कर पाता। नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन हिन्दी की जनपक्षधर रचनाशीलता के मान्य स्तंभ हैं। अतः इनकी रचनाओं के संदर्भ में प्रगतिवादी काव्य में वस्तु और रूप के सम्बन्ध पर विचार करते हुए अनेकानेक नये आयाम उद्घाटित हो सकते हैं, और इसके साथ ही प्रगतिशील कविता पर लगाये जाने वाले विभिन्न आरोपों की भी सही-सही पड़ताल हो सकती है। अस्तु !

अंत में, मै उन सभी विद्वानों एवं मित्रों के प्रति आभार ज्ञापित करता हूँ जिनसे मुझे शोध-क्रम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग मिला है । इस क्रम में मै सर्वप्रथम केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद के हिन्दी विभाग की प्रोफेसर एवं मेरी शोध-निर्देशिका डॉ॰शशि मुदीराज का नाम लेना चाहूँगा, जिनकी साहित्य को समझने-परखने की वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय दृष्टि तथा अहिंदी भाषी होने के बावजूद हिन्दी भाषा की आंतरिक प्रकृति पर उनकी पकड़ का मैं हमेशा कायल रहा हूँ । अपने शोध-क्रम में उनसे जो दिशा-निर्देश एवं सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है उनके लिए औपचारिक आभार ज्ञापन के बजाय मै उनको अपना सादर प्रणाम निवेदित करता हूँ ।

मैं हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो॰वै॰वेंकटरमण राव तथा डॉ॰सुवास कुमार का भी विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका स्नेह-सुझाव मेरे लिए हमेशा मूल्यवान रहा है । हिन्दी विभाग के कार्यालय सहायक श्री भगवान दास जोपट के साथ ही मेरे शोध-प्रबंध के टंकक श्री अरुण कुमार के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

इन महानुभावों के अलावा जिन विद्वानों, गुरुजनों, ~~अभिभावकवत्~~ अभिभावक तुल्य बुजुर्गों एवं मित्रों का आशीर्वाद एवं स्नेह मुझे हमेशा से प्राप्त होता रहा है उनमें मुजफ्फरपुर (बिहार) के आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, पं॰रामजीवन शर्मा जीवन, कवि राजेन्द्र प्रसादसिंह, प्रो॰प्रमोद कुमार सिंह, डॉ॰रामप्रवेश सिंह, डॉ॰रवीन्द्र उपाध्याय, भाई जितेन्द्र जीवन, रामचन्द्र प्रसाद सिन्हा, डॉ॰सीताराम प्रसाद सहनी एवं डॉ॰प्रभुनारायण राय के साथ ही पी॰जी॰कम्प्लेक्स द॰भा॰हि॰प्र॰सभा, हैदराबाद के प्रो॰कृष्ण कुमार गोस्वामी तथा हिन्दी महाविद्यालय

परिवार के सदस्यों में डॉ·सुशीला व्यापारी, श्री एम,उपेन्द्र, श्री·रामाचार्य घनपाठी, डॉ;प्रतिभा गर्ग, भाई श्यामसुंदर जी, श्री·पी·सुब्रह्मण्यम, श्रीनिवास रेड्डी एवं कवि वेणुगोपाल आदि महा महानुभावों का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

अपने मित्रों में श्री के·वेणुगोपाल राव, बी·सी·नायक, शर्मा जी, रमेश, लक्ष्मण राव, अरविन्द जी, गौतम, के·नरसिंह राव तथा मेरे प्रिय छात्र श्री रामप्रकाश की शुभेच्छा भी मेरे लिए अत्यंत मूल्यवान है ।

इस क्रम में अपने माता-पिता एवं परिवार के अन्य सदस्यों को भूल जाना एक प्रकार से कृतघ्नता होगी, जिन्होंने पारिवारिक दायित्व एवं चिंता से मुझे हमेशा मुक्त रखकर पढ़ने-लिखने की ओर प्रेरित किया है ।

पुन: एक बार मैं उन तमाम रचनाकारों, साहित्यचिंतकों एवं विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ जिनके सुचिंतित लेखन से गुजरकर अपने शोध-विषय के संदर्भ में मेरी समझ थोड़ी विकसित हो सकी है । इस समय अनायास ही अग्रज कवि अरुण कमल की एक पंक्ति याद आ रही है ---

" अपना क्या है इस जीवन में
सब कुछ लिया उधार
सारा लोहा उन लोगों का
अपनी केवल धार । "

रवि रंजन

अनुक्रम

पृ.सं.

प्रस्तावना 1 – 8

अध्याय एक

प्रगतिवाद : परम्परा एवं पृष्ठभूमि 14 – 65

साहित्य में प्रगतिशीलता की अवधारणा 15

वैचारिक गद्यलेखन में प्रगतिशीलता का अभ्युदय 19

प्रगतिशील लेखक संघ का गठन 31

प्रगतिशील काव्य रचना का आरंभिक स्वरूप 47

छायावाद बनाम प्रगतिवाद 52

प्रगतिवाद बनाम जनवाद 57

अध्याय दो

प्रगतिवादी काव्यधारा में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन की प्रस्थिति : 66 – 186.

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन और नागार्जुन 67

नागार्जुन-काव्य की प्रगतिशील भूमिका 70

	पृ.सं.
राजनीतिक चेतना व सामाजिक व्यंग्य	78.
प्रकृति चित्रण	100.
केदारनाथ अग्रवाल : प्रतिबद्धता का सवाल	106.
प्रगतिशील आन्दोलन और केदार	108.
केदार-काव्य में राजनीतिक चेतना व सामाजिक व्यंग्य	112.
प्रकृति चित्रण	136.
प्रेम कविताएँ	144.
कवि त्रिलोचन का जीवन दर्शन	149.
मार्क्सवाद और त्रिलोचन	156.
त्रिलोचन-काव्य में प्रगतिशील संदर्भ	158.
प्रकृति चित्रण व प्रेम कविताएँ	168.

अध्याय तीन

साहित्य में वस्तु और रूप : सैद्धांतिक विवेचन	187 - 242.
आधार और अधिरचना	188.
वस्तु और रूप : अवधारणात्मक मतवाद	193.
" विषय " एवं " वस्तु " की भिन्नता	193.
" रूप " सम्बन्धी विवेचन	195.
[पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्रियों का चिंतन]	

पृ॰सं॰

रूसी रूपवादियों का " रूप " सम्बन्धी विवेचन 205

संरचनावादियों की दृष्टि में " रूप " 214

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और " रूप " 219.

हिन्दी समीक्षकों का " रूप " विषयक चिंतन 225.

" वस्तु " और " रूप " का अन्तःसम्बन्ध 232

द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध 234

अध्याय चार

प्रगतिवादी कविता में वस्तु और रूप का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध 243 - 353

प्रगतिशील काव्य में वस्तु और रूप 244

नागार्जुन - काव्य का रूपविधान 246.

वस्तु - रूप सम्बन्धों का अन्यथाकरण 247.

" स्वगत में मुक्त संवाद " का फार्म 250

पर्हुलाकार लय 256

वक्ररेखीय छंदगत संगीत 260

नयी वस्तु एवं पुराना रूप 261

संरचनात्मक संश्लिष्टता 265

	पृ.सं.
नाटकीय संरचना	267
बिम्ब विधान	271
प्रतीक विधान	274
मिथक	276
भाषा-शैली	278
निष्कर्ष	281
केदार-काव्य में कलात्मकता	282
केदार की कला-दृष्टि	282
फार्मलिज्म का आरोप एवं निराकरण	286
वस्तु-रूप सम्बन्धों में विच्छित्ति	289
लोक काव्यरूपों का प्रभाव	291
खुसरो एवं भारतेन्दु की परम्परा का विकास	292
केदार की प्रयोगधर्मिता	294
तुकविधान	297
बिम्ब एवं प्रतीक विधान	299
काव्य भाषा	304
निष्कर्ष	306
त्रिलोचन-काव्य में अन्तर्वस्तु की विविधता	307

	पृ.सं.
त्रिलोचन-काव्य का रूपविधान	308
सॉनेट का फार्म	312
त्रिलोचन के सॉनेटों में वस्तु-रूप सम्बन्ध	313
गद्य कविता [प्रोज पोएम]	316.
वाक्य विन्यास एवं भाषा संवेदना	317.
रूपवाद का विरोध	320.
सॉनेट के फार्म में क्रांतिकारी अन्तर्वस्तु	324.
कुंडलिया	325.
" अन्तर्वस्तु " में परिवर्तन से " रूप " में बदलाव	327.
" स्वगत में मुक्त संवाद " का फार्म	328.
" नगई महरा " कविता का रूपविधान	329.
वस्तु-रूप सम्बन्ध में विविधता	330.
त्रिलोचन की गजलों में वस्तु-रूप सम्बन्ध	331.
लिरिकल अन्तर्वस्तु एवं गीत का फार्म	335.
बिम्ब विधान	341.
प्रतीक विधान	343.
निष्कर्ष	344.
उपसंहार	354.— 376.
संदर्भ ग्रंथ सूची	377 — 394.

अध्याय एक :

प्रगतिवाद : परम्परा एवं पृष्ठभूमि

साहित्य में प्रगतिशीलता की अवधारणा

हिन्दी के सुप्रसिद्ध नवगीत-कवि एवं चिंतक राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने प्रगति शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है - " प्रगति एक सापेक्ष अर्थ रखनेवाला शब्द है । किसी युग, राष्ट्र, समाज या व्यक्ति के सम्बन्ध में जब यह शब्द प्रयुक्त होता है, तो एक अवस्था, क्रिया या विचार का दूसरे इन तत्वों का बढ़ जाना ही सामान्य अभिप्राय रहता है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि समय के व्यतीत हो जाने से ही " प्रगति " की संज्ञा सार्थक हो जाती है, प्रत्युत एक स्थिति के कुछ प्रमुख तत्वों का दूसरी में विकास हो जाने से होती है । परिवर्तन ही प्रगति नहीं है, प्रगति की प्रक्रिया में परिवर्तन, विकास या क्रांति घटित हो सकती है । " 1

जाहिर है कि अपने विवेचन क्रम में उन्होंने " प्रगति " को " आगे की गति " के अर्थ में स्वीकारते हुए व्याख्यायित किया है । " प्रगति " शब्द की इसी व्यंजना को स्वीकारने से पूँजीवादी एवं फासीवादी विचारक घबराते रहे हैं । कारण यह है कि " प्रगति " में निहित " अग्रगति " के अर्थ को सिद्धान्त रूप में मान लेने पर उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि पूँजीवादी समाज व्यवस्था भी एक न एक दिन प्रगतिमूलक सामाजिक प्रक्रिया के तहत आदिम समाज, दास - प्रथा वाले समाज, एवं सामंती समाज-व्यवस्था की तरह समाप्त हो जाएगी और इस प्रकार नयी समाजवादी समाज व्यवस्था का उदय संभव है ।

वस्तुत: प्रगति " एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन एवं जगत के प्रत्येक क्षेत्र में हर समय क्रियाशील रही है । यह स्पष्ट है कि समाज में निरंतर विकास हो रहा है तथा इस विकास के क्रम में पुरानी स्थितियों एवं मान्यताओं की जगह धीरे-धीरे नयी स्थितियाँ एवं मान्यताएँ लेती जा रही हैं । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सामाजिकों के द्वारा कोई प्रयास नहीं हो, तो भी

प्रगति होती रहेगी । वस्तुतः प्रगति के लिए प्रयास की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है । इसी कारण जो जाति अपनी प्रगति के लिए प्रयास की गति धीमी कर देती है या प्रयास करना छोड़ देती है, वह धीरे-धीरे या तो भौतिक रूप से विनष्ट होकर जातीय स्मृति का विषय बन जाती है या कालांतर में किसी दूसरी जाति का गुलाम बन जाने को अभिशप्त हो जाती है । इन सबके अति - रिक्त हमें विश्व इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जबकि विजेता जाति ने विजित जाति को सम्पूर्णता के साथ अपने में जज्ब कर लिया है ।

इसी कारण " प्रयास " को " प्रगति " के एक अनिवार्य उपादान के रूप में स्वीकार किया गया है । प्रगति हेतु प्रयास करने के क्रम में प्रयास करने वालों की विचारधारा की भी एक अहम भूमिका होती है और विचार धारा में साहित्य कला आदि का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्वयंसिद्ध हैं । चूँकि कोई विशिष्ट विचारधारा प्रगति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है, इसीलिए स्पष्ट है कि उससे प्रभावित रचना धर्मिता भी प्रगति अथवा प्रति - क्रिया का अस्त्र हो सकती है ।

जब " प्रगति " व प्रतिक्रिया सम्बन्धी धारणाएँ किसी विशिष्ट चिंतन सरणि की मूल दृष्टि के रूप में प्रकट होती हैं तब उसे हम प्रगतिवादी या प्रगति-शील विचार धारा व प्रतिक्रियावादी विचार धारा के रूप में जानते हैं । यदि इन दोनों विचार धाराओं पर हम साहित्यिक रचनाधार्मिता के संदर्भ में विचार करें तो कह सकते हैं कि जो रचनात्मक दृष्टि समाज को उसके स्वस्थ विकास के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है वह प्रगतिशील है और समाज को प्रतिगमिता की ओर ढकेलने वाली रचना दृष्टि प्रतिक्रियावादी है । इसी तथ्य को " प्रगतिशील लेखक संघ " के प्रथम घोषणा पत्र [1936, लखनऊ] में दूसरे शब्दों में रखा गया है - " वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है । हम उसका विरोध करते हैं । वह सब कुछ, जो हममे समीक्षा की प्रवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को

बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मठ बनाता है और हममे संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं। "[2]

" प्रगति " एवं " प्रतिक्रिया " सम्बन्धी दो भिन्न दृष्टिकोणों में ऐसे तो विरोध ही विरोध परिलक्षित होता है, पर हमें इस संदर्भ में हमेशा ध्यान रखना होगा कि " प्रगति एक सापेक्ष अर्थ रखने वाला शब्द है । अत: यह भी हो सकता है कि एकसमय में जो विचार प्रगतिमूलक है उसी का स्वरूप आगे चलकर प्रतिक्रियावादी हो जाए । उदाहरण के लिए किसी परा - धीन राष्ट्र में चूँकि राष्ट्रीयता प्रगतिमूलक होती है, इसलिए वैसे समय में विदेशी साम्राज्यवाद के साथ तमाम मोर्चे पर जूझने वाली राष्ट्रीय शक्तियों को प्रेरित एवं प्रभावित करने के कारण उस देश के सम्पूर्ण राष्ट्रवादी साहित्य की भूमिका भी प्रगतिशील होती है । परन्तु जब किसी स्वतंत्र देश में राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय उद्योगधंधों की वृद्धि के नाम पर मेहनतकश वर्ग को दबाया जाता है, तो उस स्थिति में राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादी हो जाती है और उसकी दुहाई देनेवाला सारा का सारा साहित्य भी प्रतिक्रियावादी हो जाता है ।

डॉ॰रांगेय राघव ने " प्रगति " को मात्र बाह्य न मानते हुए पूर्ण मानवीय प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है । इसीलिए उनकी मान्यता है कि प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड केवल राजनीति में समाप्त नहीं हो जाते वरन् मनुष्य जीवन की व्यापकता का स्पर्श करते हैं ।[3] जाहिर है कि डॉ॰ राघव ने यहाँ सूत्रात्मक शैली में वैसी रचनाधार्मिता का निषेध भी किया है जिसमें प्रगतिशीलता के नाम पर जैसे-तैसे केवल राजनीतिक क्रांतिकारिता को सतही तौर पर उछाला जाता रहा है । वस्तुत: सच्ची प्रगतिशील रचना वह है जिसमें केवल राजनीतिक नारेबाजी की जगह किसी देश या जाति का सम्पूर्ण जनसांस्कृतिक परिबोध एवं परिदृश्य अपनी स्वाभाविकता के साथ अभिव्यक्त होता है । इसके साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि किसी साहित्यिक कृति के

प्रगतिशील होने से पूर्व उसका साहित्य होना प्रथमतः आवश्यक है इसके लिए उसका अनुभूति, भाषा-शैली, घटना विन्यास आदि विभिन्न शिल्पगत तकनीकों की दृष्टि से भी संतुलित होना आवश्यक है। शक्तिशाली प्रतिक्रियावादी लेखक प्रायः इन्हीं क्षेत्रों में दक्ष होने के कारण आम जनता को अपनी कृतियों से प्रभावित कर गुमराह करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो जब कोई कृति " साहित्य " मान ली गई, तभी यह प्रश्न उठता है कि वह प्रगतिवादी है या नहीं ? यदि वह " साहित्य " होने के साथ-साथ प्रगतिशील दृष्टि सम्पन्न भी है, तब उसे श्रेष्ठ साहित्यिक कृति कहा जाएगा जिसे सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक ईपोलित तेन ने दस्तावेज (Document) की जगह स्मारक (Monument) कहा है।[4] इस तथ्य को दूसरे ढंग से टी॰एस॰इलियट ने भी स्वीकार किया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि "साहित्य की महानता का निर्णय केवल साहित्यिक मानदंडों से नहीं हो सकता, यद्यपि हमें स्मरण रखना चाहिए कि कोई रचना साहित्य है या नहीं, इसका निर्णय साहित्यिक मानदण्ड से ही हो सकता है।"[5]

किसी रचना अथवा रचनान्दोलन के रचयिता अथवा सूत्रधारों की नीयत का सही पता उस समय चलता है जब समाज संघर्ष के दौर से गुजर रहा होता है तथा इस क्रम में उसे अपनी सारी शक्ति को एकत्रित करके किसी समस्या के साथ जूझने की आवश्यकता हो रहीं होती है। यदि ऐसे कठिन दौर में रचित साहित्य समाज को सही दिशा निर्देश देने के बजाय संघर्षरत लोगों का ध्यान तत्वहीन, अवांतर एवं उनके लिए अप्रासंगिक बातों की ओर आकृष्ट करें, तो उस साहित्य में शोषक वर्ग के प्रति कोई स्पष्ट पक्षपात न होते हुए भी वह प्रतिगामी प्रवृत्तियों वाला ही कहा जाएगा। संभव है कि वह साहित्य केवल साहित्यिक मानदण्डों की दृष्टि से उत्कृष्ट हो, फिर भी वह कोई महान् साहित्य नहीं होगा। वस्तुतः साहित्य के महान् होने के लिए उसमें साहित्यिकता के अतिरिक्त और भी गुणों का होना जरूरी है। प्रेमचन्द के शब्दों में यदि कहें तो महान् साहित्य और कदाचित प्रगतिशील साहित्य भी वहीं

होगा " जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो । जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे । "[6]

कहा गया है कि कोई सत्य नया नहीं होता अपितु सत्य का साक्षात्कार नया होता है । इस दृष्टि से विचारने पर हम पाते हैं कि यद्यपि प्रगतिवादी सिद्धांतों एवं उसकी व्याख्या तथा विश्लेषण सम्बन्धी सूत्रों की रचना आधुनिक काल में हुई है परन्तु यह सच है कि प्रगतिमूलक प्रक्रियाएँ इतिहास के प्रत्येक काल खण्ड में अपने ढ़ंग से घटित होती रही हैं । फिर भी एक बात महत्वपूर्ण है कि जहाँ पहले परिवर्तन मात्र को ही " प्रगति " समझ लिया जाता था । वहाँ आज प्रगतिशीलता सामाजिक तथा राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है ।[7] दूसरे शब्दों में यदि हम कहें तो आज हम इतिहास की गति का वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत विवेचन-विश्लेषण करने में समर्थ हैं और यह कहीं न कहीं मानव की चेतना एवं चिंतन क्षमता की प्रगति का भी सूचक है । साहित्य के क्षेत्र में भी आज हम किसी रचना व रचनाकार को तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति के साथ ही इतिहास की धारा में सापेक्ष्य रूप में रखकर उनकी समीक्षा करते हैं ।

वैचारिक गद्य लेखन में प्रगतिशीलता का अभ्युदय :

यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि हिन्दी में प्रगतिशील लेखन की नींव समाजवादी विचारधारा से प्रभावित रचनाकारों द्वारा डाली गई और भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना एवं " प्रगतिशील लेखक संघ " के गठन के बाद एक लम्बे समय तक इस विशिष्ट रचना धर्मिता की दिशा वामपंथी पार्टियों की नीतियों से प्रभावित होती रही है ।

वस्तुत: हिन्दी रचनाशीलता के क्षेत्र में प्रगतिशीलता का अभ्युदय हिन्दी प्रदेश में समाजवादी चेतना के प्रचार-प्रसार का रचनात्मक प्रतिफलन था जिसके मूल में सन् 1917 की " बोल्शेविक क्रांति " के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । बोल्शेविक क्रांति का न केवल हिन्दी क्षेत्र अपितु भारत के अन्य प्रदेशों के साथ-साथ एशिया के दूसरे देशों की राजनीतिक चेतना पर भी गहरा प्रभाव पड़ा था । " किन्तु यह प्रभाव सभी देशों में एकसा नहीं था, भारत के सभी प्रदेशों में एक-सा नहीं था । इसका कारण यह है कि विभिन्न देशों में पूर्ववर्ती राजनीतिक चेतना एक-सी नहीं थी, जहाँ जैसी राजनीतिक चेतना थी, उसी के अनुरूप जनता के आगे बढ़े हुए लोगों ने रूसी क्रांति का प्रभाव ग्रहण किया ।" [8]

डॉ॰रामविलास शर्मा ने भारत में समाजवादी चेतना के अभ्युदय को भारतीय स्वाधीनता संग्राम की देन के रूप में स्वीकार करते हुए उसे साम्राज्य - विरोधी चेतना का अभिन्न अंग बतलाया है तथा इस चेतना को त्वरा प्रदान करने हेतु विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों के साथ ही इस संदर्भ में हिन्दी पत्रकारों एवं साहित्यकारों के महत्वपूर्ण योगदान की सराहना की है । उनका आक्षेप है कि भारत के संदर्भ में साम्यवादी आन्दोलन के राजनीतिक एवं सांस्कृ - तिक पहलुओं को इतिहासबद्ध करने वाले विद्वानों ने केवल अंग्रेजी में प्राप्त सामग्री का उपयोग करते हुए इस क्षेत्र में विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों के ऐति - हासिक अवदान की जाने-अनजाने उपेक्षा की है । [9]

जाहिर है कि " प्रगतिशील लेखक संघ " के विधिवत गठन [1936] से पूर्व रचित विभिन्न आलेखों एवं कृतियों पर यदि समाजवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है तो यह बहुत हद तक अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि उसके लगभग दस वर्ष पूर्व भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी । किन्तु इस संदर्भ में विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना से भी पूर्व रचित अनेक हिन्दी-कविताओं, काव्य - कृतियों एवं गद्य कृतियों तथा रूसी क्रांति से भी पूर्व रचित विभिन्न वैचारिक

आलेखों एवं पुस्तिकाओं पर समाजवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव मौजूद है । इससे साफ जाहिर है कि हिन्दी क्षेत्र में रूसी क्रांति के पहले से ही समाजवादी चेतना का प्रचार-प्रसार आरंभ हो चुका था जो डॉ॰शर्मा के शब्दों में " साम्राज्य विरोधी चेतना के प्रसार की अगली कड़ी थी ।

वस्तुत: भारत में साम्राज्य-विरोधी संघर्ष साम्राज्यवादियों के भारत आगमन के साथ ही शुरू हो गया था, कम-से-कम आम जनता ने उसके प्रभुत्व को स्वीकार नहीं किया । यह संघर्ष विभिन्न अवस्थाओं से होकर कई दौरों में विकसित हुआ । इस संघर्ष की पूरी श्रृंखला को ध्यान में रखते हुए डॉ॰शर्मा ने " गदर " [1857] की परम्परा का जो विवेचन और मूल्यांकन किया है, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है । अपने विवेचन क्रम में उन्होंने सन् 1857 के " गदर " की परम्परा से " गदर पार्टी " और क्रांतिकारी आन्दोलन की अन्य धाराओं का सम्बन्ध भी बताया है । उनके इस विवेचन के आलोक में विचार करने से स्पष्ट होता है कि कांग्रेस के सुधारवादी नेतृत्व में जो राष्ट्रीय आन्दोलन चला रहा था उसका विकल्प ढूँढ़ने वाले तमाम देशभक्तों ने सन् 1857 की राज्य-क्रांति से प्रेरणा ली । यह पूरी परम्परा किसानों और मजदूरों के आन्दोलन में नये स्तर पर विकसित हुई, यही आधार है इसके द्वारा क्रांति - कारी वैकल्पिक मार्ग की तलाश किये जाने का । इस परम्परा के प्रति कौन कैसा रूख अपनाता है इसे डॉ॰शर्मा बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं । [10]

हिन्दी क्षेत्र में समाजवादी आन्दोलन के राजनैतिक एवं साहित्यिक सांस्कृतिक पहलुओं का विवेचन करते हुए डॉ॰रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक " भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद " में " हिन्दी प्रदेश में समाजवादी चेतना का प्रसार " शीर्षक प्रकरण के अन्तर्गत इस संदर्भ में गहरी छानबीन करते हुए जिस दुर्लभ साहित्यिक सामग्री को खोजकर अपने तार्किक विश्लेषण के साथ पहली बार समवेत रूप से सुलभ कर दिया है उससे गुजरते हुए सर्वप्रथम हमारे समक्ष रूसी

क्रांति से पूर्व के पत्रकारों एवं वैचारिक गद्य लेखकों का महत्वपूर्ण अवदान उपस्थित होता है । इस क्रम में प्रथमत: मई 1907 को सरस्वती में माधवराव सप्रे द्वारा लिखित " हड़ताल " शीर्षक निबंध उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने मजदूरों को हड़ताल पर जाने के लिए बाहय कर देने वाली परिस्थितियों का खुलासा करते हुए लिखा था - " कोई कहते हैं कि, इस समय हिन्दुस्तान में हड़तालों की बीमारी फैली है, कोई कहते हैं कि, हड़तालों का वास्तव सम्बन्ध, औद्योगिक और आर्थिक विषयों ही से है । जब किसी देश की सम्पत्ति थोड़े से पूँजीवालों के हाथ में आ जाती है और अन्य लोगों को मजदूरी से अपना निर्वाह करना पड़ता है, तब पूँजीवाले अपने व्यापार का सब नफा स्वयं आप ही ले लेते हैं, और जिन लोगों के परिश्रम से यह सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है, उनको वे पेट भर खाने को नहीं देते । ऐसी दशा में श्रम करने वाले मजदूरों को हड़ताल करनी पड़ती है । " [11] जाहिर है कि यहाँ लेखक ने पूँजीपति वर्ग की मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए अपने विवेचन क्रम में " हड़ताल " को मजदूर वर्ग द्वारा अपने वर्गहित में इस्तेमाल किये जानेवाले प्रभावशाली अस्त्र के रूप में रेखांकित किया है । अपने इस आलेख में आगे सप्रे जी जब ऐसी स्थिति में " हड़ताल " के औचित्य को पुष्ट करते हुए लिखते है कि " प्राय: लोग हड़ताल की निंदा करते हैं और मजदूरों पर दोष लगाते हैं । परन्तु स्मरण रहे कि, यद्यपि हड़ताल से कारखाने वालों और मजदूरों का बहुत नुकसान होता है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि मजदूरों को अपने स्वत्व की रक्षा करने का पूरा अधिकार है । " [12] तो इससे उनकी वर्ग चेतना एवं पक्षधरता का साफ-साफ पता लग जाता है ।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उस जमाने के तमाम हिन्दी लेखक वामपंथी विचारधारा को पूर्णत: अपना चुके थे । उदाहरणार्थ सन् 1908 में कलकत्ता से प्रकाशित राधामोहन गोकुलजी की " देश का धन " शीर्षक पुस्तिका विचारणीय है जिसमें यद्यपि " समाजवादी विचारधारा की अनेक आधरभूत बातें विद्यमान हैं " [13] लेकिन वहाँ मजदूर वर्ग की जीवन दशा सुधारने के

लिए पूँजीपतियों से भलमनसी की नैतिक अपील मिलती है, मजदूरों की हड़ताल का सुझाव या संकेत नहीं । कहना न होगा कि माधवराव सप्रे की तुलना में राधामोहन गोकुल जी में बूर्जुआ राष्ट्रवाद अधिक था, वर्गचेतना बहुत कम ।[14]

सन् 1857 के " सिपाही विद्रोह " या " गदर " को अनेक विद्वानों ने भारत के प्रथम राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के रूप में रेखांकित किया है । यदि हम इस बात को अक्षरश: स्वीकार न भी करें तब भी हमें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भारत के स्वाधीनता संघर्ष में सन् 1857 का वर्ष वह प्रस्थान बिन्दु है जिसके बाद से एक बड़े पैमाने पर ब्रिटिश शासकों की साम्राज्यवादी नीतियों की आलोचना प्रत्यालोचना का क्रम आरंभ हो गया था और तत्कालीन शिक्षित मध्यवर्ग के राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों ने अंग्रेजी सरकार की शोषणमूलक नीतियों की खुलकर आलोचना शुरू कर दी थी । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में सक्रिय राष्ट्रीय नेताओं द्वारा विभिन्न मुद्दों पर की जानेवाली टिप्पणियों से जिस राष्ट्रवादी आलोचना का अभ्युदय हुआ उसकी परम्परा ही " देश का धन " अथवा उसी वर्ग प्रकाशित महावीर प्रसाद द्विवेदी की " सम्पत्तिशास्त्र " नामक पुस्तक के विवेच्य के रूप में अभिव्यक्त हुई है । इन पुस्तकों के प्रकाशन से पूर्व भारतेन्दु रचित विभिन्न नाटकों, प्रहसनों एवं आलेखों में भी हमें साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ अनेक बातों की स्पष्ट झलक मिल जाती है ।

वस्तुत: 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन " साम्राज्य विरोधी " एवं " सामंत विरोधी " जैसे दो मोर्चे पर सक्रिय था तथा इस आन्दोलन को अपेक्षित गति प्रदान करने के लिए इन दोनों ही मोर्चे पर सक्रिय आन्दोलन कारियों एवं नेताओं का एक झंडे तले आना अत्यावश्यक था । जबकि स्थिति विपरीत थी । साम्राज्यवाद के उग्र विरोधी यदि सामंतवाद के पक्षधर थे तो सामंतवाद के अनेक विरोधियों को ब्रिटिश साम्राज्य -

वाद से देश का बहुत कुछ अहित होता नहीं दिख रहा था । इस दूसरे वर्ग को अंग्रेजों की उदारता एवं न्यायनिष्ठा पर काफी हद तक भरोसा था और इसी कारण इस वर्ग के लोगों ने सन् 1857 के विद्रोह को कभी औचित्यपूर्ण नहीं माना ।

सामाजिक एवं राजनीतिक सरोकार की दृष्टि से सन् 1905 तक की सरस्वती का सम्बन्ध उस शिक्षित जनता की आकांक्षाओं से था जो विदेशी शासन के संदर्भ में विद्रोह की जगह सुधारवादी नीतियों की समर्थक थी । अत: ऐसी दृष्टि से परिचालित पत्रिका के आरंभिक अंकों में यदि अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष करनेवाले भारतीय राजाओं, नवाबों एवं क्रांतिकारियों की खबर ली गई है तो यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है । इस संदर्भ में जनवरी 1904 ई॰ की सरस्वती में पण्डित दत्तात्रेय बलवंत पारसीन कृत रानी लक्ष्मीबाई के जीवन-चरित के संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित एक लम्बी टिप्पणी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं - " सतारा के रहने वाले पण्डित दत्तात्रेय बलवंत पारसीन ने मराठी में रानी लक्ष्मीबाई का चरित लिखकर बड़ा काम किया है । इसमें सब बातें प्रमाणपूर्वक लिखी गई हैं । लेखक ने इसमें यह दृढ़तापूर्वक सिद्ध कर दिया है, कि 1857 ई॰ के बलवें में अंगरेजों का जो वध, झाँसी में हुआ था उससे रानी लक्ष्मीबाई का कुछ भी सम्बन्ध न था । इस पुस्तक को पढ़कर लक्ष्मीबाई का अतुल पराक्रम, उनका अतुल धैर्य और उनकी अतुल वीरता आँखों के सम्मुख आ जाती है । " [15]

जाहिर है कि उपर्युक्त पंक्तियों से जाने-अनजाने द्विवेदी जी का सन् 1857 में घटित विद्रोह के प्रति रूख स्वत: स्पष्ट हो जाता है । इतना ही नहीं सन् 1904 के अप्रैल अंक में यदि " शिवाजी को अंग्रेजों का गहरा दोस्त " [16] बताया गया है तो इसी वर्ष के अक्तूबर अंक में " विविध विषय " के अन्तर्गत 1857 ई॰ में कानपुर की घटना पर की गई टिप्पणी में नाना साहब एवं तात्या -

टोपे को " चाण्डाल " कहा गया है । [17] आगे अपनी इसी टिप्पणी में द्विवेदी जी एक अंग्रेज की जान बचाने के उपलक्ष्य में अंग्रेजी शासन द्वारा मुरा-रिमऊ के राजा को बहुत सा इलाका दिये जाने की प्रशंसा भी करते हैं । [18] इसी प्रकार सन् 1905 की सरस्वती में द्विवेदी जी लार्ड कर्जन के बंग-भंग पर टिप्पणी करते हुए यदि एक ओर उसे बंगाल के दो टुकड़े करके बङ्गवासियों के जातीय बल को कम कर देने की साजिश मानते हैं तो दूसरी ओर इसे राष्ट्रीय जागृति में सहायक भी मानते हैं । [19]

किन्तु सन् 1906 से सरस्वती का स्वर बिल्कुल बदला बदला-सा प्रतीत होता है । जिस पत्रिका ने कभी अपने पूर्ववर्ती अंकों में अंग्रेजी शासन की न्यायप्रियता की जय-जयकार की थी उसी के जनवरी 1906 अंक में " वन्देमातरम् " गीत संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी में प्रकाशित किया गया जो उस समय देशप्रेम का प्रतीक था । वस्तुत: इसके बाद " सरस्वती " ने साम्रा-ज्यवाद विरोधी रुख अख्तियार कर लिया जिसका प्रमाण है इसके बाद के अंकों में अंग्रेजी शासन की नीतियों पर विरोधी आलोचनात्मक टिप्पणियों का लगातार प्रकाशन । इस संदर्भ में दिसम्बर 1906 ई॰ की सरस्वती में द्विवेदी जी द्वारा लिखित टिप्पणी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिसमें उन्होंने अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इतिहास के अन्यथाकरण किये जाने पर क्षोभ व्यक्त करते हुए बंगला में सिराजुद्दौला का जीवन-चरित लिखकर सच्चाई को सामने लाने के लिए बाबू अक्षय कुमार मैत्रेय की भूरि-भूरि प्रशंसा की है - " अंग्रेज और कुछ हिन्दु-स्तानी लेखकों ने भी सिराजुद्दौला को काम कर्दम का कीड़ा, निर्दयता का समुद्र, दुर्व्यसनों का शिरोमणि, अर्थलोलुप और नरपिशाच आदि मधुरिमामय विशेषणों से विभूषित किया है । पर बाबू अक्षय कुमार मैत्रेय ने बंगला में सिराजुद्दौला का जीवन चरित लिखकर उसकी इस कलंक कालिमा को धोकर प्राय: बिल्कुल साफ कर दिया है । इस किताब को पढ़ने से यह धारणा होती है कि सिराजुद्दौला के समान सहनशील, राजनीतिज्ञ, बात का सच्चा, निर्भय शांतिप्रिय और रक्तपातद्वेषी शायद ही और कोई राजा या बादशाह हुआ हो ।

प्राय: सब कहीं अंग्रेजों ही के लोभ, प्रतिज्ञा-भंजन अन्याय परक प्रतिहिंसक स्वभाव, अनाचार विश्वासघात आदि का परिचय मिलता है । इस पुस्तक में यह बात खूब दृढ़ता से साबित की गई है कि कलकत्ते के अन्धकूप अर्थात कालकोठरी या ब्लैकहोल की हत्या की कहानी बे-सिरपैर का एक औपन्यासिक गठन मात्र है । उसका कहीं इतिहास में पता नहीं है । अंग्रेज वणिकों के अत्याचार के कारण जब विलायत में हाहाकार और थू-थू होना शुरू हुआ तब उस बात को भुला देने और ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों के अपराध की गुरुता कम करने के इरादे से हालवेल साहब ने इस झूठी कहानी की सृष्टि की । इस बात को मैत्रेय साहब ने सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा की है और उस समय के अंग्रेजी कागज पत्रों से यह साबित किया है कि हालवेल साहब अन्यथावादी और घूस - खोर था । " 20

डॉ ॰रामविलास शर्मा ने हिन्दी क्षेत्र में समाजवादी चेतना का प्रचार-प्रसार करने वालों में गणेश शंकर विद्यार्थी को अन्यतम माना है । वस्तुत: साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के दरम्यान हिन्दी क्षेत्र ने जिन सपूतों को जन्म दियाउनमें विद्यार्थी जी का नाम अग्रगण्य है । वे सन् 1925 में कानपुर में आयोजित भारत के विभिन्न कम्युनिस्ट गुटों के प्रथम सम्मेलन के आयोजकों के साथ भी थे । यह सर्वविदित तथ्य है कि वे कानपुर में भड़क उठे हिन्दू-मुस्लिम दंगे को रोकने की कोशिश में मारे गए थे । गाँधीवादी होते हुए भी विद्यार्थी जी का साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में कई मुद्दों पर गाँधीजी के साथ गहरा मतभेद था । इसीलिए वे इस क्रम में " प्रताप " के माध्यम से भारतीय जमींदारों ताल्लुकेदारों के साथ गाँधी जी की सहयोग की नीति का अनुसरण न करते हुए किसानों पर देशी सामंत वर्ग के शोषण-उत्पीड़न के विरूद्ध किसान-संघर्षों को समर्थन दे रहे थे । इन सबके अतिरिक्त सन् 1919 में देशव्यापी मजदूर आन्दोलन के दरम्यान वे कानपुर के सूती मिल-मजदूरों की लम्बी हड़ताल के संगठन कर्ताओं में भी एक थे । विद्यार्थी जी का समाजवादी दृष्टिकोण

विभिन्न राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में सरस्वती, प्रताप आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके अनेकानेक आलेखों एवं टिप्पणियों से सम्पूर्णता के साथ उजागर होता है । इस दृष्टि से सन् 1912 की सरस्वती में प्रकाशित " शांति का सार्व भौमिक राज " शीर्षक उनका आलेख अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने सभी राष्ट्रों की बराबरी की घोषणा करते हुए संसार में शांति कायम किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया था । डॉ॰रामविलास शर्मा ने इस संदर्भ में साफ लिखा है कि " साम्राज्यवादी युद्ध बंद हो, नर संहार बंद हो, यह माँग साधारण मानवतावाद की थी और समाजवाद की थी । इसलिए सरस्वती में युद्ध और शांति को लेकर जो कुछ लिखा गया, वह समाजवाद से नितांत असम्बद्ध नहीं है । " 21

जो लोग विद्यार्थी जी को कांग्रेसी समझते है वे यह नहीं देखते कि उन्होंने एक भी ऐसा प्रस्ताव नहीं रखा जो कांग्रेसियों के कार्यक्रमों से मेल खाता हो । जो उन्हें गाँधीवादी समझते हैं , वे यह नहीं देखते कि उनका न ट्रस्टीशिप में विश्वास था न उस स्वराज के ढकोसले में, जिसका कोई सम्बन्ध श्रमजीवी जनता से न था जो उन्हे बुर्जुआ उदारवादी समझते हैं वे यह नहीं देखते कि शिक्षा, कृषि, रोजगार, साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष, इतिहास चेतना, दर्शन आदि किसी भी क्षेत्र में उदारवाद से उनका कोई लेना-देना नहीं है । वस्तुत: वे जनता के जनवादी वर्चस्व के विचारक थे । 22

यद्यपि महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा समय-समय पर अनेकानेक विषयों एवं संदर्भों को मद्देनजर रखते हुए लिखित विभिन्न आलेखों एवं टिप्पणियों से स्पष्ट होता है कि वे विद्रोही स्वभाव के व्यक्ति नहीं थे, परन्तु इसके साथ ही यह भी सच है कि जो बात या गतिविधि उनके अपने मानदण्डों एवं नैतिक मूल्यों की कसौटी पर खरीनहीं उतरती थी, वे उसकी कटु आलोचना करने से भी नहीं चूकते थे । इस दृष्टि से " सरस्वती " के जुलाई 1914 ई॰ अंक में

" देश की बात " शीर्षक उनकी टिप्पणी की कुछ पंक्तियाँ ध्यातव्य है ं -
" आजकल देशभक्ति, देशहित और देशप्रेम आदि शब्द बहुत अधिक सुनाई पड़ते हैं । यदि देशभक्ति का अर्थ देश में रहनेवालों पर भक्ति करने से है तो देशवासियों में अधिक संख्या किसानों ही की है । परन्तु देश की उन्नति के लिए अबतक जो प्रयत्न किया गया है और इस समय भी जो किया जा रहा है उसके कितने अंश का सम्बन्ध किसानों से है ? कांग्रेस के जो प्रतिनिधि इस समय विलायत की हवा खा रहे हैं, वे इन लोगों की कौन-कौन सी शिकायत सुनाने के इरादे से वहाँ गए हैं ? यदि कृषकों से लगान मिलना बंद हो जाए तो बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और ताल्लुकेदारों की दुर्गति का ठिकाना न रहे । सरकार के शासन चक्र का चलना बंद हो जाए, वकीलों और बैरिस्टरों के गाड़ी-घोड़े बिक जायँ और व्यापारियों तथा महाजनों को शीघ्र ही टाट उलटना पड़े । किसानों की संख्या जिस देश में कुद आबादी की 3/4 हो उनकी उन्नति की कुछ भी चेष्टा न करके देशभक्ति और देशप्रेम का नाम लेना इन शब्दों की विडम्बना करना है । " 23

जाहिर है कि द्विवेदी जी ने यहाँ किसानों को देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी के रूप में स्वीकारते हुए उनके प्रति अपनी पक्षधरता को साफ-साफ अभिव्यक्त किया है । इसके साथ ही लेखक ने यहाँ किसानों की दुर्दशा से मुक्ति के लिए केवल स्पीच झाड़कर अपने कर्त्तव्य की इति समझ लेने वाले तत्कालीन कांग्रेसी नेतृत्व की भी खुलकर आलोचना की है । परन्तु इसके साथ ही यह एक कटु सत्य है कि द्विवेदी जी के तमाम लेखन में एक-आध अपवाद को छोड़कर सामान्य किसानों एवं जमींदारों के परस्पर हित-विरोध की चर्चा की जगह दोनों के समान हित को ही रेखांकित किया गया है । अपनी पुस्तक " सम्पत्तिशास्त्र " में उन्होंने भूमि सम्बन्धों में जिस " इस्तमरारी बंदोबस्त " को आदर्श माना है, वस्तुत: वह जमींदारी व्यवस्था का ही आदर्श है ।

इसी प्रकार सरस्वती में भी उन्होंने भारतीय कृषि व्यवस्था एवं कृषि के आधुनिक यंत्रों की चर्चा करते हुए जमींदारी प्रथा का कहीं भी स्पष्ट विरोध नहीं किया है । अतः स्पष्ट है कि वे तत्कालीन सामाजार्थिक संरचना के अन्तर्गत ही कृषि सम्बन्धी आधुनिक आविष्कारों का लाभ कृषकों को दिलाना चाहते थे । कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि यह द्विवेदी जी के सुधारवादी चिंतन की सीमा है ।

इससे विलग " सरस्वती " के सन् 1914 के जून अंक में प्रकाशित जनार्दन भट्ट के " हमारे गरीब किसान और मजदूर " शीर्षक आलेख से गुजरने पर हमें वहाँ लेखक की वर्गचेतना का साफ-साफ पता चलता है । जब भट्ट जी अमीर और गरीब की भिन्न वर्गस्थितियों को स्पष्ट करने के बाद दोनो वर्गों के बीच उत्पन्न आर्थिक विषमता के कारणों का खुलासा करते हुए लिखते हैं कि " योरप और अमरीका के मजदूर इस अन्याय और भेद को मनुष्य का किया हुआ मानते हैं " 24 तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन के प्रति उनकी सजगता का साफ पता चलता है । भारत के संदर्भ में वे निम्न वर्ग की अशिक्षा, उनके बीच प्रचलित अंध - विश्वास एवं संगठनहीनता आदि को उसके शोषण के मूल कारणों के रूप में रेखांकित करते हैं । इसके साथ ही उन्होंने अपने आलेख में सामाजिक परिवर्तन में मध्यवर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका को भी विस्तार से चर्चा की है जिससे उनकी वैज्ञानिक समझ एवं समाजवादी रूझान का पता चलता है ।

वीरभारत तलवार ने जनार्दन भट्ट से स्वयं लिए गए एक साक्षात्कार के हवाले से सूचना दी हैं कि " सरस्वती " में प्रकाशित भट्ट जी का आलेख वस्तुतः उन दिनों अमरीका में रह रहे लाला लाजपत राय को " मॉडर्न रिव्यू " नामक अंग्रेजी पत्रिका में प्रकाशित एक लेखमाला से सामग्री लेकर लिखा गया था । इस संदर्भ में उनकी टिप्पणी बिल्कुल सही है कि " इससे यह पता चलता है कि सन् 1914 के आसपास साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में शामिल नयी पीढ़ी के

तरूणों को किस प्रकार के विचार आकर्षित कर रहे थे। जिस पीढ़ी के तरूण वर्ग ऐसी वर्ग चेतना वाले लेखों से आकर्षित हो रहे थे, वह पीढ़ी महज तीन साल बाद आनेवाली बोल्शेविक क्रांति के संदेश का स्वागत करेगी, यह बात सन् 1914 में तय हो चुकी थी। " 24

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हम कह सकते है कि हिन्दी क्षेत्र में समाजवादी चेतना का प्रसार एवं हिन्दी में वैचारिक गद्य लेखन के क्षेत्र में समाजवादी प्रवृत्तियों का अभ्युदय बीसवीं सदी के प्रथम एवं द्वितीय दशक में जिन पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा व्यक्त हो रहा था उनमें " सरस्वती " का नाम कनिष्ठकाधिष्ठित है। साहित्यिक रूचियों की दृष्टि से सरस्वती में रीति - कालीन काव्य-रूचियों का तनाव व्यक्त हुआ है। इन रूचियों की प्रच्छन्न आलोचना एवं मध्ययुगीन काव्य-रूचि वाली कृतियों की प्रासंगिकता पर प्रश्न - चिह्न लगाने वाले अनेकानेक आलेखों एवं टिप्पणियों को उसके विभिन्न अंकों में देखा जा सकता है। इसके साथ ही इन रूचियों एवं मूल्यों को पछाड़ने के लिए वहाँ वैज्ञानिक तथ्य एवं सामग्री भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि बीसवीं सदी के प्रथम दशक में सरस्वती के माध्यम से पत्रकारिता ने साहित्य का नेतृत्व करते हुए उस आधुनिक हिन्दी साहित्य की नींव डालने का सफल प्रयास किया जिसमें प्रगतिशीलता एवं समाजवादी विचारधारा के तत्व अपने बीज रूप में विद्यमान थे। इस क्रम में " सरस्वती " के अतिरिक्त जिन पत्रिकाओं की ऐतिहासिक भूमिका को वामपंथी साहित्य चिंतकों ने खुलेमन से स्वीकारा है उनमें " प्रताप ", " मर्यादा ", " विक्रम " मतवाला आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वस्तुत: इन पत्रिकाओं में उन दिनों प्रकाशित होनेवाली रचनात्मक एवं आलोचनात्मक सामग्री को हम हिन्दी क्षेत्र में समाजवादी चेतना के प्रसार की प्रक्रिया का दस्तावेज कह सकते हैं जिससे गुजरे बिना भारत में समाजवादी राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन का प्रामाणिक इतिहास लेखन असंभव है। सुखद है कि डॉ॰रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक " भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद " में इस संदर्भ में अपने विश्लेषण के साथ

हिन्दी पाठकों के लिए अत्यंत दुर्लभ सामग्री को सुलभ कर दिया है। उपर्युक्त पत्रिकाओं के अतिरिक्त लेखक ने वहाँ इस संदर्भ में जिन पुस्तक-पुस्तिकाओं का विस्तार से जिक्र किया है उनमें "त्रिशूल तरंग" (काव्य, मार्च 1919, गया प्रसाद शुक्ल सनेही), "साम्यवाद - 1" और "साम्यवाद - 2" (दिसम्बर 1919, रामचन्द्र वर्मा) "रूस की राज्यक्रांति" (1920 ई॰ रमाशंकर अवस्थी), "राष्ट्रीय मंत्र" (काव्य, 1921, रमाशंकर अवस्थी) "भारतीय श्रमजीवियों को संदेश" तथा "बोल्शेविज्म क्या है" (1924, सत्यभक्त) कम्युनिज्म क्या है (1925 में लिखित एवं सन् 1927 में प्रकाशित राधामोहन गोकुल जी) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तक-पुस्तिकाओं की विषयवस्तु एवं इनके लेखकों के समाजवादी उद्देश्य की विशद चर्चा डॉ॰शर्मा ने अपने ग्रंथ में की है। अत: यहाँ उन्हें दोहराना अनावश्यक होगा।

प्रगतिशील लेखक संघ का गठन :-

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के अंतिम चरण में हमें भारतीय राजनीति में नये एवं पुराने विचारों वाले नेतृत्व वर्ग के बीच एक तनाव एवं विरोध की स्थिति दिखाई देती है जिसकी परिणति कालांतर में नये विचारों वाले लोगों द्वारा पुरातन पंथियों को पराजित कर कांग्रेस अध्यक्ष पद पर जवाहर लाल नेहरू को प्रतिष्ठित किये जाने की घटना के रूप में सामने आयी। सन् 1929 में नेहरू जी ने कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष पद से दिये गये अपने भाषण में ब्रिटेन के भारत सचिव कैप्टन वेजवुडवेन के "कार्यरूप में डोमीनियन स्टेट्स" को अपने सबके लिए जाल बताते हुए कहा कि "आज हमारा सिर्फ एक लक्ष्य है, स्वाधीनता का लक्ष्य। हमारे लिए स्वाधीनता के माने हैं ब्रिटिश आधिपत्य और ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण स्वतंत्रता"। अपने व्याख्यान में नेहरू जी ने यह भी कहा कि "वे समाजवादी एवं गणतंत्रवादी हैं।" 25

जिस प्रकार तीसरे दशक के अंतिम चरण में नेहरू जी के नेतृत्व में कांग्रेस को एक नयी दिशा एवं नया संबल प्राप्त हुआ उसी प्रकार सन् 1929 में ही " हिन्दी साहित्य सम्मेलन " को भी इसके नये अध्यक्ष श्री गणेश शंकर विद्यार्थी एवं प्रचारमंत्री श्री रामवृक्ष शर्मा " बेनीपुरी " का सबल नेतृत्व प्राप्त हुआ । विद्यार्थी जी एवं बेनीपुरी जी का साहित्य सम्मेलन के पदाधिकारी के रूप में चुना जाना वस्तुत: उस संघर्ष का सकारात्मक परिणाम था जो सन् 1928 में ही पुराने एवं नये स्कूल के प्रतिनिधियों के बीच मुखर रूप ले चुका था । [26] किन्तु दुर्भाग्यवश मार्च 1931 में कानपुर के साम्प्रदायिक दंगे में विद्यार्थी जी मारे गये और पुन: साहित्य सम्मेलन में पुरातन पंथियों की तूती बोलने लगी । न केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन बल्कि उस समय का रचनात्मक परिवेश भी कमोवेश पुरातनपंथी प्रवृत्तियों से ही परिचालित था । इस तथ्य की पुष्टि जवाहरलाल नेहरू के उस वक्तव्य से भी होती है जो उन्होंने बनारस के " रत्नाकर रसिक मंडल " द्वारा आयोजित अपने एक अभिनंदन समारोह के बारे में दिया है - " हिन्दी लेखकों को यह कोशिश करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा लिखें जिसे लोग समझ सकें । आजकल हिन्दी में जो क्लिष्ट और आलंकारिक भाषा इस्तेमाल की जाती है उसमें कठिन बनावटी और पुरानी शैली के संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है । यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत संकुचित एवं दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है मानों हिन्दी के लेखक और पत्रकार एक दूसरे के लिए और एक छोटे से दायरे के लिये लिखते हों । [27]

अपने इसी व्याख्यान में नेहरू जी ने पुरातनपंथी रचनाकारों की भारतमाता सम्बन्धी कवि-कल्पना की बखिया उधेरते हुए कहा था --

" यह एक अजीब बात है कि देश को मानव रूप में मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक नहीं सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड़ गयी है और पहले के संस्कार भी ऐसे ही हैं। भारत "भारतमाता " बन जाती है - एक सुंदर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी देखने में युवती, जिसकी आँखों में दुःख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और प्रपीड़ित, और अपने पुत्र-पुत्रियों को अपनी रक्षा के लिए अन्तःस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हजारों लोगों की भावनाओं को उभार देता है और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिये प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यतः उन किसानों और मजदूरों का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नहीं है, क्योंकि गरीबी खूबसूरत नहीं होती। क्या वह सुंदर स्त्री, जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नंगे बदन और झुकी कमर वाले, खेतों और कारखानों में काम करने वाले किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती है? या उन थोड़े से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से जनता को कुचला और चूसा है, उस पर कठोर से कठोर रिवाज लाद दिये हैं और उसमें से बहुतों को अछूत तक करार दे दिया है? हम अपनी काल्पनिक सृष्टि से सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत में अपने को बचाकर सपनों की दुनिया में विचरने का यत्न करते हैं। " [28]

कहना न होगा कि तत्कालीन अंधपरम्परावादी एवं पुरातनपंथी साहित्यकों के प्रति जवाहरलाल नेहरू का यह आक्रोश शत-प्रतिशत औचित्यपूर्ण था। वस्तुतः ऐसे ही पुरातनपंथी साहित्यकों के कारण उस समय के प्रगतिशील प्रवृत्तियों वाले नये रचनाकार उपेक्षित हो रहे थे। दिनकर की शब्दावली में ये " सिंहासनस्थ वृद्ध साहित्यिक " अपने वर्गहित एवं अहं के आगे नवीन भावबोध सम्पन्न रचनाकारों को तनिक भी महत्व देने को तैयार न थे। अतः ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति में नये साहित्यकों द्वारा अपनी प्रगतिशील विचारधारा एवं नवीन भावबोध सम्पन्न रचनाओं के प्रचार-प्रसार के लिए एक स्वतंत्र मंच स्थापित करने की बात सोचना बिल्कुल स्वाभाविक था।

डॉ॰रेखा अवस्थी ने इस संदर्भ में ठीक लिखा है कि " सन् 30 के आसपास तरूण साहित्यकारों पर यह जिम्मेदारी आ गई थी कि वे राष्ट्रीयता के वर्गस्वरूप की पहचान करें, जनवादी राष्ट्रीयता " और " हिन्दू पुनरूत्थान - वादी राष्ट्रीयता " में फर्क समझें और समझाएँ । इस जिम्मेवारी के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा हिन्दी साहित्य सम्मेलन उपस्थित करता था और उस " सम्मेलन के प्राण " राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन थे । न केवल साहित्य और शिक्षा के विभिन्न संगठनों पर वे छाये हुए थे बल्कि कांग्रेस के भीतर भी उन्हें नेतृत्व मिल गया था । " 29

इस विडम्बनापूर्ण स्थिति में सन् 1935 में जब लंदन में रह रहे समाज - वादी विचारधारा से प्रभावित कुछ भारतीय युवा बुद्धिजीवियों ने एक बैठक करके " भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ " की स्थापना की तथा उसे " वर्ल्ड कांग्रेस औव राइटर्स फार द डिफेंस औव कल्चर " नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से अंगीभूत कराने की सदिच्छा के साथ अपने संगठन के घोषणपत्र की प्रतियाँ तमाम प्रमुख भारतीय लेखकों के नाम भेजी तो उन्हें इस संदर्भ में भारतीय लेखकों से अत्यधिक सहानुभूति प्राप्त हुई । वस्तुत: लंदन प्रवासी थे भारतीय युवा बुद्धिजीवी उस समय सारी दुनिया में साम्राज्यवाद एवं फासिज्म के विरूद्ध लेखकों की स्वत्वरक्षा के लिए की जा रही उन कोशिशों से अत्यधिक प्रभावित थे जिसमें गोर्की, रोमां रोलां, आंद्रे माल्रो, टामस मान एवं वाल्डे फ्रेंक जैसे प्रतिष्ठित साहित्यकार अपनी सक्रिय भागीदारी निभा रहे थे । सन् 1935 के जुलाई माह में " वर्ल्ड कांग्रेस औव राइटर्स फार द डिफेंस औव कल्चर " का पेरिस में आयोजित अधिवेशन वस्तुत: संसार के शब्द चेतन समुदाय द्वारा साम्राज्यवाद एवं फासीवाद के विरूद्ध लेखकों लेखकों की स्वत्वरक्षा के लिए की जाने वाली कोशिशों की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था । इस अधिवेशन में ई॰एम॰फोर्स्टर को संसार के तमाम प्रगतिशील लेखकों की स्थाई समिति के अध्यक्ष पद के लिए चुना गया था और लंदन में निर्मित " इंडियन प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन " के अध्यक्ष मुल्कराज आनंद एवं सचिव सज्जाद जहीर ने इसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से अपने संगठन को अंगीभूत कराने का निश्चय किया था ।

जिन दिनों भारत में " प्रगतिशील लेखक संघ " की विधिवत स्थापना के लिए प्रयास किया जा रहा था उससे करीब एक वर्ष पूर्व ब्रिटिश साम्राजियों ने मेरठ षड्यंत्र केस चलाकर भारत के शिशु कम्युनिस्ट आन्दोलन पर घातक हमला करके हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी को गैरकानूनी घोषित कर दिया था। सन् 1934 की 23 जुलाई को की गई इस फासिस्ट घोषणा के बाद पार्टी की केन्द्रीय समिति के तमाम सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये और इसके साथ ही भारत में कम्युनिस्ट साहित्य के आने पर भी पाबंदी लगा दी गई। [30]

इस विषम परिस्थिति में मुल्कराज आनंद एवं सज्जाद जहीर ने सन् "36 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कुछ पदाधिकारियों से सम्पर्क स्थापित किया जिसका गठन सन्" 34 मे कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ताओं, कुछ सोशलिस्ट नेताओं एवं कांग्रेस के गरमपंथी नेताओं ने मिलकर कांग्रेस के अंदर ही किया था। भारत में प्र•ले•स• की स्थापना के क्रम में मुल्कराज आनंद एवं सज्जाद जहीर को जिन लोगों का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ उनमें डॉ•अशरफ, डॉ•महमूद जफर, प्रो•हीरेन मुखर्जी एवं डॉ•युसूफ हुसैन खाँ के अलावा अहमद अली, फिराक गोरखपुरी, डॉ•सैयद एजाज हुसैन, प्रो•एहतेशाम हुसैन, वकार अजीम, पंत, शिवदान सिंह चौहान एवं नरेन्द्र शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्र•ले•स• की स्थापना करने के पीछे निहित उद्देश्यों की चर्चा करते हुए सज्जाद जहीर अपनी पुस्तक " रोशनाई " में लिखते हैं :

"जब हमने प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन की ओर पग उठाया तो कुछ बातें विशेष रूप से हमारे सम्मुख थीं। पहली तो यह कि प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन का रुख देश की जनता और मजदूरों, किसानों और मध्यम वर्ग की ओर होना चाहिए। उनको लूटनेवालों और उन पर अत्याचार करने वालों का घोर विरोध करना, अपनी साहित्यिक रचनाओं से जनता में चेतना, गति, क्रियाशीलता और एकता उत्पन्न करना और उन तमाम अवशेषों और प्रवृत्तियों का विरोध करना जो जड़ता, प्रतिक्रिया, निरुत्साह उत्पन्न करती है - हमारा मुख्य

कर्त्तव्य ठहरा)। इसी से फिर दूसरी बात निकलती है और वह यह कि यह सब कुछ तभी संभव था जब हम चेतन रूप से देश के स्वाधीनता संघर्ष और देश की जनता की अपनी स्थिति को सुधारने के आंदोलन में भाग लें। सिर्फ दूर से तमाशाई न हों बल्कि सामर्थ्य भर अपनी योग्यता के अनुसार स्वतंत्रता सेना के सिपाही बनें। इसका अर्थ यह नहीं कि लेखक अवश्य ही राजनीतिक कार्यकर्ता भी बने। लेकिन इसका यह अर्थ अवश्य था कि वे राजनीति से अलग और उदासीन भी नहीं हो सकते। (प्रगतिशील लेखक के मन में मानव जाति से स्नेह और गहरी सहानुभूति जरूरी है। बिना मानवता प्रेम, स्वतंत्रता की इच्छा और जनतंत्रवाद के, प्रगतिशील लेखक होना संभव नहीं)। इस कारण हम खुल्लमखुल्ला और जानबूझकर आंदोलन का सम्बन्ध देश की स्वाधीनता और जनतंत्रवादी आंदोलन के साथ जोड़ना चाहते थे)। हम चाहते थे कि प्रगतिशील बुद्धिजीवी मजदूरों, किसानों, दरिद्र और पीड़ित जनता से मिले, उनके राजनीतिक और सामाजिक जीवन का अंग बनें इसके बिना नये साहित्य की रचना हो ही नहीं सकती। इसलिए हम चाहते थे कि हमारे संघ की शाखाएं एकांतप्रिय विद्वानों की टोलियाँ न हों, बल्कि उनमें हरकत हो। साहित्यिक गोष्ठियों में दूसरे लोग भी आएं। लेखकों की रचनाओं पर खुली बहसें हो। हमारा संघ लेखकों का संगठन होते हुए और साहित्य रचना पर अधिक से अधिक ध्यान देते हुए भी " अंजुमन-तरक्की-ए उर्दू " अथवा " हिन्दी साहित्य सम्मेलन " न बन जाए, गतिमान और सजीव संस्था बने, जिसका जनता से सीधा और स्थाई संपर्क हो। " 31

विदेश में रहने वाले इन उत्साही एवं ईमानदार युवा बुद्धिजीवियों को इस बात का ठीक-ठीक एहसास था कि " लंदन में रहकर भारतीय साहित्य पर न असर डाला जा सकता है और न कोई उच्चकोटि की रचना हो सकती है। " इसके साथ ही सज्जाद जहीर एवं उनके युवामित्र इस बात से भी पूरी तरह वाकिफ थे कि " प्रगतिशील लेखकों का आन्दोलन उसी समय सफल हो सकता है,

जब हिन्दुस्तान की विभिन्न भाषाओं में उसको फैलाया जाए, और जब हिन्दु - स्तान के लेखक इस आन्दोलन की जरूरत को समझकर उसके उद्देश्यों को कार्यान्वित करें। लंदन की शाखा का बेहतरीन काम यह हो सकता है कि वह पश्चिम के प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलनों से हमारा सम्बन्ध जोड़े भारतीय साहित्य का पश्चिम में प्रतिनिधित्व करे और पश्चिमी लेखकों की कल्पना और आधुनिक सामाजिक समस्याओं का भारत में प्रचार करे, जो पश्चिम में साहित्य पर गहरा असर डाल रहीं हैं। " 32

भारत के साहित्यिक सांस्कृतिक एवं राजनैतिक जीवन में सन् 1936 ई॰ का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इस वर्ष के अप्रैल माह में लखनऊ में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के सभापति के रूप में जहाँ जवाहरलाल नेहरू का चुनाव हुआ वहीं लखनऊ में ही 9 एवं 10 अप्रैल को आयोजित " प्रगतिशील लेखक संघ " के स्थापना सम्मेलन के अध्यक्ष प्रेमचन्द बनाये गये। सन " 36 के अप्रैल माह में ही लखनऊ में " अखिल भारतीय किसान सभा " का स्थापना सम्मेलन भी हुआ जिसमें सभा के अध्यक्ष एवं महासचिव के रूप में प्रो॰ एन॰जी॰ रंगा एवं स्वामी सहजानंद सरस्वती का चुनाव हुआ। किसान सभा के इस सम्मेलन ने " आल इंडिया किसान कौंसिल का चुनाव करके। सितम्बर 1936 को किसान दिवस मनाने तथा आल इंडिया किसान बुलेटिन निकालने का फैसला भी किया। हालांकि इस सम्मेलन पर रंगा जैसे सुधारवादी नेताओं का आधिपत्य था लेकिन शीघ्र ही कम्युनिस्टों, वामपंथी कांग्रेस सोशलिस्टों एवं स्वामी सहजानंद सरस्वती जैसे प्रगतिशील किसान नेताओं के प्रभाव से किसान सभा ने अगस्त 1936 में एक नया कार्यक्रम तैयार किया, जो वस्तुत: किसानों के अधिकारों का मांगपत्र था। इसके आधार पर किसानों ने पहचाना कि उनके दो शत्रु हैं - विदेशी साम्राज्यवादी तथा देशी जमींदार - साहूकार।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर डॉ॰रेखा अवस्थी ने लिखा है कि " स्वाधीनता और सामाजिक क्रांति की जिन मांगों के दबाव में सन् " 36 में अखिल भारतीय किसान सभा " की स्थापना की गई, सांस्कृतिक एवं बौद्धिक स्तर पर लगभग उन्हीं मांगों के ऐतिहासिक कार्यभार की पूर्ति के लिए " प्रगतिशील लेखक संघ " की स्थापना की गई । हिन्दी के मध्यवर्गीय लेखक सहसा किसानों के प्रति इतना गहरा लगाव क्यों अनुभव करने लगे ? किसानों के प्रति " बौद्धिक सहानुभूति " अथवा " क्रांतिकारी एकात्मता " का यह भाव अचानक सुसंगत रूप में क्यों व्यक्त होने लगा ? जैसे इन प्रवृत्तियों का मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियों में निहित है, उसी तरह " प्रगतिशील लेखक संघ " के गठन की भावना भी उन्हीं परिस्थितियों से पैदा हुई थी । " 33

सन् 1936 के 9 तथा 10 अप्रैल को लखनऊ में आयोजित " प्रगतिशील लेखक संघ " के स्थापना सम्मेलन के अध्यक्ष पद से प्रेमचंद द्वारा दिया गया भाषण अत्यंत महत्वपूर्ण है । प्रेमचंद के इस अध्यक्षीय व्याख्यान को यदि हम एक नवीन साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र की प्रस्तावना भी कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी । क्योंकि इस अवसर पर उन्होंने साफ कहा था कि " हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी । अभी वह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी । उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है, उस बच्चोंवाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं जो बच्चों को खेत की मेड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है । उसने निश्चित कर लिया है कि रंगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है । उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होंठों और कुम्हलाये गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ ? पर यह संकीर्ण दृष्टिदोष है । " साहित्यकार मात्र को स्वभावत: प्रगतिशील बताते हुए प्रेमचंद ने कहा कि " साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है । " अपने व्याख्यान में उन्होंने केवल उसी साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रगतिशील साहित्य के रूप में मान्यता दी " जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो,

सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो । जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करें । " 34

यदि हम प्रेमचंद के व्याख्यान के साथ प्र॰ले॰स॰के स्थापना सम्मेलन के अवसर पर जारी किये गये घोषणापत्र को मिलाकर देखें तो स्पष्ट होगा कि वहाँ भी समाजालोचन का स्वर अत्यंत मुखर है :

" भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं । पुराने विचारों और विश्वासों की जड़े हिलती जा रही है और एक नये समाज का जन्म हो रहा है । भारतीय लेखकों का धर्म है, कि वे भारतीय जीवन में पैदा होने वाली क्रांति को शब्द और रूप दे और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों ।

भारतीय साहित्य की विशेषता यह रही है कि वह जीवन की यथार्थताओं से भागता है और वह वास्तविकता से मुँह मोड़कर भक्ति और उपासना की शरण में जा छिपा है । नतीजा यह हुआ है, कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी, अर्थ में भी और आज हमारे साहित्य ने विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया है ।

x x x

वह सब कुछ, जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है । हम उसका विरोध करते हैं ।

वह सब कुछ, जो हममे समीक्षा की प्रवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें

कर्मठ बनाता है और हममे संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं । "

इस घोषणा पत्र में प्र॰ले॰स॰ के चार उद्देश्यों को भी सूत्र रूप में व्यक्त किया गया है :

i. भारत के तमाम प्रगतिशील लेखकों की संस्थाएँ संगठित करना और साहित्य छाप कर अपने उद्देश्यों का प्रचार करना ।

ii. प्रगतिशील लेखकों और अनुवादकों को प्रोत्साहित करना और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरूद्ध संघर्ष करके देशवासियों के स्वाधीनता संग्राम को आगे बढ़ाना ।

iii. प्रगतिशील लेखकों की सहायता करना ।

iv. स्वतंत्रता और स्वतंत्र विचार की रक्षा करना । [35]

सन " 36 में प्र॰ले॰स॰ के स्थापना सम्मेलन द्वारा जारी इस घोषणापत्र को प्रगतिवाद के आधार के रूप में उद्घोषित करते हुए सज्जाद जहीर ने लिखा है :

" इस घोषणा पत्र का सारांश दो शब्दों में स्वाधीनता-प्रेम और उन्नयन से लगाव है । इस कम-से-कम शर्त को मानना उस (प्रगतिशील-लेखक) के लिए जरूरी है । दूसरे शब्दों में एक लेखक स्वाधीनता और लोकतंत्र का विरोधी और प्रगतिशील एक साथ नहीं हो सकता । " [36]

गंभीरतापूर्वक विचारने से हमें " रत्नाकर रसिक मंडल " द्वारा आयोजित अभिनंदन समारोह में जवाहरलाल नेहरू के व्याख्यान, प्र.ले॰स॰ के अध्यक्ष पद से दिये गये प्रेमचंद के व्याख्यान, प्र॰ले॰स॰ के प्रथम घोषणापत्र एवं सज्जाद जहीर की विभिन्न टिप्पणियों में उठाये गये अनेकानेक मुद्दों में एक आश्चर्यजनक समानता

दिखाई देती है । वस्तुत: परिवर्तित सामाजिार्थिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक सांस्कृतिक परिदृश्य में चूँकि तमाम महत्वपूर्ण मुद्दों पर नये सिरे से विचारना अपेक्षित हो गया था इसलिए उपर्युक्त समानता को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता ।

सन् " 36 के लखनऊ अधिवेशन के बाद कालांतर में प्र·ले·स· एक महत्वपूर्ण साहित्यिक-सांस्कृतिक मंच के रूप में उभरकर सामने आया । वैसे तो इसके आरंभिक सदस्यों में विभिन्न विचार धारा वाले लेखक शामिल थे पर मुख्यत: इसमें शिक्षित मध्यवर्गीय वामपंथी युवक ही अधिकाधिक सक्रिय भूमिका अदा कर रहे थे । प्र·ले·स· को आरंभ से ही यदि एक ओर अनेक स्थापित रचनाकारों एवं बुद्धिजीवियों का भरपूर सहयोग एवं समर्थन प्राप्त होने लगा तो दूसरी ओर इसे साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में साम्राज्यवादियों का मोर्चा संभाले हुए कई स्थापित रचनाकारों के तीव्र विरोध का भी सामना करना पड़ा । आगे चलकर प्र·ले·स· को अन्तर प्रांतीय साहित्य का व्यापक मोर्चा बनाया गया और अनेक भाषा-भाषी प्रांतों के विभिन्न जिलों एवं नगरों में इसके विस्तार पर बल दिया गया । सन् 1938 में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता में सम्पन्न कलकत्ता अधिवेशन के पश्चात् बड़ी तेजी से विकसित होते हुए सन 1944 तक प्र·ले·स· का एक व्यापक मोर्चा बन चुका था और इसे तमाम भारतीय भाषाओं के महत्वपूर्ण माने जाने वाले लेखकों से सहयोग मिलना शुरू हो गया था । इसका एक निषेधात्मक परिणाम यह हुआ कि विभिन्न विचार धाराओं को माननेवाले लेखकों की सक्रिय भागीदारी से संघ के भीतर अन्तर्विरोध का जन्म भी होने लगा । पर इन सब के बावजूद प्र·ले·स· से जुड़े बड़ी संख्या में प्रतिबद्ध रचनाकारों एवं उन्हें मंच प्रदान करने वाली अनेकानेक पत्रिकाओं (हंस, रूपाभ, चकल्लस, प्रभा, जनता, कर्मवीर, योगी, विप्लव आदि) ने न केवल रचनात्मक साहित्य, अपितु भाषा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, आदि से सम्बन्धित विभिन्न मुद्दों पर साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, फासीवाद, सम्प्रदायवाद एवं पतनशील मूल्यों का जी जान से विरोध करते हुए प्रगतिशील मूल्यों के प्रचार-प्रसार के लिए अपना संघर्ष सदा कायम रखा ।

सन् 1942 के आसपास कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका जो रही हो पर प्र•ले•स• ने इस वर्ष भी अपने दिल्ली सम्मेलन में तानाशाही, फासीवाद एवं अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों के विरुद्ध प्रस्ताव पास कर जनता को जागरूक बनाने का अपना महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाया । सन् 1944 में मध्य भारत में मुक्तिबोध द्वारा प्र•ले•स• की नींव रखी गई और इसी वर्ष उन्होंने राहुल जी एवं डॉ•रामविलास शर्मा के सहयोग से इन्दौर में " फासिस्ट विरोधी अधिवेशन " भी किया ।

सन् 1946 में कम्युनिस्ट पार्टी का साम्राज्यवाद विरोधी स्वर अत्यंत मुखर रूप में प्रकट होने लगा । इस वर्ष हुए " नाविक विद्रोह " का पार्टी एवं प्र•ले•स• से जुड़े अनेकानेक राजनीतिक नेताओं एवं रचनाकारों ने जोर शोर से समर्थन किया और इस प्रकार प्रगतिशील रचनाकार और गहरे अर्थों में आम जनता के साथ जुड़ने लगे । प्र•ले•स• के बम्बई सम्मेलन (1946) एवं इलाहाबाद सम्मेलन (1947) में लेखकों ने समवेत स्वर से साम्प्रदायिक शक्तियों की घोर निंदा तथा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक मोर्चे पर जमकर उनका मुकबला करने का अपना दृढ़ निश्चय दोहराया ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् 1949 में बम्बई के उपनगर भिवंडी में आयोजित प्र•ले•स• के राष्ट्रीय सम्मेलन का ऐतिहासिक महत्व है । अपने नये महामंत्री डॉ•रामविलास शर्मा के नेतृत्व में इस सम्मेलन ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के वास्तविक वर्गचरित्र की पहचान करते हुए भारतीय सामंतवाद एवं पूँजीवाद के गठबंधन एवं इसके इशारे पर नाचनेवाले बूर्ज्वा कांग्रेसी नेतृत्व की खुलकर आलोचना की । इसी वर्ष प्र•ले•स• का एक और सम्मेलन कवि नागार्जुन की अध्यक्षता में इलाहाबाद में सम्पन्न हुआ जिसमें उन्होंने प्रतिगामी शक्तियों का समर्थन करने - वाले लेखकों को चुनौती देते हुए कहा था :

" साथियों, ऐसे साहित्यकार की हमें रत्ती-भर भी परवाह नहीं । हम शासक-शोषक वर्ग के पिछलेगुआ जी-हुजूर, चाटुकार लेखक नहीं हैं । हम बिड़ला-टाटा-डालमिया के चाकर नही हैं । हम नेहरू और पटेल की थाप पर थिरकने ठमकने वाले आर्टिस्ट नहीं है । सर्वसाधारण जनता को ही हम अपनी अधिस्वामिनी समझते हैं । हमारी सारी प्रेरणाओं और कल्पनाओं का मूल स्रोत वही है । " 37

सन् 1951 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की मदुराई कांग्रेस के बाद जब पार्टी ने अपनी परिवर्तित नीति के तहत अजय घोष के नेतृत्व में मध्यवर्गीय उदारतावाद को प्रोत्साहन देना आरंभ किया तो इससे जहाँ एक ओर जनता की क्रांतिकारी चेतना कुंठित होने लगी वहीं दूसरी ओर प्र•ले•स• भी बिखराव के कगार पर पहुँच गया । इस दरम्यान डॉ•रामविलास शर्मा को " नयापथ " के सम्पादक मण्डल से अलग किया जाना और अंततः प्र•ले•स• के दिल्ली अधिवेशन (1953) में उनकी जगह कृष्नचन्दर को प्रतिष्ठित किया जाना जैसी शर्मनाक हरकतों के कारण प्र•ले•स• की लगभग नींव हिल गई ।

प्र•ले•स• के विघटन के संदर्भ में हंसराज रहबर ने एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है । उन्हीं के शब्दों में :

" मैं ने 1956 में, जब पार्टी एक थी और प्रगतिशील लेखक संघ का विघटन हो गया था, पार्टी के महासचिव अजय घोष से पूछा था कि आप लोग साहित्यिक मोर्चे पर क्यों ध्यान नहीं देते तो उनका उत्तर था - " हमें ट्रेड यूनियन से ही फुर्सत नहीं । " दस वर्ष बाद जब पार्टी बंट गई थी तो मैं ने यही प्रश्न माकपा के महासचिव पी•सुंदरैया से पूछा तो उनका भी ठीक यहीं उत्तर था । साहित्य एवं संस्कृति की अवहेलना करके पार्टी को ट्रेड यूनियन तक ही सीमित रखना कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता का एक मुख्य कारण है ।

बाद में यह भी सुना कि प्रगतिशील लेखक संघ का विघटन अजय घोष के मशिवरा से हुआ था। " 38

जाहिर है कि छठे दशक के आरंभ में हिन्दी रचनाशीलता में प्रगति - वाद का स्थान प्रयोगवाद ने ले लिया और एक संगठित आंदोलन के रूप में प्रगतिवाद बिखर गया। इस बदले हुए साहित्यिक सांस्कृतिक परिदृश्य पर टिप्पणी करते हुए डॉ॰रेखा अवस्थी ने लिखा है कि " प्राय: यह धारणा बन गई है कि बुर्जुआ संस्कृति और जनवादी समाजवादी संस्कृति के प्रतिनिधि रूप में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के इस युद्ध में सन " 53 के लगभग बुर्जुआ संस्कृति की विजय हुई। " 39

यह सर्वविदित तथ्य है कि जब सन् 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी विभा - जित हुई तो आगे चलकर प्र॰ले॰स॰ से विलग 1982 ई॰ में जनवादी लेखक संघ का जन्म हुआ। पुन: 1968 में जब सी॰पी॰आई॰एम॰एल॰ के नाम से भारतीय राजनीति में एक तीसरा कम्युनिस्ट दल अस्तित्व में आया तो इसकी नीतियों एवं कार्यक्रमों से सहमति रखनेवाले रचनाकारों ने काफी बाद में अपने सांस्कृतिक मोर्चे के रूप में " जन संस्कृति मंच " का गठन किया।

हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी एवं उससे सम्बद्ध साहित्यिक - सांस्कृतिक संगठनों के बार-बार विभाजन पर तीखी टिप्पणी करते हुए हंसराज रहबर ने लिखा है कि " जिस तरह बुर्जुआ पार्टियाँ टूट-टूटकर एक से दो और दो से तीन बनीं, कम्युनिस्ट पार्टी भी बनी। जिस तरह भाकपा एवं माकपा अवसरवादी राजनीति कर रही है, उसी तरह उनके ये संगठन साहित्य और संस्कृति में अवसरवादी हैं और जिस-तिस को " प्रगतिशील " अथवा " जनवादी बना देने में अत्यंत उदार हैं। परिणाम यह है कि जिस तरह भाकपा माकपा का प्रभाव राजनीति में नगण्य है, इन संगठनों का साहित्य और संस्कृति में नगण्य है। " 40

सवाल यह उठता है कि क्या आज सचमुच भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जीवन में उपर्युक्त वामपंथी साहित्यिक-सांस्कृतिक संगठनों का प्रभाव नगण्य है ? इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि बुर्जुआ संस्कृति एवं समाजवादी जनवादी संस्कृति के प्रतिनिधि रूप में प्रयोग-वाद एवं प्रगतिवाद के युद्ध में बकौल-रेखा अवस्थी-जिस बुर्जुआ संस्कृति की विजय हुई थी वह क्या आज भी अपनी विजय पताका फहरा रही है ? कहना न होगा कि आज न तो हंसराज रहबर का मत पूरी तरह से स्वीकार्य हो सकता है और न ही डॉ॰अवस्थी की एतद्विषयक धारणा ही । सच तो यह है कि आज जो भी श्रेष्ठ रचनात्मक एवं वैचारिक लेखन हो रहा है, उसका मूल स्वर समाजवादी जनवादी ही है । दूसरे शब्दों में कहें तो समकालीन हिन्दी रचनाशीलता की बागडोर प्रगतिशील चेतना सम्पन्न उन जनपक्षधर रचना - कारों के हाथों में हैं जिनमें से अधिकांश प्रतिबद्ध लेखक हैं और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि को किसी न किसी रूप में अपनाने के कायल हैं भले ही वे किसी झंडे तले क्यों न हों ।

इसके साथ ही हम इस बात से भी पूरी तरह वाकिफ है कि संगठित रूप में प्रगतिशील काव्यान्दोलन भले ही छठे दशक में बिखर गया पर प्रगतिशील चेतना से परिपूर्ण काव्य धारा प्रयोगवादी काव्यान्दोलन के दरम्यान भी अन्तः सलिला की तरह प्रवाहित हो रही थी तथा सातवें आठवें दशक में प्रगतिशील चेतना सम्पन्न रचनाकारों ने अपने सशक्त रचनात्मक प्रयासों से " बुर्जुआ संस्कृति की विजय " को लगभग पराजय में बदल दिया और स्थिति यह है कि न केवल हिन्दी में ही अपितु तमाम भारतीय भाषाओं के रचनात्मक फलक पर दक्षिणपंथी लेखक द किनार होकर हाशिए पर आ चुके हैं । दूसरे शब्दों में कहे तो प्रगतिशीलता आज भी कहीं न कहीं अपनी मूल चेतना के साथ सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की रचनाशीलता में अपने सूक्ष्म अन्तर्बोध के साथ विद्यमान है, भले ही उसे हम जनवाद एवं नव्यजनवाद के नाम से क्यों न पुकारें ।

संगठनात्मक दृष्टि से विचारने पर हम पाते हैं कि प्र॰ले॰स॰ का बांदा सम्मेलन (1973) एवं गया सम्मेलन (1975) उसे राष्ट्रीय स्तर पर पुनर्गठित करने प्रयास था । वीरेन्द्र मोहन ने लिखा है कि 1973 के बांदा में होनेवाले प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन पर संशोधनवाद का आरोप लगाया जाता है । ये (आरोप लगाने वाले) वे ही लोग है जो साहित्य से बहुत सारी उम्मीदें एक साथ लगाते हैं । और साहित्य को राजनीति का पिछ - लग्गू बना देना चाहते हैं । आज यह भी आरोप लगाया जाता है कि प्रगतिशील लेखक संघ ने सरकारी सहयोग का रास्ता अपनाया । वस्तुत: उन परिस्थितियों में सरकारी सहयोग असहयोग पर विचारमंथन की आवश्यकता थी । लेखकों के वाममोर्चे की एकता को यहाँ भी आवश्यक माना गया । गया सम्मेलन (1975) इन उद्देश्यों का विस्तार था । गया सम्मेलन में प्रगतिशील लेखक संघ के कार्यभार और क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए लेखकों की एक बड़ी संख्या उपस्थित हुई और पहली बार युवा लेखकों का प्रतिनिधित्व उभरकर सामने आया । प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं के लेखक इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए । जो लोग प्रगतिशील लेखक संघ पर बुर्जुआ और मध्यवर्ग का आरोप लगाते हैं उन्हें यह भी देखना चाहिए कि गया अधिवेशन में शामिल लोगों का वर्ग-वर्ण क्या है । गया सम्मेलन (1975) के बाद तो राष्ट्रीय स्तर पर प्र॰ले॰स॰ का विस्तार उसकी जीवंतता को प्रमाणित करता है । " 41

राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ के गया अधिवेशन (1975) में जो नया घोषणा पत्र तैयार किया गया था उसे जबलपुर अधिवेशन (1980) में कुछ संशोधित कर अंतिम रूप दिया गया । इसके बाद जयपुर (1982) एवं गुना (   ) में आयोजित प्र॰ले॰स॰ के राष्ट्रीय अधिवेशनों का भी संगठ - नात्मक दृष्टि से काफी महत्व है ।

प्रगतिशील लेखक संघ अपनी 55 वर्षों की सुदीर्घ यात्रा तय करके अपने राष्ट्रीय ~~अध्यक्ष~~ महामंत्री श्री भीष्म साहनी के नेतृत्व में आज भी साहित्यिक-सांस्कृतिक मोर्चे पर पूरी तरह सक्रिय है और इससे जुड़े अनेकानेक रचनाकार अपनी यथार्थ-वादी रचनाओं के द्वारा यथास्थिति, वर्गीय वंचना, शोषण और अमानवीयकरण जैसी मानवविरोधी कारगुजारियों का पर्दाफाश करते हुए अवाम को अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी पूँजीवादी एवं साम्प्रदायिक ताकतों से मुकाबला करने के लिए लगातार प्रेरित कर रहे हैं ।

प्रगतिशील काव्य रचना का आरंभिक स्वरूप :-

डॉ॰रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माता के रूप में स्वीकरते हुए लिखा है कि " उन्होंने ब्रजभाषा की पुरानी कविता में नयी जान डाली । साहित्य को उनकी देन है : राष्ट्रीयता विचारधारा । " भारत - दुर्दशा " जैसे नाटकों में, " जातीय संगीत " जैसे निबन्धों में उन्होंने देश की दशा पर ध्यान केन्द्रित किया है । भारतेन्दु की लोकप्रियता का कारण यह है कि उन्होंने समाज और साहित्य की आवश्यकताओं को पहचाना, उन्हें पूरा किया । " [42]

वस्तुत: भारतेन्दु को आधुनिक हिन्दी साहित्य का जनक कहना इसलिए भी औचित्यपूर्ण है कि उन्होंने अपने समय की रचनाशीलता को रीतियुगीन पंक एवं राजदरबारों की बंद चहारदिवारी से निकाल कर तत्कालीन सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में घटित हो रही परिवर्तन की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने के योग्य बनाया । जब भारतेन्दु का भक्त अपने आराध्य " केशव करुणा निधि " को याद करता है तो वह उनसे केवल अपना दुख बयान करने की जगह सम्पूर्ण देशवासियों की व्यथा-कथा का बयान करता है । कहना न होगा कि भारतेन्दु ने अपने समय के यथार्थ को बहुत हद तक पहचान कर ही अपनी

रचनाओं में तत्कालीन भारत की दुर्दशा के लिए यदि एक ओर विदेशी साम्राज्यवादी शासन को दोषी ठहराया है तो दूसरी ओर अपने देश की पतनोन्मुख सामंती सामाजार्थिक व्यवस्था तथा देशवासियों के जीवन में जड़ तक व्याप्त विभिन्न अन्तर्विरोधों को भी पूरी गंभीरता के साथ चित्रित किया है। यदि उन्होंने अपने समय की विभिन्न सामाजिक एवं मूल्यगत विसंगतियों को लेकर प्रहसनों की रचना की है तो यह इसलिए भी औचित्यपूर्ण है कि सामंतवाद उस युग में केवल प्रहसन के ही योग्य रह गया था। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो भारतेन्दुयुगीन हिन्दी रचनाशीलता में आलोचनात्मक यथार्थवाद की नींव पड़ चुकी थी। अतः भारत में संगठित रूप से प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के आरंभ § 1936 §, कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना § 1926 § एवं यहाँ तक कि रूसी क्रांति § 1917 § के भी पूर्व रचित कुछ हिन्दी कवियों की कविताओं में यदि यथार्थवादी रुझान दृष्टिगत होता है तो हमें उसे भारतेन्दु युगीन आलोचनात्मक यथार्थवाद के परम्परागत विकास के रूप में ही देखना चाहिए।

इस दृष्टि से सन् 1915 की " सरस्वती " में प्रकाशित पं० केशव प्रसाद मिश्र की " जाड़ा और निर्धन " शीर्षक कविता सर्वप्रथम उल्लेखनीय है :

> सिर पर लदा घास का बोझा तन पर नहीं एक भी सूत,
> हाय ! हाय ! कँपित होता है जाड़े से भारत का पूत ।
> छोटे-छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट,
> किन्तु आज वह दुखित लौटा, विफल हुई है उसकी हाट ।
> एक दरिद्र कृषक है जिसने किया श्वेत में दिन भर काम,
> किन्तु पेट भर रोटी मिलना उसको है जय सीताराम । " 43

पं० केशव प्रसाद मिश्र द्वारा सन् 1915 में रचित उपरिउद्धृत कविता को नजरअंदाज कर डॉ० जनेश्वर वर्मा ने अपने ग्रंथ में गया प्रसाद शुक्ल " सनेही " को हिन्दी के प्रथम प्रगतिशील कवि के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए सन् 1918 में

प्रकाशित सनेही जी की जिस " वीरप्रण " शीर्षक कविता को उद्धृत किया है, उसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

न होने देंगे अत्याचार ।
लड़ जाएँगे न्याय पक्ष पर करके हृदय उदार ।

x x x

अन्यायी अन्याय करें यों हाय ! सरे बाजार ।
और खड़े चुप देखें हम तो नयनों को धिक्कार ।।
न होने देंगे अत्याचार ।। [44]

इस संदर्भ में डॉ॰जनेश्वर वर्मा ने लिखा है कि " सनेही " जी पहले कवि थे जिन्होंने आगे बढ़कर दृढ़ आत्मविश्वास के साथ जन-जागरण का प्रथम गीत गाया तथा अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय शोषित जनता में स्वाभ स्वाभिमान एवं आत्मविश्वास की भावना का संचार किया । पूँजीवाद के समूल विनाश और समाजवादी नव-निर्माण के लिए जनता को क्रांति का संदेश दिया । " [45] इसके साथ ही डॉ॰वर्मा की मान्यता है कि सनेही जी की कविताओं में " वे समस्त तत्व जो किसी प्रगतिवादी रचना के लिए आवश्यक कहे जा सकते हैं, स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं । " [46]

यदि हम उपरिउद्धृत दोनों काव्यांशों की तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि सनेही जी की " वीरप्रण " शीर्षक कविता की तुलना में पं॰केशव प्रसाद मिश्र रचित " जाड़ा और निर्धन " शीर्षक कविता ज्यादा यथार्थपरक है । कहना न होगा कि सनेही जी की कविता में नारेबाजी का पुट ही अधिक है जिससे वह रचनात्मक दृष्टि से कमजोर कविता सिद्ध होती है ।

डॉ॰जनेश्वर वर्मा के ग्रंथ में वर्णित तथ्यों से जो बात स्पष्ट होती है वह यह कि सनेही मंडल के अनेक कवियों—देवीदत्त मिश्र, जगदम्बा प्र॰हितैषी, राधावल्लभ पांडेय बंधु, शिवदास गुप्त, कंटक, तरल एवं रामेश्वर करूण आदि कवियों के अलावा अनेकानेक रचनाकारों की कृतियों के माध्यम से यथार्थवादी काव्यचेतना ने भारतेन्दु युग से लेकर प्रगतिवाद काल तक कितनी मंजिले तय की हैं। लेकिन डॉ॰वर्मा ने इस संदर्भ में प्राप्त प्रचुर साहित्यिक सामग्री का विश्लेषण करते हुए अपनी यांत्रिक भौतिकवादी समझ के कारण इन सब पर रूसी क्रांति का जो सीधा प्रभाव देखा है वह बहुत हद तक उचित नहीं है।

ऐसे तो छायावादी काव्यान्दोलन सामाजिक यथार्थ का सीधा साक्षात्कार नहीं करता और संभवत: इसी कारण यह अपने समय में एक कला - वादी काव्यधारा के रूप में पहचाना गया, पर आगे चलकर जब समीक्षकों ने इसके समाजशास्त्रीय विश्लेषण की चुनौती को स्वीकारते हुए चिंतन मनन प्रारंभ किया तो उनके सामने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की एतद्विषयक विश्लेषण दृष्टि का अन्तर्विरोध प्रकट हुआ जिसके कारण वे छायावाद को मात्र अभि - व्यंजनावाद से जोड़कर देखने के आग्रही थे। कहना न होगा कि छायावाद या कोई भी महत्वपूर्ण काव्यांदोलन केवल अभिव्यंजना जैसे किसी एक विशेष कारण से जन्म नहीं ले सकता। वस्तुत: किसी युग में साहित्यिक रचनाशीलता की अभिरूचि तभी बदलती है जब उस काल में कोई न कोई संघर्ष का कारण सामाजिकों की चेतना को इस ढंग से उत्कोचित कर रहा होता है कि उसे रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति देना अनिवार्य हो जाता है। डॉ॰शशि मुदिराज ने इन संदर्भ में ठीक ही लिखा है कि " छायावाद उस समय की मध्य वर्गीय मानसिकता से निष्पन्न काव्यान्दोलन था जो मध्यवर्गीय मानसिकता स्वयं सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आलोड़नों से निर्मित थी और जो स्वयं एक ऊँचे आदर्शवाद एवं वस्तुगत यथार्थवाद के द्वन्द्व से ग्रस्त थी। " 47

जाहिर है कि बीसवीं सदी के तीसरे दशक के अंतिम चरण में हिन्दी रचनाशीलता के परिदृश्य से यह द्वन्द्व समाप्त होने लगा और छायावादी कहे जानेवाले जिन रचनाकारों में समय के साथ अपने आप को बदलकर युगीन संवेदना का वाहक बनने की क्षमता थी, वे सब के सब क्षयिष्णु रूमानियत से मुक्त होने की चेष्टा करते हुए नवीन सृजनात्मक परिप्रेक्ष्य में यथार्थवादी भावभूमि के करीब आने लगे ।

तत्कालीन छायावादी कवियों के साथ-साथ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के अनेकानेक कवियों में भी हमें एक प्रकार की रचनात्मक नवीनता का स्वर सुनाई पड़ता है जो उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं से बिल्कुल भिन्न है । इस युग में रचित माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, दिनकर, सुभद्रा कुमारीचौहान आदि कवियों की कविताओं में यदि एक ओर साम्राज्यवादी शासन की दमनपूर्ण नीतियों के प्रति आत्यंतिक विरोध-भाव प्रकट हुआ है तो वहीं कांग्रेस के तत्कालीन सुधार - वादी नेतृत्व वर्ग एवं बुर्जुआ प्रतिनिधियों की भी जाने-अनजाने खबर ली गई है । इस दृष्टि से माखनलाल चतुर्वेदी रचित " मरण त्योहार " एवं " कैदी और कोकिला ", नवीन रचित " जूठे पत्ते " एवं " नरक विधान " तथा दिनकर रचित " कस्मै देवाय ", " नई दिल्ली के प्रति ", " विपथगा एवं " " हिमालय " आदि कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । हालांकि इन रचनाओं को हम सही अर्थों में प्रगतिवादी कविता को उदाहृत करने वाली रचनाओं के रूप में मान्यता नहीं दे सकते हैं पर इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि इनमें एक हद तक स्वत:स्फूर्त प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ अवश्य विद्यमान हैं ।

छायावाद बनाम प्रगतिवाद :-

अंग्रेजी में एक बहुप्रचलित उक्ति है कि 'Realism comes from the cradle of romanticism'. हिन्दी में प्रगतिशील काव्यान्दोलन के संदर्भ में इससे भिन्न मत प्रतिपादित करते हुए डॉ॰जनेश्वर वर्मा ने छायावादी एवं प्रगतिवादी काव्यधारा को दो परस्पर विरोधी एवं समानांतर रचनाशीलता के रूप में मान्यता दी है :

" वास्तव में प्रगतिवाद का जन्म छायावाद की मृत्यु के पश्चात नहीं वरन् उसके जन्म के साथ हुआ है । साहित्य में प्रगतिवाद एवं छायावाद दोनों ही धाराएँ समानांतर चलीं हैं । एक सामाजिक सत्य की स्वीकृति का प्रतीक है तो दूसरी उस सत्य से पलायन का । यह ठीक है कि आरंभ में प्रगतिवादी धारा बहुत निर्बल थी परन्तु जैसे जैसे देश में राजनीतिक चेतना का विकास होता गया और समाजवादी आन्दोलन शक्ति संचय करते गये वैसे-ही-वैसे प्रगतिवादी धारा भी प्रबल होती गई और सन् 1936 में " प्रगतिशील लेखक संघ " की स्थापना के साथ उसने छायावाद पर अपनी विजय की घोषणा कर दी । प्रगतिवादी शक्तियों के बलवती होने पर पलायनवादी प्रवृत्तियों का ह्रास स्वाभाविक ही था । " [48]

कहना न होगा कि डॉ॰वर्मा की दृष्टि नितांत एकांगी है और इसी कारण वे छायावाद को पलायन की प्रवृत्ति वाला काव्य मानते हुए सन् 1936 में प्रगतिवाद से उसे पराजित करवा देते हैं । छायावादी साहित्य में यद्यपि भावना, संवेदना, परिकल्पना और व्यक्तित्व का अंतरंग ही सम्प्रेषणीय रहा है, फिर भी उसे केवल व्यक्तिवादी एवं पलायनवादी प्रवृत्तियों वाला साहित्य मान लेना एक सूक्ष्म भूल है । छायावाद के अन्तर्गत सामंतवादी मूल्यों के प्रति जो रोमांटिक विद्रोह एवं साम्राज्यविरोधी चेतना आदि विद्यमान है, उसे नजरअंदाज कर डॉ॰वर्मा ने यांत्रिक ढंग से सन् 1917 की रूसी क्रांति के प्रभाव को हिन्दी रचनाशीलतापर देखने की पेशकश की है ।

छायावादियों में अग्रणी निराला प्र॰ले॰स॰ के गठन से बहुत पहले सन् 1923 में ही किसानों की दीन दशा को मद्देनजर रखकर " विप्लव के बादल " का आह्वान कर चुके थे :

रुद्ध कोश है क्षुब्ध तोष
अंगना अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र गर्जन से बादल
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।

* * *

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर ।

इसी प्रकार विधवा, भिक्षुक, तोड़तीपत्थर, दान, सच है जैसी उनकी अनेकानेक यथार्थ चेतना सम्पन्न कविताएँ भी सन् 1936 से पूर्व ही रची जा चुकी थीं ।

निराला के विपरीत पंत " युगांत " की घोषणा कर " युगवाणी " के साथ आरंभ में ही प्रगतिशील काव्यान्दोलन से जुड़े परन्तु शीघ्र ही वे राह बदलकर अरविंदवाद की ओर मुड़ गए । फिर भी, प्रगतिशील आन्दोलन को उसकी शैशवावस्था में पंत के समर्थन से जो बल मिला उसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता । भले ही यह उनके ही शब्दों में " बौद्धिक सहानुभूति " ही क्यों न थी ।

मार्क्सवादी समीक्षकों द्वारा अक्सर जयशंकर प्रसाद की कृतियों को प्रगतिशील मूल्यों से रहित माना जाता है । किन्तु, डॉ॰रामविलास शर्मा ने प्रसाद साहित्य का विश्लेषण करते हुए " कामायनी " के " इड़ा " सर्ग में वर्णित घटनाओं पर जो विचार व्यक्त किया है उससे एक नया पहलू उद्घाटित होता है :

" गाँधीवाद जहाँ जनता के क्रांतिकारी उभार को दबाकर वर्गशांति और समझौते ही राह पर चलता है, वहाँ प्रसाद जी वर्गशांति के बदले वर्गहीन समाज का आदर्श सामने रखते हैं । गाँधीवाद जहाँ प्राचीन भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष अस्वीकार करता है, वहाँ प्रसाद जी ने राजा और प्रजा के रक्तमय संघर्ष का चित्र खींच कर उसे स्वीकार किया है । सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि गाँधीवाद जहाँ निष्क्रिय प्रतिरोध की बात करता है, वहाँ प्रसाद जी ने सक्रिय प्रतिरोध का आदर्श रखा है, शस्त्र उठा कर आततायियों का विरोध करने का चित्र खींचा है । " [47]

कहना न होगा कि छायावाद की वृहद्त्रयी में निराला की कविताएँ सर्वाधिक मात्रा में प्रगतिशील प्रवृत्तियों से परिपूर्ण हैं । सच तो यह है कि छायावादोत्तर काल में एक लम्बे समय तक निराला-काव्य की मूल चेतना प्रगति - शील चेतना ही थी । उनकी " कुकुरमुत्ता " एवं " नये पत्ते " में संकलित " चर्खा चला " तथा " राजे ने अपनी रखवाली की " जैसी कविताएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

डॉ॰अजय तिवारी ने लिखा है कि " चर्खा चला " मनुष्य की ऐतिहासिक विकास-यात्रा की गाथा है । गुफाओं से जंगल और जंगल से उपवन की ओर यात्रा करता हुआ मनुष्य धरती से बँधा, अंधविश्वास से यथार्थ तक आया । इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का दूसरा पहलू " राजे ने अपनी रखवाल की " कविता में द्रष्टव्य है । राजा किला बनाकर रहता है । फौजें रखता है ।

चापलूस सामंत, पोथी पत्री वाले पंडित, कवि, इतिहासकार सब उसके दरबार की शोभा है। इस समय का जादू ऐसा है कि " लोकनारियों के लिए रानियाँ आदर्श " हो गयी हैं। धर्म का धोखा है। साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध होते हैं। भरता कौन है ? किसके खून की नदियाँ बहती हैं ? आज जब आँख खुली तो मालूम हुआ कि जनता को हर तरह की तबाही और जुल्म का शिकार बनाकर राजे ने अपनी रखवाली की। " 50

डॉ• तिवारी ने उपर्युक्त संदर्भ का विश्लेषण करते हुए ठीक ही इतिहास के अन्तर्विरोधों को सामने रखने वाली निराला की दृष्टि का सूत्र मार्क्सवाद में निहित पाया है जिसके अनुसार " वास्तविक इतिहास की रचना व्यक्ति नहीं बल्कि मनुष्यों का जनसमूह किया करता है। " यह दृष्टि उस दरबारी इतिहास दृष्टि के सर्वथा विपरीत है जिसने इतिहास-निर्माण में सदैव जनता की भूमिका की उपेक्षा करते हुए व्यक्तियों के शौर्य वर्णन को प्रश्रय दिया है। " 51

डॉ• नामवर सिंह ने लिखा है कि " सन् 1936 के बाद का हिन्दी साहित्य प्रगतिशील आंदोलन के सचेत और संगठित हस्तक्षेप का फल है और उसे हम चाहें तो वाल्टर बेन्यामिन के शब्दों में " इतिहास के नैरन्तर्य में विस्फोट " की संज्ञा दे सकते हैं। उस समय साहित्य में " प्रगति " से प्रगतिशील लेखकों का यही आशय था। समाज और संस्कृति के समान ही साहित्य भी संकट के दौर से गुजर रहा था। विकास की गति रुद्ध थी। आवश्यकता थी सृजन की शक्तियों के उन्मोचन की। यह उन्मोचन ही प्रगति है। " 52

रचनाकारों के समाजवादी यथार्थवादी रुझान की दृष्टिसे यदि सन् 1936 से 1951 तक के काल को हम प्रगतिवादी काव्यान्दोलन का स्वर्णकाल कहें तो अत्युक्ति न होगी। इस बीच व्यापक पैमाने पर मार्क्सवादी दृष्टि से सम्पन्न रचनाकारों द्वारा साहित्य की तमाम विधाओं में लेखन हुआ, विभिन्न पत्र -

पत्रिकाओं ने रचनाकारों को मंच प्रदान किया तथा प्रगतिशील समीक्षकों ने वैज्ञानिकदृष्टि से मूल्यांकन कार्य भी सम्पन्न किया । कहना न होगा कि प्रगतिशीलता के इस दौर में अनेक ऐसे कवि भी शामिल हुये जो वस्तुत: क्रांतिकारी कविता के नामपर छद्म रच रहे थे । प्रगतिशील लेखक संघ के संदर्भ में विवेचन प्रस्तुत करते हुए यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार इन प्रतिक्रांतिकारी कवियों ने पहले संगठन के भीतर एवं बाद में बाहर से मार्क्स-वादी रचना-दृष्टि पर जोर-शोर से प्रहार किया और आगे चलकर इलाहाबाद में " परिमल " नामक संस्था की स्थापना की । इसके साथ ही एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सन् 1951-52 के बाद प्रयोगवादी काव्यान्दोलन के दरम्यान भी प्रगतिशील साहित्य सृजन अबाध गति से चलता रहा । हाँ ! इतनी बात जरूर है कि यह कुछ दिनों तक प्रतिक्रियावादियों के षडयंत्र एवं प्र॰ले॰स॰ के अपने अन्तर्विरोधों के कारण आलोचना एवं परिसंवाद के दायरे से बाहर हो गया था । पर शीघ्र ही वह पुनर्जीवित होकर दूने वेग से उभरा । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है समकालीन रचनाशीलता में दक्षिणपंथी लेखकों का हाशिए पर आ जाना ।

प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के उत्थान-पतन के दौर से लेकर अबतक जिन प्रख्यात एवं अल्पख्यात कवियों ने अपनी यथार्थवादी रचनाओं के द्वारा प्रगतिशील काव्य-धारा को मात्रा एवं गुण, दोनों ही दृष्टियों से लगातार समृद्ध किया है उनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, शमशेर, शील एवं रामविलास शर्मा के अलावा धूमिल, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, कुंवरनारायण, विनोद कुमार शुक्ल, मंगलेश डबराल, आलोकधन्वा, ज्ञानेन्द्रपति, अरूणकमल, राजेश जोशी, असद जैदी, उदयप्रकाश, देवी प्रसाद मिश्र, विजेन्द्र, नीलाभ, ऋतुराज, वेणु -गोपाल, गोरखपाण्डेय, कुमार विकल, मदन कश्यप, भगवत रावत, कुबेर दत्त,

स्वप्निल श्रीवास्तव, राधे लाल बिजधावने, विनोद दास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इनमें से कुछ कवि यदि प्र०ले०स० से जुड़े हैं तो कुछ ज०ले०स० अथवा जन संस्कृति मंच से । पर केवल संगठन विशेष से रचनाकार की सम्बद्धता के आधार पर ही उसकी रचनाओं को प्रगतिशील अथवा जनवादी कविता कहना बहुत बड़ी भूल होगी । किसी कविता पर इस तरह का लेबल चिपकाने के पूर्व हमें जरा रुककर ठीक ढंग से सोच-विचार कर लेना चाहिए ।

प्रगतिवाद बनाम जनवाद :-

हिन्दी के सुप्रसिद्ध नवगीतकार, वरीय कवि एवं चिंतक राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने अपने एक आलेख में " जनवादी कविता " को आठवें- नवें दशक की मुख्य काव्य-धारा के रूप में रेखांकित करते हुए प्रगतिशील एवं जनवादी कविता के बीच साम्य एवं वैषम्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया है :

1. प्रगतिशील कविता में मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही वैचारिक आधार है । अत: अंतत: ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी विचार-द्रव्य से कथ्य में बदल गया है । जनवादी कविता में वह " विचार धारा " ही अन्तर्दृष्टि में बदल चुकी है । उदाहरणार्थ मुक्तिबोध की दो कविताएँ " पूँजीवादी समाज के प्रति " (प्रगतिशील) और उसकी अगली पृष्ठभूमि पर रचित " कहने दो उन्हें, जो यह कहते हैं " (जनवादी) । फलत: वर्ग-समाज में संघर्ष रत जन - समुदायों का दैनिक जीवनानुभव ही जनवादी कविता का जनाधार है और वह अनुभव सामग्री जब अन्तर्वस्तु में ढलती है, - तब कलात्मकता के प्रभावी होने की शर्त पर ही कारगर और उत्कृष्ट मानी जाती है ।

ii) प्रगतिशील कविता में भाषा से भाषण-नारा-पोस्टर शैली के " घिसे-पिटे पार्टी-लेखन" का भी काम लिया जाता था, जिस धड़ल्ले को लेनिन और माओत्सेतुंग ने भी विरोधनीय

और निरूत्साह के योग्य बताया था । जनवादी कविता भाषा से वैसा काम नहीं लेती, क्योंकि जिस जन-समाज के बीच कविता को गृहीत होना है, उस पर प्रचार-मुद्रा और " जार्गन " फैलानेवाली कविता कतई प्रभावी नहीं होती अत: वह न विचार-धारा के लिए कारगर होती है, न पाठक श्रोता के लिए संवेद्य । उदाहरणार्थ नागार्जुन की एक ही छंद-बन्ध की दो कविताएँ : " नया तरीका " ﴾ प्रगतिशील ﴿ और " अकाल और उसके बाद " ﴾ जनवादी ﴿ । जनवादी कविता भाषा को शैली-शिल्प समेत, जनता और कविता के एकमेक हित में, संवेद्य की सहजता का वाहक बनाती है, फलत: जनवादी कविता की भाषा कवियों की बपौती नहीं, भाषा-भाषियों की सम्पत्ति है । वह प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की शब्दावली नहीं, जो हथियार का काम करें, जन-मानसिकता के बदलते कारीगरों के मनोग्राही औजार का काम करती है ।

iii प्रगतिशील कविता कथ्य-संप्रेषण के लिए संदेश-उपदेशवत सरलीकरण, अतिनाटकीयता, खुली भावुकता और अतिरंजित वर्ग-घृणा की भी अभिव्यक्ति करने लगी थी, बल्कि सैद्धांतिक साँचे में भाव-प्रवण या अनुभूत यथार्थ का अन्ययाकरण भी कर देती थी, जबकि जनवादी कविता में संप्रेषणीयता के लिए भी रचना के संवेदनीय, विश्वसनीय एवं सक्रियकारी होने का आग्रह है, जिसके बगैर रचना प्रभावी नहीं हो सकती । उदाहरणार्थ केदारनाथ अग्रवाल की दो रचनाएँ : " धिक्कार है " ﴾ प्रगतिशील ﴿ और उसकी सत्ता के प्रतिकार में " भविष्य " ﴾ जनवादी ﴿ ।

iv प्रगतिशील कविता की विषयवस्तु और शिल्प-शैली पर-सैद्धांतिक कठमुल्लापन, यांत्रिकता, प्रचाराग्रह, व्यक्तित्व-विरोध और सौन्दर्य निरपेक्षता के आरोपों के अलावा नयी पीढ़ी की युवकोचित

आशाकांक्षा और प्रकृति से साहचर्य की अनुभूति तथा प्रेम भावना की भी अन्ध उपेक्षा से सिद्ध " मानवीयता की अवमानना " का भी फतवा दिया गया था। जनवादी कविता ने ऐसे फतवों की गुंजायश शुरू से ही नहीं रहने दी और रचना में चारित्रिक सामाजिकता तथा सरोकारों की मानवीयता का अन्तर्बन्ध जरूरी और मूर्त्त हो जाने दिया। उदाहरणार्थ त्रिलोचन की " दीवारें-दीवारें " ‖ प्रगतिशील ‖ और " झनगई महरा " ‖ जनवादी ‖।

‖ ‖ प्रगतिशील कविता की विचारधारात्मक प्रतिबद्धता को स्वीकार कर ही जनवादी कविता ने जनपथ धरता अपनायी फिर भी, प्रगतिशील कवि की राजनीतिक दल-सम्बद्धता को प्राय: वैकल्पिक साबित कर जनवादी कविता दल-निरपेक्ष रचना-कर्मियों की अपनी सामुदायिक संगठन धर्मिता से सम्पृक्त रही उदाहरणार्थ दो कविताएँ : " यदि मैं चित्रकार होता " ‖ रघुवीर सहाय ‖ और " बाजार का नाम मुर्दहाँ " ‖ धूमिल ‖।

अपनी उपर्युक्त स्थापनाओं के आलोक में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने लिखा है कि " जनवादी कविता ने प्रगतिशील कविता के प्रसंग में प्रयुक्त राजनीतिक दलील प्रवक्ता या " कमिस्सार " साथियों में बहाल सांस्कृतिक व्याख्याता को - कवि और जनता के बीच या कविता और पाठक के बीच दुभाषिया बने रहने की लम्बी खिंची जवाबदेही से मुक्त कर दिया है। अब जनवादी कविता, नगरीय प्रस्तुति-मंचों से गाँव के खुले मैदानों तक, जनाधारों और स्वयंस्फूर्त संघर्ष के मुकामों पर भी सीधे जनसंस्कृति कर्मियों के बीच-अपने श्रोताओं, पाठकों, गायकों और नाट्य दर्शकों को उपलब्ध हो रही है। इस प्रकार जनवादी कविता-स्वदेशी आधुनिकताबोध के प्रकाश में राष्ट्रीयतावादी काव्य-धारा में बीजांकुरित जनवादिता से और छायावादी-छायावादोत्तर सांस्कृतिकी करण से पल्लवित होती, प्रगतिशील काव्यांदोलन से दिशा-दृष्टि पाकर और प्रयोगवादी नयी कविता के विरोधी चक्रव्यूह तोड़कर, जनचेतना-सम्पन्न नवगीत से सह-यात्रा-सम्बन्ध में सुविकसित होकर, आठवें दशक से ही आज की हिन्दी कविता की मुख्यधारा सिद्ध हो चुकी है। " 53

कहना न होगा कि प्रगतिवाद जनवाद " के संदर्भ में राजेन्द्र प्रसाद सिंह की उपर्युक्त स्थापनाओं में अनेक तात्त्विक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं । किन्तु, इसके साथ ही यह भी सच है कि " जन संस्कृति मंच " के एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी की हैसियत से व्यक्त उनकी एतद्विषयक मान्यताओं का सम्बन्ध किसीन किसी रूप में उस पालेमिक्स [Polemics] से जरूर है जिसके कारण इनमें " प्रगतिशीलता " की जगह " जनवाद " को स्थापित करने का आग्रह अत्यंत प्रबल है । बहरहाल, इतना तो राजेन्द्र प्रसाद सिंह भी अवश्य मानेंगे कि समकालीन हिन्दी कविता की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी जनपक्षधरता है और उसे कवियों के विभिन्न गुटों की हाँरेबंदी में रखते हुए किसी वाद-विशेष के लेबल के तहत रचित मानकर मूल्यांकित करना गलत होगा । इस संदर्भ में डॉ॰नामवर सिंह का मंतव्य बिल्कुल सही जान पड़ता है जो उन्होंने ज्ञानी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ अपने एक साक्षात्कार के क्रम में व्यक्त किया है :

" इस बीच एक बात यह भी हुई कि कविता की दुनिया में प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, नयी कविता, अकविता आदि की बाड़े-बंदी बिल्कुल टूट गयी और इस तरह के सारे लेबल निरर्थक साबित हुए । नतीजा यह हुआ कि आज की कविता पर कोई भी लेबल चिपकाना संभव नहीं है । " 54

इस संदर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात यह कि मांग के चलते समकालीन कविता का बहुधा अवमूल्यन भी हुआ है । इसमें उन तथाकथित प्रगतिशील, जनवादी एवं नव्य जनवादी कहे जाने वाले अनेकानेक कवियों की कविताएँ भी शामिल हैं जो कभी सस्ते प्रचार या नारेबाजी तक सीमित रह गयी हैं तो कभी प्रतिक्रियावश, अमूर्त अस्पष्ट एवं सूक्ष्म-तरल हो गई हैं । फिर भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जिसे तटस्थता एवं वीतरागता कहा जाता था और जो एक समय कविता के विशेष लक्षण समझे जाते थे, उनकी तुलना में, समकालीन कविता संलग्नता, साझेदारी

साहस और मानवीय पहचान पर कहीं अधिक बल देने लगी है । आज यह कवि एवं उसके समय के समाज के बीच अनिवार्य सेतु की भूमिका अदा कर रही है ।

शोध प्रबंध की सीमा के कारण प्रगतिवाद काल से लेकर आज तक की हिन्दी कविता के प्रगतिशील संदर्भों का सम्यक मूल्यांकन न तो यहा संभव है और न ही अपेक्षित । प्रबंध के अगले अध्याय में शोध के लिए प्रस्तावित कवियों (नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन) की सुदीर्घ काव्य-यात्रा के प्रगतिशील संदर्भों पर अलग-अलग विस्तार से विचार किया जायेगा ।

-=-=-

संदर्भ

1· आलोचना, जुलाई 1954· पृ· 114·

2· " प्रगतिशील लेखक संघ " का प्रथम घोषणापत्र (1936, लखनऊ) हंसराज रहबर की पुस्तक " प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन " के परिशिष्ट खण्ड में संकलित, पृ· 225·

3· प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ· 16·

4· डॉ·शशि मुदीराज : छायावाद का समाजशास्त्र पृ· 23·

5· टी·एस·ईलियट : सैलेक्टेड प्रोज

6· साहित्य का उद्देश्य, पृ·

7· डॉ·रांगेय राघव : काव्य यथार्थ और प्रगति - पृ· 62·

8· डॉ·रामविलास शर्मा : भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, खण्ड - एक, पृ· 233·

9· वही, पृ· 232·

10· डॉ·खगेन्द्र ठाकुर : आलोचना, जनवरी - मार्च 1985, अंक - 72 पृ· 114·

11· सरस्वती, भाग - 8, संख्या - 5, मई 1907 पृ· 207·

12· वही, पृ· 208·

13· भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद खण्ड - एक, पृ· 240·

14· आलोचना, अंक - 70, जुलाई - सितम्बर 1984· पृ· 74·

15· सरस्वती, भाग - 5, संख्या - 1, जनवरी 1904, पृ· 1·

16· वही, भाग - 5, संख्या - 4, अप्रैल 1904· ई· पृ· 124-127 पर " शिवाजी और अंग्रेज शीर्षक से प्रकाशित सामग्री ।

17\. " हत्याकारी नाना, तांतिया टोपी और दूसरे विद्रोहियों को इस चाण्डाल कर्म के लिए जो दण्ड मिला, वह सर्वथा उपयुक्त था । " महावीर प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती, भाग - 5, संख्या - 10, अक्तूबर, 1904, पृ० 327.

18\. वही, पृ० 326.

19\. वही, भाग - 6, संख्या - 10, अक्तूबर 1905 ई० पृ० 372.

20\. वही, भाग - 7, संख्या - 12, जनवरी 1906 ई०

21\. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, खण्ड - एक, पृ० 244.

22\. समकालीन सृजन, संयुक्तांक : 9-12, जनवरी - दिसम्बर 1990, पृ० 83, प्रदीप सक्सेना का आलेख : " गणेश शंकर विद्यार्थी का विचारधारात्मक संघर्ष ",

23\. सरस्वती, भाग - 15, पूर्ण संख्या - 174, जुलाई 1914, पृ० 340

24\. आलोचना, अंक - 70, जुलाई - सितम्बर 1984, पृ० 75.

25\. अयोध्यासिंह : भारत का मुक्ति संग्राम, पृ० 573.

26\. रामधारी सिंह " दिनकर " : मिट्टी की ओर, पृ० 147.

27\. जवाहरलाल नेहरू : मेरी कहानी, पृ० 627.

28\. वही, पृ० 601 - 602

29\. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, पृ० 5.

30\. रजनी पाम दत्त : आज का भारत, पृ० 432.

31\. हंसराज रहबर : " प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन " पृ० 25 पर सज्जाद जहीर की पुस्तक रोशनाई से उद्धृत ।

32\. वही, पृ० 14. पर " नया अदब ", जनवरी - फरवरी अंक, 1941 में प्रकाशित सज्जाद जहीर के " यादें " लेख से उद्धृत ।

33• प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य पृ• 2•

34• साहित्य का उद्देश्य, पृ•

35• " प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन, " पृ• 225 – 226 पर उद्धृत

36• वही, पृ• 54• पर सज्जाद जहीर की पुस्तक " रोशनाई " से उद्धृत

37• प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, पृ• 69• पर " हंस "
जनवरी 1950 से उद्धृत ।

38• " प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन ", पृ• 219 – 220•

39• प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, पृ• 79•

40• " प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन " पृ• 220•

41• कदम – 4, पृ• 16•

42• परम्परा का मूल्यांकन, पृ• 106•

43• सरस्वती, सन् 1915, हीरक जयंती अंक, पृ• 62–63•

44• हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ• 234• पर उद्धृत

45• वही, पृ• 234•

46• वही, पृ• 306•

47• छायावाद का समाजशास्त्र, भूमिका, पृ• 4•

48• हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ• 306•

49• लोकजीवन और साहित्य, पृ• 45•

50• प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य – मूल्य, पृ• 125•

51• वही, पृ• 126•

52. वाद विवाद संवाद, पृ. 96.

53. राजेन्द्र प्रसाद सिंह : करार, जुलाई - दिसम्बर 1988, वर्ष - 2, अंक - 3, पृ. 67 - 68.

54. नामवर सिंह : समकालीन भारतीय साहित्य अक्तूबर - दिसम्बर 1990, पृ. 171.

--=--=--

अध्याय दो :

प्रगतिवादी काव्यधारा में नागार्जुन,
केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन की
प्रस्थिति

प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन और नागार्जुन

प्रगतिवाद हिन्दी कविता के इतिहास में एक ऐसा महत्त्वपूर्ण आन्दोलन है जो स्वतंत्रताप्राप्ति की प्रक्रिया से गुजरते भारत के भविष्यचिंतन के क्रम में पैदा हुआ था । इसके साथ ही वह हिन्दी का एकमात्र ऐसा साहित्यिक आन्दोलन है जो यथार्थवादी कला, मार्क्सवादी विचारधारा एवं लोकोन्मुख चेतना से युक्त है और इसके साथ ही जन-जीवन, लोक-चेतना अथवा समाज में प्रत्यक्ष और क्रियात्मक हस्तक्षेप की शक्ति, क्षमता और आत्मविश्वास से सम्पन्न है । वस्तुत: प्रगतिवादी कविता शोषणमुक्त समाज के निर्माण की एक व्यापक योजना का अंग बनकर इतिहास के दृश्यपटल पर आयी और अपनी संकलित उद्देश्यपरकता तथा विशिष्ट प्रवृत्यात्मक पहचान के कारण उसने साहित्य-सृजन के क्षेत्र में अपना ऐतिहासिक महत्व कायम किया ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आज से तकरीबन 39 साल पहले प्रगतिवादी रचनाशीलता की ऐतिहासिक शक्ति एवं साहित्यिक महत्ता को रेखांकित करते हुए लिखा था - "प्रगतिवादी आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है । इसमें सांप्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएँ अत्यधिक हैं । भक्ति के महान् आंदोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है ।[1]" इसके साथ ही उन्होंने प्रगतिवादी आंदोलन के संदर्भ में संभावित खतरे की ओर भी इशारा किया था - "भक्ति का महान् आंदोलन सांप्रदायिकता की चट्टान से टकराकर चूर्ण-विचूर्ण हो गया । इस आंदोलन में भी एक प्रकार की सांप्रदायिकता के उगने के चिह्न दीखने लगे हैं। आशा करनी चाहिए कि वह बढ़ नहीं पाएगा और मनुष्य को सब प्रकार के शोषणों और बंधनों से मुक्त करने की महिमामयी साधना सफल होगी ।"[1]

कहना न होगा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे क्रांतदर्शी साहित्यकार ने प्रगतिवादी आंदोलन के संदर्भ में जिस खतरे का संकेत किया था उसे न रोक पाने के कारण ही छटे दशक के आरंभ में संगठित रूप में प्रगतिवाद का शीराजा बिखर गया और वह कुछ समय तक समाप्त प्राय: प्रतीत होने लगा । किन्तु सचाई यह है कि प्रगतिशील काव्य-धारा इन दिनों भी अवरूद्ध नहीं थी । वह प्रयोगवाद एवं किसिम-किसिम की कविता के अनेक अल्पायु आंदोलनों के दरम्यान भी कहीं न कहीं अन्त: सलिला की तरह प्रवहमान थी । जब सातवें-आठवें दशक में कोहरा छँटा तो यह दूने वेग से प्रकट हुई और आज स्थिति यह है कि हिन्दी ही नहीं, बल्कि तमाम भारतीय भाषाओं के अधिकांश महत्वपूर्ण रचनाकार किसी न किसी रूप में जनपक्षधरता की शर्त का निर्वाह अवश्य कर रहे हैं । इन कवि - लेखकों की रचनात्मक ईमानदारी के कारण साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में साम्राज्य-वादियों एवं बुर्जुआ ताकतों का मोर्चा संभाले वे अधिकांश लेखक आज हाशिए पर के लेखक भी नहीं रहे हैं जो कलात्मकता, साहित्यिकता एवं रूपगत विशिष्टताओं के नाम पर विकासशील देशों के भोले-भाले पाठकों के चमत्कृत कर उनके सामने साहित्य के रूप में पतनशील मूल्यों का मीठा जहर परोसते रहते हैं। साम्राज्य - वादियों के ऐसे कुटिल सांस्कृतिक षडयंत्रों से हिन्दी के जिन कवियों ने अपनी प्रगतिशील चेतना से परिपूर्ण रचनाओं द्वारा अवाक को हमेशा सतर्क करते हुए उसे क्रांतिकारी दिशा निर्देश प्रदान किया है, उनमें नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन का नाम अग्रगण्य है जिन्हें प्रगतिवादी काव्यान्दोलन की त्रयी के रूप में जाना जाता है । ऐसे इस संदर्भ में शमशेर, मुक्तिबोध, शील, एवं डॉ॰रामविलास शर्मा के अलावा अनेकानेक प्रख्यात एवं अल्पख्यात कवियों का योगदान भी कहीं से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं ।

मार्क्सवादी इतिहासकारों एवं समाज वैज्ञानिकों ने सन् 1947 में हिन्दुस्तान को मिली आजादी को देशी सामंतवाद पूँजीवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद के बीच हुए उस समझौते के रूप में रेखांकित किया है,

जिसमें आजादी के बाद भारतीय बुर्जुआ के शासन काल में भी भारत में साम्राज्यवादियों के आर्थिक हितों की सुरक्षा की गारंटी दी गई थी । डॉ॰रामविलास शर्मा के शब्दों में " भारत में लोकप्रिय मंत्रिमण्डल किस प्रकार ब्रिटेन के आर्थिक हितों की रक्षा करे, इसकी ट्रेनिंग सबसे पहले कांग्रेसी नेताओं को 1937 वाले दौर में मिली । दूसरी बार यह ट्रेनिंग उन्हें सन् 46–47 की अंतरिम सरकार के दौरान मिली । "[2] हालांकि सन् 1929 में जवाहरलाल नेहरू के माध्यम से कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य घोषित कर चुकी थी पर 1947 में प्राप्त यह लक्ष्य भारतीय बुर्जुआ के लिए भले ही पूर्ण हो, आम जनता के लिए यह निश्चय ही अपूर्ण रहा है । कारण यह कि इस तथाकथित आजादी के बाद भी " भारत से ब्रिटेन के आर्थिक हित गायब नहीं हो गए, विदेशी बैंकों से कर्ज लेकर दरअसल भारत सरकार ने विदेशी पूँजी के दबाव को बढ़ने दिया । "[3]

अतः ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति में मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों एवं पार्टी के नेताओं में यदि भारत की आजादी के खोखलेपन को उजागर करते हुए राष्ट्रवादी कहीं जानेवाली कांग्रेस पार्टी के जनविरोधी चरित्र का पर्दाफाश किया तो इसकारण उन्हें राष्ट्रविरोधी बताने वालों की नीयत स्वतः स्पष्ट हो जाती है । न केवल राजनीति के क्षेत्र में बल्कि उस समय साहित्य एवं संस्कृति के मोर्चे पर सक्रिय मार्क्स-वादी विचारधारा वाले रचनाकारों की अनेकानेक रचनाओं तथा उनके वक्तव्यों में भी हमें आजादी के ठीक बाद राष्ट्र पूँजीपतियों एवं उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों के विरूद्ध मुखालफत का अत्यंत मुखर स्वर सुनायी पड़ता है । उदाहरण के लिए सन् 1949 ‖ 25 सितम्बर ‖ में इलाहाबाद में आयोजित युक्त प्रांत के प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन में अध्यक्ष पद से दिये गए नागार्जुन के भाषण का एक अंश द्रष्टव्य है :

" हम शासक - शोषक वर्ग के पिछलगुआ जी - हुजूर, चाटुकार लेखक नहीं हैं । हम बिड़ला-टाटा डालमियाँ के चाकर नहीं हैं । हम नेहरू और पटेल की थाप पर थिरकने-ठमकने वाले आर्टिस्ट नहीं हैं । सर्वसाधारण जनता को ही हम अपनी अधिस्वामिनी समझते है । हमारी सारी प्रेरणाओं और कल्पनाओं का मूल स्रोत वही है । [4]

कहना न होगा कि एक प्रगतिशील रचनाकार द्वारा सर्वसाधारण जनता को ही अपनी अधिस्वामिनी तथा सारी प्रेरणाओं एवं कल्पनाओं के मूल स्रोत के रूप में अंगीकार किया जाना उसकी वैज्ञानिक समझ एवं प्रगतिशीलदृष्टि का ही परिचायक है । कारण यह कि साहित्यकार को जहाँ से प्रगति के लिए शक्ति मिलती है, वह शक्तिस्रोत जनता ही है । [5]

नागार्जुन - काव्य की प्रगतिशील भूमिका :

नागार्जुन एक बहुआयामी प्रतिभा से सम्पन्न रचनाकार हैं । उनका रचनासंसार समान रूप से गद्य एवं पद्य दोनों ही क्षेत्रों तक प्रसारित है । रचनात्मकता के इस विपुल प्रसार में हमें जीवन-जगत के अनेक रंगों की झाँकी दिखाई देती है । पर मुख्य रूप से वहाँ हमें ग्रामीण परिवेश का प्रामाणिक चित्रण प्रचुर मात्रा में मिलता है । ग्रामीण जीवन की संवेदना को वही रचनाकार प्रामाणिक अभिव्यक्ति दे सकता है जो उसे शहर से रहकर दूरबीन से देखने के बजाय गांव में रहते हुए नंगी-खुली आँखों देख व भोग सका हो । नागार्जुन ने देहात में रहकर उस जीवन की विभिन्न समस्याओं तथा वहाँ रहनेवालों की जीवनस्थिति को करीब से अनुभव किया है । बिहार प्रांत के मिथिलांचल में जन्में नागार्जुन का इस भूमि के प्रति कितना लगाव है इसे उनकी एक मैथिली कविता में देखा जा सकता है जब कवि उसे छोड़कर जाने के समय करुण भाव से इसे अपना " अंतिम प्रणाम " निवेदित करता है :

हे मातृभूमि, अन्तिम प्रणाम
अहिबातक पातिल फोड़ि-फाड़ि
पहिलुक परिचय के तोड़ि-ताड़ि
पुरजन-परिजन सब कें छोड़ि-छाड़ि
हम जाय रहल छी आन ठाम

दु:खोधि सं संतरण-हेतु
चिर विस्मृत वस्तुक स्मरण-हेतु
सूतल सृष्टिक जागरण-हेतु
हम छाड़ि रहल छी अपन गाम

कर्मक फल भोगथु बूढ़ बाप
हम टा संतति, हे हुनक पाप
ई जानि हवैन्हि जनु मनस्ताप
अनको बिसरल थिक हमर नाम
माँ मिथिले, ई अंतिम प्रणाम । [6]

स्पष्ट ही इस कविता में कवि नागार्जुन एक ऐसे परिव्राजक के रूप में उपस्थित हुए हैं जो महाभिनिष्क्रमण करते समय कन्फ्रेशन की मानसिकता में होता है। तभी वह भाग्यवाद एवं कर्मफल की बात कर रहा है । परन्तु इसी कारण नागार्जुन के कवि को अंधपरम्परावादी या अंधविश्वासी मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी । डॉ॰विजय बहादुर सिंह ने उनके संदर्भ में ठीक ही लिखा है कि " नागार्जुन उन कठमुल्लों में नहीं हैं जो अपने संस्कारों के साथ जबर्दस्ती या नाइंसाफी करें और उन लोगों में से भी नहीं जो अपने अनुभवों को किन्हीं राजनीतिक या आर्थिक दबावों के चलते छिपा लें । एक कवि की सबसे पहली

ही नहीं सबसे आखिरी जिम्मेदारी भी अपने काव्यानुभव के प्रति होती है । भारतीय मीमांसा यह राय रखती है कि मानव-व्यक्तित्व एक अविभाज्य पूर्णता है और उसके सभी अंग और इन्द्रियां एक दूसरे पर आश्रित और एकदूसरे के कार्य में सहायक हैं । यह भी कि सभी मानव क्रियाएँ जो समाज को स्वस्थ और अखण्ड बनाये रखती हैं, समान रूप से महत्वपूर्ण और सार्थक हैं, और वे परस्पर सम्बद्ध हैं । इसीलिए जबक्कवि के अनुभव की बात चलती है तो उसे लोक या काल निरपेक्ष नहीं माना जा सकता । नागार्जुन का कमाल यह है कि वे कुछ ज्यादा ही समय सापेक्ष हैं। नागार्जुन विराट काल पर भी निगाह रखते हैं और उसके क्षण-क्षण परिवर्तित रूप पर भी । इस रूप में वे अपने सृजन के भीतर स्वयं एक परम्परा का निर्माण करते हैं। ठीक धरती की गति की तरह वे विराट विश्व की परिक्रमा तो करते ही हैं, अपनी धुरी पर भी घूम लेते हैं। कुछ लोग हैरान होते हैं कि वे एक ही साँस में परस्पर भिन्न राग कैसे गा लेते हैं। पर यह उनकी समझ का खोट है । नागार्जुन का प्रकृत दोष- नहीं । " 7

नागार्जुन एक बहुपठित एवं बहुश्रुत कवि हैं । जहाँ एक ओर वे संस्कृत, हिन्दी बंगला आदि के साहित्य के अलावा भी कई भारतीय भाषाओं का सम्यकज्ञान रखते हैं वहीं दूसरी ओर वे बौद्ध-सिद्ध साहित्य के भी प्रकाण्ड पंडित हैं । संस्कृत, हिन्दी, मैथिली एवं बंगला में उनकी समान रूप से गति है तथा वे इन भाषाओं के रचनाकार भी हैं। पर इन सब के बावजूद उनकी रचना में पंडिताऊपन कहीं से नहीं है । वस्तुत: वे सच्चे अर्थों में जनकवि हैं। नागार्जुन की कविताओं में जनभाषा का जो प्रयोग हमें दिखाई देता है वह कवि के सच्चे जनजुड़ाव का प्रमाण है । उनकी रचनाशीलता जनभाषा के कुछ शब्दों के जोड़-तोड़ से लिखी जानेवाली कविताओं की तरह अस्वाभाविक नहीं है । सच तो यह है कि कवि ने जनभाषा के सटीक प्रयोग से कविता में भाषा एवं अनुभव की दूरी को एक तरह से पार दिया है । ऐसे तो नागार्जुन काव्य का बहुलांश

कविता में जनभाषा के प्रयोग का आदर्श उदाहरण है पर इस संदर्भ में उनकी " खुरदुरे पैर " शीर्षक कविता विशेष रूप से द्रष्टव्य है :

खुब गए
दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयों वाले खुरदुरे पैर
धँस गए
कुसुम-कोमल मन में
गुट्ठल घट्ठों वाले कुलिश-कठोर पैर

दे रहे थे गति
रबड़-विहीन ठूँठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
घण्टों के हिसाब से ढोये जा रहे थे !

देर तक टकटकाए
उन दिन इन आँखों से वे पैर
भूल नहीं पाऊँगा फटी बिवाइयाँ
खुब गईं दूधिया निगाहों में
धँस गईं कुसुम-कोमल मन में[8]

जाहिर है कि कवि ने यहां रिक्शा चलाने वाले मजदूर का न केवल सजीव चित्र उपस्थित किया है बल्कि सामान्य जन के प्रति अपनी सहज सामान्य अनुभूति को भी अभिव्यक्ति दी है ।) इस कविता में केवल दो शब्द " कुलिश "

एवं " त्रिविक्रम " किसी अध्येता को जनभाषा की प्रकृति के प्रतिकूल लग सकते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि ये दोनों ही शब्द नागार्जुन की मातृभाषा मैथिली में बहुप्रचलित हैं तथा आम जनता की जुबान पर चढ़कर लोकभाषा के ही शब्द के रूप में जाने जाते हैं । ऐसे भी इस कविता की संरचना में आए ये शब्द किसी भी तरह काव्य-तत्व के सम्प्रेषण में बाधक सिद्ध नहीं होते ।

नागार्जुन घोषित रूप में एक प्रतिबद्ध एवं जनपक्षधर रचनाकार हैं। वे हिन्दी के उन मुट्ठी भर कवियों में एक हैं जिनके शब्दकर्म में शोषित-पीड़ित जनता के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति के बजाय एक प्रकार की सहज आत्मीयता से परिपूर्ण साझेदारी का भाव दृष्टिगत होता है । इसका कारण यह है कि उन्होंने स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में चलाये जाने वाले किसान आंदोलन से लेकर आजतक के विभिन्न जनान्दोलनों में सक्रिय रूप से भागलिया है और यह सर्वविदित तथ्य है कि इस क्रम में कई बार उन्हें जेल तक जाना पड़ा है । अतः जब ऐसा कवि अपनी प्रतिबद्धता को डंके की चोट पर घोषित करता है तो इस घोषणा की सार्थकता का अपना विशिष्ट महत्व है :

प्रतिबद्ध हूँ
सम्बद्ध हूँ
आबद्ध हूँ

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ -
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त -
संकुचित " स्व " की आपाधापी के निषेधार्थ - - -
अविवेकी भीड़ की " भेड़िया-धसान के खिलाफ
अंध-बधिर व्यक्तियों को सही राह बतलाने के लिए

अपने आप को भी " व्यामोह " से बारम्बार उबारने
की खातिर
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ !

x x x

निश्चय-अनिश्चय से, संशय, भ्रम से, क्रम से, व्यतिक्रम से
निष्ठा-अनिष्ठा से, आस्था-अनास्था से, संकल्प-विकल्प से
जीवन से, मृत्यु से, नाश-निर्माण से, शाप-वरदान से
उत्थान से, पतन से, प्रकाश से, तिमिर से
दंभ से, मान से, अणु से, महान से – – –
लघु-लघुतर-लघुतम से, महा-महाविशाल से – – –
पल-अनुपल से, काल-महाकाल से
पृथ्वी-पाताल से, ग्रह-उपग्रह से, नीहारिका जल से
रिक्त से, शून्य से, व्याप्ति-अव्याप्ति-महाव्याप्ति से
अथ से, इति से, अस्ति से, नास्ति से – – –
सबसे और किसी से नहीं
और जाने किस-किस से – – –
सम्बद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा सम्बद्ध हूँ ! [9]

यह कविता सन् 1975 में रचित है परन्तु कवि अपनी पक्षधरता एवं प्रतिबद्धता का सबूत अपनी रचनाशीलता के आरंभ से ही देता आ रहा है । वस्तुत: नागार्जुन वैसे कवियों में नहीं हैं जो घोषणा पहले करते हैं और उसके कार्यान्वयन अथवा अमल की बात बाद में सोचते हैं । कहना न होगा कि ऐसे अनेकानेक कवि प्रगतिवादी काव्यान्दोलन के दौर में ही नहीं बल्कि जनवाद एवं नवजनवाद जैसे आन्दोलनों के दौर में आज भी शामिल हैं । सियासी कारणों से उपजे विभिन्न

वामपंथी साहित्यिक सांस्कृतिक संगठनों की पूँछ पकड़ कर लाभ- लोभ के अनुसार जीवन-यापन करते हुए क्रांतिकारी कविता लिखने का स्वांग भरने वाले इन रचना - कारों की कोरी लफ्फाजियाँ समय के झाड़ू से बुहार दी जाएंगी । कविता के नाम पर साहित्यिक कचड़ा का उत्पादन करने वाले ये कवि भले ही साहित्य के इतिहास में हाशिए पर थोड़ी जगह पाने में सफल हो जाएँ पर कलांतर में विलुप्त हो जाना ही इनकी एक मात्र नियति है । ऐसे नकली प्रगतिवादियों एवं जनवादियों से बिल्कुल भिन्न नागार्जुन के कवि ने सन् 1950 में ही आत्मालोचन करते हुए " पक्षधर " जैसी कविता लिखी थी । हालांकि उनकी इस कविता के रचनाकाल के पूर्व भी वे इन्हीं रचनात्मक शर्तों के कायल थे —

चाहते हो —
　　अगर तुम निर्विघ्न होकर
　　शांतिपूर्वक
　　शिल्प-संस्कृति-कला का, साहित्य का निर्माण करना

x　　x　　x

तो उठो —

　　मन और तन की समूची ताकत लगाकर
　　विघ्न-बाधा के पहाड़ों को गिरा दो, ढाह दो ।
　　अमंगल के अशुभ के उन हेतुओं को ध्वस्त कर दो !
　　खोद कर निर्मूल कर दो कण्टकावृत झाड़ियों को !
　　राह में रोड़े पड़े हैं अमित-अगणित - —
　　उन्हीं से अतान्त गह्वर को पाट डालो !

अन्यथा —

कुछ भी नहीं तुम कर सकोगे
बहुत होगा, भागकर शिमला कि नैनीताल
अथवा मसूरी के पास जाकर
ललित लोकायन बनाकर
वहीं क्षेत्रन्यास लोगे

x x x x

अजी आओ —

इतर साधारण जनों से अलहदा होकर मत रहो ;
कलाधर या रचयिता होना नहीं पर्याप्त है
पक्षधर की भूमिका धारण करो - - -
विजयिनी जनवाहिनी का पक्षधर होना पड़ेगा - - -
अगर तुम निर्माण करना चाहते हो
शीर्ज संस्कृति को अगर सप्राण करना चाहते हो । [10]

किन्तु, नागार्जुन-काव्य में प्रतिबद्धता एवं पक्षधरता के सवाल पर विचारते हुए हमें हमेशा यह ध्यान रखना होगा कि वहाँ प्रतिबद्धता का अर्थ सिद्धांत कथन अथवा घिसे-पिटे पार्टी लेखन तक सीमित नहीं है । कवि इस बात से अच्छी तरह वाकिफ है कि सिद्धांत को खुद काव्य-विषय बनने के बजाय खून की चमक की तरह कविता में झलक मारना चाहिए और संभवतः इसी कारण उसकी प्रगतिशील चेतना से परिपूर्ण कविताओं में भी मानवीय संवेदना का सहज स्वरूप विद्यमान है । मनोहर श्याम जोशी को दिये साक्षात्कार में अपनी पक्षधरता के संदर्भ में नागार्जुन ने

साफ कहा है कि " हम सर्वहारा के साथ हैं, अपनी राजनीति में, अपने साहित्य में, किन्तु हमें इस विषय में किसी की लगाई कैद मंजूर नहीं है । हम गरीब किसान के साथ हैं, गरीब मजदूर के साथ हैं, हरिजन के साथ हैं । इनका उद्धार हो ऐसा हम चाहते हैं । लेखक को स्वतंत्र इकाई के रूप में पार्टी के अन्दर और पार्टी के बाहर भी देखना होता है । जिन्दगी से उसका रिश्ता पार्टी के सदस्य होने से कहीं बड़ा होता है । दूर तक फैला होता है । " ।। कहना न होगा कि इसी समझदारी के अभाव में प्राय: वामपंथी कहे जाने वाले अनेकानेक रचनाकारों की कविताएँ प्रोपेगण्डा अथवा घिसे-पिटे पार्टी लेखन का उदाहरण बनकर रह जाती है जिसका लेनिन एवं माओं जैसे विचारकों ने भी कड़ा विरोध किया है । नागार्जुन के रचनाकार ने चिंतन से प्राप्त वैचारिक पक्षधरता की जगह विवेक के साथ लोकबद्ध होने की प्रक्रिया में ही विचारधारा का अर्जन एवं आत्मसातीकरण किया है । इसी कारण उन्हें सिर्फ एक आन्दोलन की सीमा में बाँधकर देखना उचित नहीं होगा । वस्तुत: वे हिन्दी जाति की सम्पूर्ण काव्य-परम्परा के प्रतिनिधि जनकवि हैं।

राजनीतिक चेतना तथा सामाजिक व्यंग्य :-

नागार्जुन-काव्य का एक सशक्त एवं महत्वपूर्ण पक्ष है राजनीतिक चेतना । कवि की साफ मान्यता है कि जीवन एवं राजनीति एक दूसरे से अभिन्न ही नहीं बल्कि उसके पर्याय हैं । राजनीति की जगह संस्कृति की समस्याओं को ज्यादा महत्वपूर्ण घोषित करनेवाले छायावादियों की राजनीति एवं संस्कृतिमूलक द्वैत दृष्टि तथा स्वयं को संस्कृति का संरक्षक बतानेवाले लोगों द्वारा राजनीति से कवियों - कलाकारों दूर रहने का उपदेश दिया जाना कवि को कहीं से भी गवारा नहीं है । ऐसे सफेदपोशों को मुँह चिढ़ाते हुए नागार्जुन कहते हैं :

" राजनीति क्या है ? विष्ठा है, मल है !
साहित्य क्या है ? गंगा का जल है !
दिखाने के और दांत, खाने के और
आप तो अमलेन्दु जी ठहरे समाज के सिरमौर
जातिवाद डण्डा है, राजनीति मथनी !
करनी अलग है, अलग है कथनी !!

x x x

मगर हुजूर मुआफ, हो बेअदबी
अगर मैं उछल-उछल के कहूँ कि
ऐंठ रहा है जीवन, सुलग रहा है जीवन
राजनीति पर हावी हो रहा है जीवन
ढोंगियों की पोल खोल रहा है जीवन

x x x

जीवन है राजनीति, राजनीति है जीवन
अन्तस् की अभिव्यक्ति ही तो होगा साहित्य । " 12

राजनीति नागार्जुन की कविताओं की रीढ़ है । शासक, शोषक वर्ग की जन-विरोधी राजनीति के विरूद्ध कवि बहुजन के मंगल-विधान के लिए मानवीय राजनीति का पक्षधर है । कवि की पक्ष-धरता उस जन समुदाय के साथ है जो आजादी के वर्षों बाद भी अधपेट है, अधनंगा है, बेघर है, लाचार है । सोते-जागते, उठते-बैठते प्रतिपल यह कवि सर्वहारा के साथ है । मजलूमों के विराट कारवां के साथ कवि नागार्जुन एक हो गए हैं । उनके जीवन एवं सृजन में द्वैत

नहीं रह गया है । जहाँ कहीं भी हक के लिए लड़ती जनता को दमन की लाठी लगती है कवि भी आहत हुए बिना नहीं रहता । जहाँ कहीं भी जन जीतता है, कवि हर्ष-विभोर हो उठता है । जब कभी जनता दीर्घकालिक जंग की जद्दो - जहद से थकती दिखाई पड़ती है, कवि उसे आत्यंन्तिक विजय के प्रति विश्वस्त करता हुआ उद्बुद्ध, उत्प्रेरित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता —

" खत्म होंगे विलासी गढ़ मिटेगी अंधी गली
निजी श्रमशीकर बनेंगे मौलि की मुक्तावली
कोटि-कोटि करों को सक्रिय रखेंगे मित्र हम । "

क्रांतिकारी कविता के नाम पर प्रतिक्रांतिकारी रुख अख्तियार किये आमआदमी के तथाकथित प्रवक्ताओं की खोटी नीयत से नागार्जुन पूरी तरह परिचित हैं । नंगे खुरदुरे पैरों वाले जन से एक विशिष्ट दूरी बनाये रखते हुए ये कवि जब स्वयं ही " एक भारी भरकम एवं अनूठी उपाधि का टोपा ओढ़ लेते हैं तो नागार्जुन का माथा ठनकता है और उन्हें ऐसे लोगों की मंशा पर संदेह होने लगता है । जब कवि को इन तथाकथित परिवर्तनकामियों की बुरी नीयत का पता चल जाता है तो वह उनके सर्वनाश का संकल्प करता है :

" तो सुन लो !
जी, दोनों कान खोलकर सुन लो !
मैं नरक के गलियारों तक
इस दुष्ट का पीछा करूँगा
" आम आदमी " का एकमात्र प्रवक्ता होने की
इसकी यह ढोंग मैं कभी बर्दास्त नहीं करूँगा । " 14

वस्तुत: नागार्जुन का कवि उन तमाम लोगों से दो-दो हाथ करने के लिए सतत उद्यत है जो सर्वहारा के हितों के प्रतिकूल खड़े हैं। निम्न मध्यम वर्ग के जीवन को उत्तरोत्तर जर्जर बना देनेवाली पूँजीवादी, साम्राज्यवादी व सम्प्रदायवादी शोषक शक्तियों के विरुद्ध कवि यत्र-तत्र-सर्वत्र लेखनी का लौह-दंड एवं प्रतिहिंसा का स्थायी भाव लेकर खड़ा है :

" नफरत की अपनी भट्ठी में
तुम्हें गलाने की कोशिश ही
मेरे अन्दर बार-बार ताक्त भरती है
प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है अपने ऋषि का,
वियत्काङ• के तरूण गुरिल्ले जो करते थे
मेरी प्रिया वही करती है ......
नव-दुर्वासा, शबर-पुत्र मैं, शबर-पितामह
सभी रसों को गला-गलाकर
अभिनव द्रव तैयार करूँगा
महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन
अष्ट धातुओं के चूरे की छाई में मैं फूँक भरूँगा
देखोगे, सौ बार मरूँगा
देखोगे, सौ बार जिऊँगा
हिंसा मुझसे थर्राएगी
मैं तो उसका खून पिऊँगा
प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है मेरे कवि का
जन-जन में जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्गाता हूँ उस रवि का। " 15

मार्क्स ने मध्यवर्ग को छद्म बुर्जु ा कहा है। निम्नवर्ग का निकटतम वर्गीय होने के बावजूद यह वर्ग हमेशा उच्च वर्ग की नकल करना चाहता है। वस्तुत: मध्यवर्ग हमेशा असुरक्षा की भावना से ग्रस्त होता है और इसी कारण वह केवल अपनी स्थिति को मजबूत बनाने की ताक में लगा रहता है। इस वर्ग में नौकरी पेशा करने वाले सामान्य कर्मचारियों से लेकर चार अंकों में पगार पाने वाले वे तमाम प्राध्यापक एवं अधिकारी वर्ग के लोग शामिल हैं जो अपनी ही दुनिया में इतने मस्त रहते हैं कि उन्हें पास-पड़ोस, समाज-राष्ट्र, साहित्य-संस्कृति आदि पर सोचने विचारने की तनिक फुर्सत नहीं होती। नागार्जुन ऐसे आत्मकेन्द्रित महानुभावों की भी खबर लेते है :

जी हाँ, लिख रहा हूँ .....
बहुत कुछ ! बहोत बहोत !!
ढेर-ढेर-सा लिख रहा हूँ !
मगर, आप उसे पढ़ नहीं
पाओगे ... देख नहीं सकोगे
उसे आप !

x x x x

आप तो " फोर फिगर " मासिक ....
वेतन वाले उच्च-अधिकारी ठहरे,
मन-ही-मन तो हँसोगे ही,
कि भला यह भी कोई
काम हुआ, कि अनाप —
शनाप खयालों की

महीन लफ्फाजी ही
करता चले कोई --
यह भी कोई काम हुआ भला ![16]

डॉ. विजयबहादुर सिंह ने लिखा है कि नागार्जुन के लिए वामपंथी राजनीति " अपनी जनता के संघर्षों से जूझने का साधन है । रूस या चीन या लेनिन-माओ की पूजा का पोथा नहीं । इसलिए वे निरंतर अपना ध्यान जनता के खिलाफ होने वाले हमलों पर लगाए रहते हैं । चाहे जवाहरलाल नेहरू का शासन-काल हो चाहे इंदिरा गाँधी का, वे हर वक्त शासन की जन-विरोधी नीतियों के जबर्दस्त प्रतिवादी रहे हैं । उनके प्रतिवाद की यह आग कभी मंद नहीं हुई, बुझने की कौन कहे । "[17] इस तथ्य की पुष्टि नागार्जुन के उस वक्तव्य से भी होती है जो उन्होंने अपने एक साक्षात्कार क्रम में दिया है - " मैं स्थानीय घटनाओं से निर्लिप्त होकर मार्क्सवादी नहीं रहना चाहता । .. .. मेरे संदर्भ में राष्ट्रीय मार्क्सवाद शब्द ही ज्यादा सही होगा । भारत ही में क्यों संपूर्ण दक्षिणी एशिया में मार्क्सवाद तभी फलदायी होगा जब वह राष्ट्रीयता से जुड़ेगा । "[18] जाहिर है कि विचारधारा से मार्क्सवादी होते हुए भी कवि नागार्जुन को अपने देश और बहुजन के हितों की कीमत पर दल मात्र की दरबानी स्वीकार्य नहीं है । तभी उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी से आगे चलकर त्यागपत्र दे दिया । इस संदर्भ में 1962 के चीनी साम्राज्यवादी आक्रमण के खिलाफ माओं को लक्ष्य कर लिखी गई उनकी एक कविता की चंद पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

" वह माओं कहा है ? वह माओ मर गया
यह माओं कौन है, बेगाना है यह माओ
आओ इसको नफरत की शूलों से नहलाओ
आओ इसके खूनी दाँत उखाड़ दें
आओ इसको जिन्दा ही कब्र में गाड़ दें । "[19]

इतनी ही नहीं, नागार्जुन का कवि हमेशा साम्यवादी आन्दोलन के अंतर्राष्ट्रीय मंच पर सक्रिय विभिन्न नेताओं के अन्तर्विरोधों की भी खिल्ली उड़ाने से नहीं चूकते । चीनी नेता हुआ कुओं पेंग तथा युगोस्लाविया के मार्शल टीटो पर लिखित उनकी व्यंग्य कविताएँ द्रष्टव्य हैं :

1· " हुआ ! हुआ !! हुआ !!
तुमने तो सचमुच चाँद को छुआ !
सफाई से जीत गये जुआ ....
क्या करेगा तुम्हारा कन्फूशियस मुआ !
मैं तो भला लूँगा ही लूँगा --
सम्पूर्ण क्रांति का अपना पुआ ---
माओ की " आत्मा " से माँगता हूँ यही तो दुआ !
देख लो, अमर से अमृत-बिंदु चुआ ----
हुआ, जो, हुआ ! " 20

2· " सह - अस्तित्व की लकीर पीटो !
हुआ के माथे पर दूब-अच्छत छीटो !
ब्रेजनेव व कार्टर को लाड़ में घसीटो !
माई डियर दद्दू हमारे, मार्शल टीटो !!
मैत्री की चादर को ज्यादा न पछीटो !! " 21

लेकिन उपर्युक्त उद्धरणों से यह बचकाना निष्कर्ष निकालने की जरूरत नहीं है कि नागार्जुन पूर्ण रूप से प्रतिबद्ध कवि नहीं है अथवा यह कि मार्क्सवाद में उनका पूर्ण विश्वास नहीं है । वास्तविकता यह है कि नागार्जुन मार्क्सवादी संदर्भों में प्रतिबद्ध तो हैं पर कठमुल्ला नहीं । जिन लोगों को मार्क्सवाद का कठमुल्लापन

ही पसंद आता है उनको नागार्जुन के कवि से भारी निराशा होगी । सच तो यह है कि नागार्जुन का मार्क्सवाद ही हमारे लिए फलदायी एवं श्रेयस्कर हो सकता है जिसमें जातीय संस्कृति की रूढ़ियों का भंजन एवं प्रगतिशील तत्वों के आत्म - सातीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है । मार्क्सवाद के प्रति उनकी निष्ठा का प्रमाण देनेवाली अनेकानेक कविताओं की संख्या गिनाना कितना मुश्किल कार्य है इसे नागार्जुन-काव्य का हर अध्येता अच्छी तरह जानता है । फिर भी, इस संदर्भ में उनकी " लेनिन " एवं " लू शून " के प्रति निवेदित रचनाएँ विशेष रूप से ध्यातव्य हैं ।

अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों पर नागार्जुन का व्यंग्यकार अपनी लौह-लेखनी से जिस ताकत एवं पैनेपन के साथ चोट करता है उसका स्वर राष्ट्रीय संदर्भों में और भी मुखर दिखाई देता है । राष्ट्रीय नेताओं में महात्मा गाँधी एवं लालबहादुर शास्त्री को छोड़कर अधिकांश को कवि ने किसी न किसी रूप में अपने व्यंग्य वाण का निशाना अवश्य बनाया है । इनमें भी विशेष रूप से कांग्रेसी नेताओं की तो वे ऐसी-तैसी किये बिना नहीं रहते । चाहे वे जवाहरलाल नेहरू हों, मोरारजी देसाई हों या इन्दिरा गाँधी । इस संदर्भ में लिखित नागार्जुन की कविताओं से गुजरते हुए साफ लगता है कि वे देशी नेताओं को देश की दुर्दशा के लिए अत्यधिक जिम्मेदार मानते हैं । गाँधी के रामराज की कल्पना को रावणराज में तब्दील कर देने के लिए जिम्मेदार अवसरवादी नेताओं को लक्ष्य कर उन्होंने लिखा है :

" राम राज में अबकी रावण नंगा हो कर नाचा है
सूरत शक्ल वही है भैया बदला केवल ढांचा है
नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों
भारत माता के गालों पर कसकर परा तमाचा है । " 22

इसी क्रम में जवाहरलाल नेहरू को सीधे लक्ष्य करके लिखित नागार्जुन की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं :

> वतन बेचकर पंडितनेहरू फूले नहीं समाते हैं
> फिर भी बापू की समाधि पर झुक-झुक फूल चढ़ाते हैं। [23]

इसी प्रकार कवि " तुम रह जाते दस साल और " शीर्षक कविता में नेहरू जी की नीतियों से लाभ उठानेवाले कांग्रेसी नेताओं पर करारा व्यंग्य करते हुए लिखता है कि नेहरू न केवल सबका तेज-हरण करवा देते बल्कि संध्या एवं प्रभात को भी उनके कार्यकाल में डरकर रहना पड़ता । कवि संभावना व्यक्त करता है कि यदि नेहरू का शासन दस वर्ष और रह जाता तो कांग्रेसी नेता एवं कार्यकर्त्ता खादी की ओट में गाँजा बेचा करते और लोग " बोतल की मस्ती " में पानी तक का स्वाद भूल जाते ---

> " झुकती स्वराज की डाल और
> तुम रह जाते दस साल और
>
> x x x
>
> माता ने किसी को दूध-दही, पानी का जाता स्वाद भूल
> बोतल की मस्ती के मारे सब कहते सब को डैम फूल ।
>
> x x x
>
> गेरूआ पहनते जयप्रकाश, नर्मदा किनारे बस जाते
> डाँगे हो जाते राज्यपाल, लोहिया जेल में बल खाते
> गोपालन हो जाते नजरबंद राजाजी माथा घुटवाते
> जनसंघी अटलबिहारी जी भिक्षा की झोली फैलाते । " [24]

नेहरू जी के बाद नागार्जुन ने मुख्य रूप से इन्दिरा गाँधी को अपने व्यंग्य-बाण का निशाना बनाया है । ऐसे तो " गाँधी के तीन बंदर " एवं " बूढ़ा शेर " जैसी कविताओं में अनेकानेक कांग्रेसी नेताओं का नाम लिये बिना तथा कई दूसरी कविताओं में नाम लेकर उनका मजाक उड़ाया है परन्तु इन्दिरा गाँधी को लक्ष्यकर लिखी गई कविताओं का तेवर अत्यंत आक्रामक है । सन् 1968 में लिखित एक कविता में कवि ने एक बंदरिया के बहाने इन्दिरा गाँधी के वर्ग चरित्र एवं भारतीय राजनीति में उनकी बदगुमानी को स्पष्ट किया है :

" छतरी वाला जाल छोड़कर
अरे, हवाई डाल छोड़कर
एक बन्दरिया कूदी धम से
बोली तुमसे बोली हमसे
बचपन में ही बापू जी का प्यार मिला था
सात समन्दर पार पिता के धनी दोस्त थे
देखो मुझको यही नौ लखा हार मिला था
पिता मरे तो हमदर्दी का तार मिला था
आज बनी मैं किष्किंधा की रानी
सारे बंदर सारे भालू भरा करें अब पानी ।
तीन रंग का घाघरा, ब्लाउज गाँधी छाप
एक बंदरिया उछल रही है देखो अपने आप । " 25

इस प्रकार नागार्जुन ने " रानी मक्खी " तथा पंत की " भारतमाता ग्रामवासिनी " की तर्ज पर " भारतपुत्री नगरवासिनी " जैसी व्यंग्य कविताएँ भी इन्दिरा गाँधी को ही लक्ष्य करके लिखी हैं :

" भारतपुत्री नगरवासिनी

x x x

विकट व्यूह, अति कुटिल नीति है
उच्च वर्ग से परम प्रीति है
घूम रही है वोट माँगती
कामराज कटु हास हासिनी । " 26

डॉ॰ विजय बहादुर सिंह ने लिखा है कि " नागार्जुन की आत्मनिर्ममता से ही उनका व्यंग्य फूटता है और उसके वहीं बहुत गहरे सामाजिक करुणा की सूक्ष्म - धारा प्रवाहित होती है । व्यंग्य उनके साहित्य का सबसे हिंसक औजार है । समझाना, बुझाना, उपदेश और संकेत जब नाकामयाब हो जाते हैं तब कोई लेखक व्यंग्य पर उतरता है । यह एक प्रकार से मुस्तैदी भाषायी आक्रमण है । नागार्जुन के व्यंग्य इस रूप में हमारी समकालीन कविता के महत्त्वपूर्ण चरण हैं, - जहाँ कविता एक नये सौन्दर्यशास्त्र को जन्म देती लगती है । आस्वाद तो बदलता ही है जहाँ, पर कविता की भाषा का व्याकरण और अलंकारों की मुद्रा भी बदल जाती है । धर्म और पुराण के मुहावरों का, संगीत का, प्रतिध्वनियों का जो सामाजिक नियोजन वे समकालीन यथार्थ के साथ करते हैं उससे मरणासन्न और निष्प्राण होती जानेवाली ध्वनियों को नया अर्थ तो मिलता ही है, काव्यगत मुहावरों का एक नया क्षितिज भी खुलता चला जाता है । यह दिमाग नागार्जुन का ही है जहाँ संस्कार और तर्क की कठिन किन्तु रोचक जुगलबंदी दिखाई देती है । " 27

कहना न होगा कि " संस्कार और तर्क की कठिन किन्तु रोचक जुगलबंदी " के साथ ही संस्कार और प्रयोगधर्मी सृजनात्मकता का अघोषित मेल-मिलाप नागार्जुन की जिस कविता में उनके समूचे अनुभव, उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता तथा काव्यशास्त्र एवं वाङ्‌मय सम्बन्धी जानकारियों के साथ विलक्षणतापूर्वक समायोजित है, वह है उनकी " मंत्र कविता ", जिसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

ओंइदमन्नं, इमा आप:, इदमाज्यं, इदं हवि:
ओं यजमान, ओं पुरोहित, ओं राजा, ओं कवि:
ओं क्रांति: क्रांति: क्रांति: सर्वग्वं क्रांति:
ओं शांति: शांति: शांति: सर्वग्वं शांति:
ओं भ्रांति: भ्रांति: भ्रांति: सर्वग्वं भ्रांति:

x x x

ओं एतराज, आक्षेप, अनुशासन
ओं गद्दी पर आजन्म वज्रासन
ओं ट्रिब्युनल, ओं आश्वासन
ओं गुटनिरपेक्ष सत्तासापेक्ष जोड़-तोड़
ओं छल-छन्द ओं मिथ्या ओं होड़म होड़
ओं बकवास ओं उद्घाटन
ओं मारण-मोहन-उच्चाटन

x x x

ओं अपनी खुशहाली
ओं दुश्मनों की पामाली
ओम्मार, मार, मार, मार, मार, मार, मार
ओं अपोजिशन के मुण्ड बने तेरे गले का हार
ओं ऐं ह्रीं क्लीं हूं आङ्‌
ओं हम चबाएंगे तिलक और गांधी की टांग

x x x

ओं शेर के दाँत, भालू के नाखून, मर्कट का फोता
ओं हमेशा हमेशा हमेशा करेगा राज मेरा पोता

x x x

ओं भैरो, भैरो, भैरो, ओं बजरंगबली
ओं बन्दूक का टोटा, पिस्तौल की नली
ओं डालर, ओं रूबल, ओं पाउण्ड
ओं साउण्ड, ओ साउण्ड, ओं साउण्ड

x x x

ओं अष्ट धातुओं की ईंटों के भट्ठे
ओं महामहिम, महामहो, उल्लू के पट्ठे
ओं दुर्गा दुर्गा दुर्गा, तारा तारा तारा
ओं इसी पेट के अन्दर समा जाए सर्वहारा
हरि: ओम तत्सत्, हरि: ओम तत्सत् । [28]

कहना न होगा कि नागार्जुन की यह कविता निराला के " कुकुरमुत्ता " से आगे की कविता है । " कुकुरमुत्ता " लिखकर निराला उतने सफल नहीं हो पाए, जितने कि नागार्जुन सफल हो पाए " मंत्र " रचकर । वस्तुत: निराला कविता से जीवन की ओर यात्रा करते-करते फिर से कविता में लौटने की वृत्ति प्रदर्शित करते हैं जबकि नागार्जुन कविता से जीवन की परत-दर-परत उधेरते हुए निरंतर आगे ही आगे बढ़ते हैं । निराला कला के रूपों और आकारों के प्रति अत्यंत सचेत हैं । नागार्जुन की जागरूकता उन उद्देश्यों के प्रति है, जिनसे जीवन-स्थितियों में बदलाव आना है । इसलिए, जिस भाव से निराला " कुकुरमुत्ता "

में शब्दों से खेलते हैं, वह शब्द क्रीडा " मंत्र " में नहीं है। निराला के यहाँ दुर्दान्त कलाकारी और उससे जुड़ा हुआ अतिविश्वास है। नागार्जुन के यहाँ एक खतरनाक हथियार को आद्योपांत ठीक से संचालित करने की विनम्र सावधानी है। निराला अपने कलापौरुष का प्रदर्शन करने में रुचि रखते हैं, यही कारण है कि " कुकुरमुत्ता " जैसी कविता कई दिशाओं में एक साथ फैलती, पसरती चली जाती है। पर " मंत्र " में यह फैलाव और प्रसार नहीं है। तथापि वह समकालीन जीवन की कूट विडम्बना का अमिट लेख है। " 29 वस्तुत: कवि नागार्जुन ने अपनी इस कविता के माध्यम से कालांतर में हमारे जीवन से कट-सी गई एवं अप्रासंगिक बन गयी परम्परागत मंत्र शैली को नये अर्थ संदर्भों से जोड़कर शैलीगत ताजगी प्रदान करते हुए परम्परा के नवीकरण का अद्वितीय प्रयास किया है।

प्रगतिशील काव्य के विषय में कलावादी साहित्य समीक्षकों के मन में कितना दुराग्रह रहा है इसे अलग से बताने की जरूरत नहीं है। अपने इसी दुराग्रह के तहत वे प्रगतिशील कविता को नारेबाजी का पर्याय घोषित करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में ऐसी कविताएँ यथार्थ को ठीक-ठीक अंकित करने की जगह उसे " वर्ग संघर्ष जैसे सामान्य अवधारणात्मक तर्क में रिड्यूस करती हैं और इस प्रकार अपनी समस्त आंतरिक उर्जा नष्ट कर चुकी होती है। " कहना न होगा कि नागार्जुन की अनेकानेक कविताएँ कलावादियों द्वारा निर्धारित कविता की कलात्मकता के औसत मानदण्डों को चुनौती देती हुई-सी प्रतीत होती हैं। इस संदर्भ में सन् 1945 में रचित एक कविता द्रष्टव्य है :

मन करता है
नंगा होकर कुछ घंटों तक सागर तट पर मैं खड़ा रहूँ
यों भी क्या कपड़ा मिलता है ?
धनपतियों की ऐसी लीला !
मन करता है :
नंगा होकर दूँ आग लगा, जो पहन रखा है उसमें भी
फिर बनूँ दिगम्बर बंभोला
नंगा होकर विषपान करूँ सागर तट पर —
ओ कालकूट तू कहाँ गया ?
ओ हालाहल तू कहाँ गया ?
अमृत की बात नहीं पूछो,
विष तक का बूँद नहीं मिलता
देवता हुए निर्लज्ज सभी को छिपा दिया ।
कहते, जाओ, उनसे माँगो
जो क्षीर उदधि में शेषनाग की शैया पर कर रहे शयन ।
भण्डार हमारा खाली है :
भगवान सभी के मालिक हैं ;
लाचारी है, कुछ भी हम तुमको दे न सके !

मन करता है :
मैं नंगा होकर चिल्लाऊँ
मैं जोर-जोर से चिल्लाऊँ
यदि मरा न होगा सुन लेगा भगवान विष्णु सागरशायी

मन करता है :
मैं उस अगस्त्य-सा पी डालूँ सारे समुद्र को अंजलि से

उस अतल-वितल में तब मुझको
मुर्दा भगवान दिखाई दे
उस महामृतक को ले आऊँ फिर इस तट पर
अंत्येष्टि करूँ, लकड़ी तो बेहद मँहगी है
इस बालू में ही दफना दूँ
नंगा करके
निर्लज्ज देवतागण ले लेना तुम उसका वह भी पीताम्बर
अनमोल रेशमी पीताम्बर !
छिप-छिप उसको पहले सुरेश
छिप-छिप उसको पहने कुबेर
छिप-छिप उसको पहनो फिर तुम सब एक-एक कर बार-बार " 30

इस कविता पर टिप्पणी करते हुए डॉ॰परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि " 1945 की इस कविता को उस निश्चित समय के यथार्थ में रखकर देखना जरूरी है जिसमें यह लिखी गई है । महँगाई के मुश्किल दिनों के बारे में यह कविता केवल विषयवस्तु की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है - कविता के रूप में इसका समग्र अर्थ और संगठन विचारणीय है । प्रगतिशील कविता के बारे में यह धारण रही है वह सपाट नारेबाजी होती है यथार्थ की जटिलताओं को वर्ग संघर्ष जैसे सामान्य अवधारणात्मक तर्क में रिड्यूस करती है और इस प्रकार अपनी समस्त आंतरिक ऊर्जा और संभावना नष्ट कर चुकी होती है । कलावादी दृष्टिकोण से विचार करने वाली आलोचना प्राय: प्रगतिशील कविता के बारे में इसी ढंग के फतवे देती आयी है । नागार्जुन की यह कविता प्रगतिशील कविता के ढाँचे में महान् कविता है जो कविता की कलात्मकता के औसत मानदण्डों को चुनौती देती हुई मूल्यांकन के लिए सर्वथा नये दृष्टिकोण या प्रतिमान की माँग करती है । नागार्जुन की निश्छला सरलता उनके विक्षोभ और विद्रोह को इस प्रकार उभारकर रखती है कि मुख्य समस्या एक दहकती

हुई सच्चाई के रूप में सामने आती है । अपनी समूची आस्तिकता में ईश्वर के विरूद्ध खड़े होने का साहस उस सात्विक पीड़ा के बल पर ही संभव है जो कभी - कभार कबीर-जैसे संतों या भक्त कवियों में हम देख पाते हैं । " यों भी क्या कपड़ा मिलता है " के व्यंग्य के संदर्भ में सागर-तट पर नंगा होना धनपतियों के विरूद्ध विद्रोह का वास्तविक रूप है, छद्म या मुद्रा नहीं । गु से की उत्तेजना चरम पर है जहाँ " मुर्दा भगवान " को तट पर ले आने और अंत्येष्टि करने का प्रस्ताव है । " अनमोल रेशमी पीताम्बर " के व्यंग्य से निर्लज्ज देवताओं की जो ऐसी-तैसी की गयी है वह जनता के निरंतर अभाव में रहने की विक्षुब्ध प्रतिक्रिया से प्रेरित है । सबसे पहले यह कविता काव्यत्व की बनी-बनायी धारणा पर ही हमला है । नागार्जुन के सात्विक विक्षोभ का महत्व इसलिए भी अधिक है कि वह अकेले अपने कारणों से उत्पन्न नहीं, व्यापक मानव समूह के अभावों की कष्टकर अनुभूति से प्रेरित है । ऐतिहासिक यथार्थ और अराजक कल्पना का यह संयोग " मन करता है " जैसी कविता को एक महत्वपूर्ण कविता का रूप दे सका है । कठोर विक्षोभ और क्रोध की अनुभूति में भी जो खास व्यंग्य विनोद-प्रियता काम कर रही है - " ... ले लेना तुम उसका वह भी पीताम्बर / अनमोल रेशमी पीताम्बर " - यही नागार्जुन का अपना ढंग है । एक कठिन त्रासद समय के बयान में परिहासवृत्ति गायब नहीं है और वह त्रासद समय के प्रभाव को क्षीण भी नहीं करती । " 31

जाहिर है कि नागार्जुन 1974 में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चलाये जा रहे बिहार आंदोलन में शरीक हुए थे । इस क्रम में उनके रचनाकार को यदि एक ओर लगा कि ——

क्रांति सुगबुगाई है
करवट बदली है क्रांति ने "[32]

तो वहीं वे यह भी महसूस करते रहे कि – " काश, क्रांति उतनी आसानी से हुआ करती । "[33] यह ठीक है कि वे बिहार आंदोलन के दौरान " जयप्रकाश पर पड़ी लाठियाँ लोकतंत्र की "[34] जैसी कविताओं के कारण तत्कालीन विपक्षी नेताओं को अपना रहनुमा प्रतीत होने लगे थे और उस समय एक हद तक थे भी परन्तु कालांतर में उन्होंने इस आन्दोलन को " खिचड़ी विप्लव " के रूप में ही ग्रहण किया । जिस नागार्जुन ने 1977 के सत्तापरिवर्तन पर प्रसन्नता जाहिर करते हुए लिखा था --

जनता बदली नेता बदले तीस साल के बाद
बदला समर विजेता बदले तीस साल के बाद

कोटि-कोटि मतपत्र बन गए जादूवाले बाण
मूर्छित भारत-माँ के तन में वापस आए प्राण [35]

उसको ही जब इस परिवर्तन की निरर्थकता तथा छद्म परिवर्तनकामियों के असली रूप का पता चल गया तो उसने सन् 1978 में अवाम को सावधान करते हुआ लिखा ---

कुआं है, कुआं है, कदम कुआं है

x x x

विक्षुब्ध नौजवानों होशियार

x x x

कुपित श्रमिको, किसानों, होशियार !
इधर नहीं बढ़ना --
क्रांति का कुहासा है इस ओर
भ्रांति का धुआँ है इस ओर
कदमकुआं है इस ओर । 36

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुछ लोग नागार्जुन को राज - नीतिक विवेक की दृष्टि से ढुलमुल अथवा कनफ्यूज्ड मान लेने की भूल करते हैं। हो सकता है कि यह भूल वास्तविक रूप में भूल न होकर एकप्रतिबद्ध कवि के शब्द कर्म के प्रति सुनियोजित षड्यंत्र भी हो । वस्तुत: ऐसे लोग नागार्जुन के गत्वर व्यक्तित्व का अवमूल्यन ही करते हैं । सच तो यह है कि नागार्जुन के राजनीतिक विवेक को भारतीय राजनीति के उथल-पुथल से युक्त विभिन्न कालावधियों के संदर्भ में रखकर ही मूल्यांकित किया जाना चाहिए । अन्यथा उनके साथ न्याय नहीं किया जा सकता । कहने की जरूरत नहीं कि भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के दरम्यान भी ऐसे अनेक अवसर आए हैं जबकि पार्टी के नेताओं ने समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार अपनी नीतियों में परिवर्तन किया है । अत: यदि नागार्जुन के कवि ने किसी आंदोलन में शरीक होने के बाद उसकी वास्तविकता को जानकर अपना रुख फिर से बदल लिया या यों कहें कि भूल-सुधार कर लिया, तो, इसे किसी भी तरह असंगत नहीं कहा जा सकता । कवि ने खुद ही लिखा है :

" अपने आप को भी व्यामोह से बारम्बार उबारने की खातिर
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ । "

गंभीरतापूर्वक विचारने से स्पष्ट होता है कि नागार्जुन का कवि हमेशा बुर्जुआ ताकतों से अवाम को सावधान करता आया है। कारण यह कि केवल इसी जन के प्रति वह प्रतिबद्ध है। नागार्जुन की कविताएँ इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि समय-समय पर कवि ने भारतीय राजनीति में सत्ता पक्ष एवं विपक्ष की राजनीति करने वाले अवसरवादी नेताओं के अन्तर्विरोधों एवं उनकी असलियत को किस खूबी के साथ बेनकाब किया है। सच तो यह है कि नागार्जुन आरंभ से ही सतही राजनीतिक परिवर्तन अथवा लोकतंत्र के नाम पर नागनाथ की जगह साँपनाथ को कुर्सी पर बिठाने वालीचुनावी नाटकबाजी की जगह जनवादी क्रांति के समर्थक रहे हैं। बिहार प्रांत के भोजपुर जनपद में नक्सलियों के नेतृत्व में चलाये जा रहे सशस्त्र जनान्दोलन का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है :

यही धुआँ मैं ढूँढ़ रहा था
यही आग मैं खोज रहा था
यही गंध थी मुझे चाहिए
बारूदी छर्रे की खुशबू ! ....
ठहरो-ठहरो इन नथनों में इसको भर लूँ .....
बारूदी छर्रे की खुशबू ! ...
भोजपुरी माटी सोंधी है,
इसका यह अद्भुत सोंधापन !
लहरा उठी है
कदम-कदम पर, इस माटी पर !
महामुक्ति की अग्नि-गन्ध
ठहरो-ठहरो इन नथनों में इसको भर लूँ
अपना जनम स-कारथ कर लूँ ! [37]

नागार्जुन की कविताओं का सामाजिक सरोकार तब और स्पष्ट हो जाता है जब कवि सदियों से सामंती दमन-शोषण के चक्र में पिसते, व्यवस्था का नरक भोगने को अभिशप्त ग्रामीण खेत मजूरों एवं भूमिहीन किसानों के सशस्त्र विद्रोह की भूमि " भोजपुर " को अहिंसा की समाधि के रूप में उद्घोषित करता है :

" यहाँ अहिंसा की समाधि है
यहाँ क़ब्र है पार्लमेण्ट की
भगतसिंह ने नया-नया अवतार लिया है
अरे यहीं पर
अरे यहीं पर
जन्म ले रहे
आजाद चन्द्रशेखर भैया भी
यहीं कहीं बैकुण्ठ शुक्ल हैं
यहीं कहीं बाधा जतीन हैं
यहीं अहिंसा की समाधि है " ... 38

भोजपुर पर ही लिखित अपनी एक अन्य कविता में वे कहते हैं :

" मुन्ना, मुझको
पटना-दिल्ली मत जाने दो
भूमिपुत्र के संग्रामी तेवर लिखने दो
पुलिस दमन का स्वाद मुझे भी तो चखने दो " 39

नागार्जुन असाधारण संवेदना के कवि हैं। कारण यह है कि " जो वस्तु औरों की संवेदना को अछूती छोड़ जाती है वही नागार्जुन के कवित्व की रचना - भूमि है। " 40 उनके इस असाधारण संवेदन एवं कवि-कौशल का परिचय अनेकानेक कविताओं में मिलता है। उदाहरण के लिए " अकाल और उसके बाद " शीर्षक कविता द्रष्टव्य है :

" कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त ।

दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आंगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद। " 41

इस कविता पर टिप्पणी करते हुए डॉ॰नामवर सिंह ने लिखा है कि " चूल्हा, चक्की, छिपकलियों, चूहों, कौए के अलावा दाने और धुआँ-जैसी रोज की जानी-पहचानी मामूली चीजों के द्वारा दो विरोधी स्थितियों को जिस प्रकार मूर्त किया गया है, वह साधारण कवि-कौशल नहीं। यहाँ चीजों का सिर्फ वर्णन नहीं क्रिया-व्यापार दिखाया गया है और क्रिया-व्यापार के चयन में भी एक दृष्टि है जिसे आचार्य शुक्ल ने " व्यापार-शोधन " नाम दिया है। " चूल्हा रोया " को यदि एक मुहावरा भी मान लें, तो चूल्हा और उदास चक्की के पास कानी कुतिया का सोना एक मर्मस्पर्शी क्रिया-व्यापार है जो मन में भावचित्र

जगाता है । अनाज के लिए सिर्फ " दाने " शब्द का प्रयोग है, और अंतिम स्पर्श " कौए ने खुजलाई पाँखें " । घर भर की खुशी के हिस्सेदार भी कौन-कौन और कहाँ-कहाँ के प्राणी हैं । क्या यह सब केवल सूक्ष्म पर्यवेक्षण और यथार्थ-चित्रण मात्र हैं ? वास्तविकता के मर्म की यह आंतरिक पहचान कोई नैतिक दृष्टि नहीं ? एक मूर्तिमत्ता यह भी है, किन्तु तथाकथित बिम्बवादी मूर्तिमत्ता से कितनी अलग । " 42

प्रकृति चित्रण :-

नागार्जुन ने विभिन्न सामाजिक राजनीतिक संदर्भों एवं समाजालोचन से सम्बन्धित तीव्र व्यंग्य कविताओं के अलावा निजी आसंगों की कविताएँ भी लिखी हैं। उनकी ऐसी कविताओं की एक महत्वपूर्ण विषयवस्तु है प्रकृति । कहने की जरूरत नहीं कि कवि का प्रकृति प्रेम मानव प्रेम का ही एक रूप, उसका विस्तार है । डॉ॰रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि " क्या भारत और क्या यूरोप कहीं भी अब तक कोई बड़ा मानव प्रेमी कवि नहीं हुआ है जो प्रकृति का भी प्रेमी न रहा हो । " 43 इसके साथ ही प्रकृति से जुड़ना वस्तुत: यांत्रिक जीवन पद्धति का निषेध करना है और नागार्जुन की प्रकृति प्रेम विषयक कविताएँ भी निश्चित रूप से मौजूदा पूँजीवादी आधुनिकीकरण एवं यांत्रिकता - वादी सभ्यता के कारण उत्पन्न अमानवीयकरण की स्थिति के प्रतिवाद में रची गयी हैं । कहना न होगा कि प्रकृति जीवन का अजस्र स्रोत है इसलिए सांस्कृतिक प्रदूषण के इस युग में स्वस्थ वृत्तियों को बचाये रखने के लिए कवि का उसकी ओर मुखातिब होना स्वाभाविक ही है ---

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को,
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है,
तुंग हिमालय के कंधों पर
छोटी-बड़ी कई झीलें हैं,
उनके श्यामल-नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की उमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिसतन्तु खोजते
हंसों को तिरते देखा है,

x x x

दुर्गम बर्फानी घाटी में
शत-सहस्र फुट की ऊँचाई पर
अलख नाभि से उठने वाले
निज के ही उन्मादक परिमल
के पीछे धावित हो-होकर
तरल-तरुण कस्तूरी मृग को
अपने पर चिढ़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है। ✱ 44

नागार्जुन का कवि चाहे हिमालय की घाटियों एवं उपत्यकाओं में रचा-बसा हो या इन्द्रप्रस्थ पाटलिपुत्र की पण्यवीथी में या श्रीलंका, तिब्बत के संघाराम में स्थित हो, वास्तविकता यह है कि वह अपनी जन्मभूमि विशेषत: मिथिलांचल से हमेशा आत्यंतिक जुड़ाव महसूस करता रहा है। मिथिला की अमराई, बाग-बगीचे, ताल-तलैया, वसंवट आदि को कवि एक पल के लिये भी बिसार नहीं पाता :

याद आता मुझे अपना वह " तरउनी " ग्राम
याद आतीं लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के
रूप-गुण अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय अति अभिराम " 45

डॉ॰नामवर सिंह ने लिखा है कि " नागार्जुन के काव्य-संसार का एक बहुत बड़ा भाग अनूठे प्रकृति चित्रों से सजा है, जिनसे कवि की गहरी ऐन्द्रियता और सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि का एहसास होता है। वर्षा और बादलों पर इतनी अधिक कविताएँ निराला के बाद नागार्जुन ने ही लिखी हैं। एक ओर यात्री के रूप में उन्होंने " अमल-धवल गिरि के शिखरों पर बादल को घिरते देखा है " तो दूसरी ओर किसान की तरह " धिन धिन धा धमक धमक मेघ बजे " का गीत भी मस्त होकर गया है। वस्तुत: वर्षागम के अवसर पर ऋतु-सन्धि का सहज बोध नागार्जुन को एक किसान की तरह होता है और कविता में उनके पूर्वसंचित

संस्कार उसी सहजता के साथ फूट पड़ते हैं। "[46] नागार्जुन की बादल विषयक कविताओं से गुजरने पर हमें पता चलता है कि वहाँ "हर ऋतु के बादल हैं, बादल ही नहीं, बदलियाँ भी हैं, मेघकुल की बदलियाँ, शरारती और बदनाम बदलियाँ, और यही नहीं, घन-कुरंग भी हैं, चौकड़ी भरते हुए घन-कुरंग, शशि से शरमाते हुए घन-कुरंग" :[47]

" नभ में चौकड़ियाँ भरें भले
शिशु घन-कुरंग
लो आपस में गुथ गए खूब
शिशु घन-कुरंग

x x x

लो कब की सुधियाँ जगीं, आह
शिशु घन-कुरंग
पुरवा सिहकी, फिर दीख गए
शिशु घन कुरंग
शशि से शरमाना सीख गए
शिशु घन कुरंग "[48]

इसी संदर्भ में नागार्जुन की "बदलियाँ हैं" शीर्षक कविता की भी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जो "प्रकृति चित्रण" के साथ ही कवि के भी निश्छल रागात्मक ऐश्वर्य का पता देती हैं :

पवन ने बहका लिया था,
मेघ-कुल की पुत्रियाँ हैं !
— बदलियाँ हैं !

बरस पड़ना कहीं पर भी
भिगो देना किसी को भी
—— दुआ इनसे माँ लो !
ओफ, इनसे क्यों डरे हो ?
—— वहाँ इनमें बिजलियाँ हैं !

x x x x

तैर आएँ कब किधर को
कब किधर को खिसक जाएँ
क्या पता बस मौज इनकी !
बताऊँ भी ?
जरा तो बदनाम है ही फौज इनकी !
मगर, यूँ तो, मेघ-कुल की पुत्रियाँ हैं !
पवन ने बहका लिया था, बदलियाँ हैं ! " 49

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि नागार्जुन एक ऐसे जीवनधर्मी कवि हैं जिनका अनुभवलोक अत्यंत व्यापक एवं समृद्ध है । उनकी राजनीतिक कविताओं, सामाजिक व्यंग्यों तथा प्रकृति विषयक कविताओं से गुजरते हुए किसी प्रबुद्ध साहित्यिक को यदि उनमें एक खास किस्म की बेतरतीबी या अटपटापन मालूम पड़ता है तो यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि कवि ने

इसे अभिजात एवं सामंती काव्य-रूचि पर प्रहार करने के लिए जानबूझकर अर्जित किया है । वस्तुत: नागार्जुन की कविताओं में व्याप्त इस कमजोरी को कलात्मक शैथिल्य के रूप में न देखकर उस नये काव्यमूल्य के रूप में देखना होगा जिसके कारण परम्परा से मान्य कलात्मक कमजोरी भी वहाँ रचनात्मक विशिष्टता में तब्दीलहहो जाती है । संभवत: इन्हीं कारणों से हिन्दी की प्रगतिशील एवं जनवादी काव्य धारा में नागार्जुन एक " अनगढ़ विराट " व्यक्तित्व के रूप में जाने जाते हैं ।

केदारनाथ अग्रवाल : प्रतिबद्धता का सवाल

(केदारनाथ अग्रवाल एक प्रतिबद्ध कवि हैं । उनकी प्रतिबद्धता आम जनता के प्रति है, समाज के प्रति है, केवल शब्द कर्म के प्रति नहीं । वे इस बात से पूरी तरह वाकिफ हैं कि जो रचनाकार समाज प्रति प्रतिबद्ध होने के बजाय केवल अपनी रचना के प्रति प्रतिबद्ध होता है वह " अपनी पूरी रचना-धर्मिता केवल रचना के प्रति समर्पित करता है और इस समर्पण का तात्पर्य है कि वह रचना के अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति अपना कोई दायित्व नहीं स्वीकारता । इस दृष्टिकोण से सम्पन्न रचनाकार की ऐसी रचना केवल उसी की निजी रचना हो सकती है । दूसरे उसे पढ़े या सुनें तो वे ऐसे रचनाकार की निजता से ही या निजत्व से ही परिचित हो सकते हैं । यह स्थिति रचनाकार के अपने समाज के अन्य लोगों से अलगाव की और अजनबीपन की स्थिति के अतिरिक्त अन्य कोई स्थिति नहीं हो सकती । दूसरे शब्दों में ऐसी रचना की कोई महत्ता दूसरे लोगों के जीवन के लिए नहीं हो सकती और उस सब की परिणति यह होती है कि ऐसा रचनाकार दूसरों के जीवन की गतिमयता से कोई सरोकार किसी प्रकार का नहीं रखता और केवल अपनी तथाकथित मौलिक स्वायत्ता को स्थापित करता है और उसे अपनी सफल सृष्टि समझता है । देश और काल में रहकर भी और उससे अपने व्यक्तित्व का निरूपण करके भी, देश और काल की उपेक्षा कर जाता है या यूँ कहें कि उनका निषेध कर जाता है और फिर एकाकी आत्मवत्ता से साक्षात्कार करता है और उसी के संदर्भ में शब्द और शिल्प का ऐसा संयोजन और सम्पुटन करता है कि उसकी ऐसी कृति केवल उसी की और उसी के लिए होती है ऐसा रचनाकार अपने अहं की क्षमताओं को ही सर्वोपरि स्थान देता है और दूसरे लोगों की मानसिकता में उन मानव-मूल्यों को भी नहीं पहुँचाना चाहता जिन्हें

वे देश और काल में रहते हुए अक्षुण्ण और आवश्यक समझते रहे हैं । ऐसे रचना - कार की ऐसी रचना सांस्कृतिक निरन्तरता से सम्बद्ध नहीं होती और एकालाप करती रहती है । " 50

रचनाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता, समाज के पिछड़े, कमजोर, असहाय, शोषित एव समस्याग्रस्त लोगों के प्रति उसकी सहानुभूति तथा इस जन के " मुक्ति - संघर्ष के लिए जमीन तैयार करने के बजाय सिर्फ " रचना के प्रति रचनाकार की प्रतिबद्धता " के सिद्धांत के बारे में केदार का कहना है कि " यह शुद्ध कलावादी सिद्धांत का ही एक नया रूप है । इस सिद्धांत की मुनादी वही लोग करते हैं जो यथास्थिति के दबाव से बचना चाहते हैं और यथास्थिति के शासकीय तंत्र के पक्षधर होकर उसी से समय-समय पर मान-सम्मान और पुरस्कार प्राप्त करते हैं। वह पथ संघर्षविहीन पथ है, अवश्य है । कविता जंग लगी तलवार नहीं है, न वैयक्तिक मौलिकता का जड़ाऊ और कामदार उतारन है, जिसे दूसरे लोग आश्चर्य से देखकर केवल वाह-वाह करने लगें । ऐतिहासिक विकासक्रम में संघर्ष कर रहे लोगों के क्रिया-कलाप और उनकी विचार-सरणियाँ जबतक किसी रचनाकार को अपने मानसिक मंथन करने के लिए विवश नहीं कर देती तब तक वह केवल भित्ति - लेख ही लिख सकता है कविता नहीं और ऐसे भित्ति-लेख केवल वही समझ सकता है । ऐसा रचनाकार भी नागरिक होता है और नागरिक की हैसियत से उसे अपने चारों तरफ के परिवेश से सम्बद्ध होना पड़ता है । वह अजीब आकृति का ठूँठ बनकर सबके बीच में खड़ा नहीं रह सकता । उसे पेड़ बनने के लिए जमीन से खाद खींचनी ही पड़ेगी, बादलों से पानी पीना ही पड़ेगा, फूल-फल लाना ही होगा, तभी वह पेड़ कहलाने का अधिकारी होगा । ऐसे ही फल-फूलदार पेड़ की सराहना सामाजिक जन करने को बाध्य होते हैं और ऐसा ही पेड़ ऋतुचक्र में अपनी मौलिकता प्रकट करता है । ठूँठ तो केवल काटकर बैलगाड़ी का पहिया या सैला बनाने के काम आता है । " 51

मार्क्सवाद एक कोरा सिद्धांत-मात्र नहीं है । वह एक व्यापक एवं सार्वदेशिक जीवन-दर्शन है जो आदमी को महान् मानवीय मूल्यों से विरचित जीवन की ओर ले जाता है । एक कवि के रूप में केदार मार्क्सवाद के प्रति कितनी गहरी आस्था रखते हैं इसका प्रमाण उनकी अनेकानेक कविताएँ तो देती हीं हैं, उनके समय-समय पर दिये गए वक्तव्यों से भी यह उजागर होता है । डॉ॰अजय तिवारी के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने साफ कहा है : " ये ध्रुव-सत्य है कि मार्क्सवादी हुए बिना आप आदमी नहीं हो सकते और आदमी नहीं हो सकते तो अच्छी कविता नहीं लिख सकते, और आदमी होने के लिए जरूरी है कि यह जीवनदर्शन आप समझिये और कौग्निशन की थियरी को समझिये । " 52

प्रगतिशील आंदोलन और केदार :

केदार आरंभ से ही प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े रहे हैं । प्रगतिशील आंदोलन से अपने इस जुड़ाव का श्रेय वे निराला एवं डॉ॰रामविलास शर्मा को देते हैं । उन्होंने साफ कहा है कि " अगर ये न होते तो शायद मैं उस ओर न जाता, मेरी सम्बद्धता वहाँ न होती । " 53 आगे चलकर यह जुड़ाव एवं सम्बद्धता " हंस " के कारण और भी बढ़ी जिसमें उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुआ करती थीं । सन् 1953-54 तक केदार प्र॰ले॰स॰ में सक्रिय थे । फिर भी, उनकी सक्रियता संगठनात्मक एवं आन्दोलनात्मक दृष्टि से उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितनी रचनात्मक दृष्टि से । आगे भी छठे दशक के आरंभ में संगठित रूप से प्रगतिशील आंदोलन के बिखर जाने के बावजूद केदार की रचनाधर्मिता कभी अवरुद्ध नहीं हुई । सच तो यह है कि प्रगतिशील आंदोलन के बिखराव के बाद प्रयोगवाद एवं " किसिम-किसिम की कविता " की विभिन्न अल्पायु संततियों के दौर में भी हिन्दी के जिन गिने-चुने कवियों ने प्रगतिशील काव्यधारा को

अपनी रचनात्मक ऊर्जस्विता से जिलाये रखा उनमें केदार का नाम अग्रगण्य है। जब सातवें-आठवें दशक में स्थितियाँ बदली तो पुन: केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन के साथ जनपक्षधर युवा कविता के अनेकानेक कवि दूने वेग से प्रगतिशील अन्तर्वस्तु वाली कविताओं के साथ सामने आये जिसके फलस्वरूप आज निश्चित रूप से समकालीन कविता की मुख्य धारा प्रगतिशील काव्यधारा ही है।

जिन दिनों हिन्दी रचनाशीलता के दक्षिणपंथी खेमे से प्रगतिवादी काव्य साहित्य के लुप्त होने का अफवाह उड़ाया जा रहा था उन्हीं दिनों डॉ॰रामचन्द्र मालवीय से बातचीत करते हुए केदार ने कदाचित इसका खंडन करते हुए कहा था : " प्रगतिवादी काव्य साहित्य मुझे तो नहीं लगता कि लुप्त होता जा रहा है। वह अब तो और भी जोरों से राजनीतिक उभार लेकर और अधिक जोश से आगे आ रहा है और छोटी-छोटी पत्रिकाओं व काव्य संकलनों में स्थान पा रहा है। जैसे-जैसे आम आदमी की राजनीतिक चेतना, वैज्ञानिक समाजवाद एवं मार्क्सवाद से, विकसित होती चलेगी, वैसे-वैसे प्रगतिवादी काव्य-साहित्य प्रमुख-से प्रमुखतर होता चलेगा। "[54] इस प्रगतिवादी साहित्य को केदार समाजवादी राजनीति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध मानते हैं। परन्तु इसके साथ ही वे प्रगतिवादी काव्य-रचना में हृदयपक्ष की रागात्मकता व लय के निर्वाह की महत्ता को भी अच्छी तरह जानते हैं। उनकी मान्यता है कि " कोई भी काव्य हो केवल बौद्धिक काव्य होकर मानवीय काव्य नहीं हो सकता। हृदय को त्यागकर केवल मस्तिष्क से जो काव्य लिखा जाता है वह केवल रचयिता की अपनी सम्पत्ति होता है और उसका कोई मानवीय मूल्य दूसरों के लिए नहीं होता। रागात्मकता के बिना मानवीय सम्बन्ध न ही बनते हैं और न ही विकसित होते हैं और कविता जब तक सम्बन्धों से नहीं उपजती तब तक वह दूसरों के लिए या तो अबूझ पहेली बनकर रह जाती है अथवा रहस्यमयता से आवेष्टित रहती है। इसलिए प्रगति - वादी काव्य में वही कविताएँ सर्वग्राह्य हो सकती हैं जो मार्क्सवादी दार्शनिक जीवन-दृष्टि से वस्तुवत्ता को भेदकर आम आदमी की मानसिकता से सक्रिय होती

है और रचना में रची जाकर उस भाषा से और लय से स्थापित होती है जो अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को सम्प्रेषणीय होती हैं । कविता गद्य होकर या गद्य की लय पर चलकर कविता नहीं रह जाती । " 55

केदार की मान्यता है कि ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन संसार की समस्याओं को सही ढंग से समझने में सहायक होता रहा है । जाहिर है कि मार्क्स के इस चिंतन की ओर केदार का झुकाव डॉ॰रामविलास शर्मा एवं पी॰सी॰गुप्त जैसे मार्क्सवादी विचारकों के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ । धीरे-धीरे जब उन्होंने मार्क्सवाद पढ़ना समझना शुरू किया तो इससे उनकी क्रांतिकारी आस्था और भी बलवती हुई और इस प्रकार केदार प्रगतिशील आंदोलन तथा प्रगतिवादी रचनाशीलता के एक जबर्दस्त समर्थक कवि के रूप में भूमिका अदा करने लगे । उन्होंने हमेशा से ही आधुनिकतावाद का विरोध किया है । उनके शब्दों में " आधुनिकता जब तक महान् मानवीय मूल्यों से लैस होकर समाजवादी नहीं बनती तब तक वह सर्वग्राह्य नहीं हो सकती । " 56 कहना न होगा कि केदार मानवीय मूल्यों से रहित आधुकतावादी, आधुनिकता का विरोध करते हुए प्रगतिशीलता के पक्षधर रहे हैं । किन्तु इस पक्षधरता में कहीं से भी कठमु - ल्लापन नहीं है । जब कि प्राय: पार्टी अथवा लेखक संगठनों से जुड़े लोग उसकी प्रत्येक पहलकदमी को प्रगतिशील घोषित कर देते है, केदार ऐसे में " बेईमान हैं तो साले बेईमान हैं " 57 जैसी टूक बात बोलने का साहस रखते हैं । इसी प्रकार डॉ॰अजय तिवारी द्वारा यह पूछे जाने पर कि कांग्रेसी सरकार से पैसा लेकर विभिन्न महानगरों में समारोह करना या प्रगतिशील आंदोलन का विस्तार करना क्या उचित है ? केदार साफ कहते हैं, " इसे हम उचित नहीं समझते क्योंकि, देखिये, प्र॰ले॰स॰ की छवि उसके सदस्यों की छवि, उसकी कार्यविधि और कार्यकलाप की छवि इससे नहीं बनती कि आपने

कितना बड़ा उत्सव मना लिया । आप यही काम करते कि 5-5 रुपया या 1-1 रुपया लेके सिर्फ चारों ओर कनात लगा के औ " तख्त पे दरी बिछाकर बैठ जाते सब और फिर आप करते तो उसका प्रभाव जनता पे दूसरा पड़ता ।"58

केदार 1972 में प्र॰ले॰स॰ के बाँदा सम्मेलन के संयोजक थे । संयोजक के रूप में वे चाहते थे कि वामपंथी लेखकों के विभिन्न गुटों में मैत्री हो और वे मिलकर काम करें । परन्तु प्र॰ले॰स॰ का नेतृत्व उन दिनों जिन लोगों के हाथों में था उनमें वहाँ " भीष्म साहनी आये नहीं, उनके तो वो लोग आये नहीं । शिवदान सिंह [चौहान] आये, जो यों ही इंदिरा गाँधी के पक्षपाती " 59 थे । जहाँ तक केदार के अपने पक्ष का सवाल है, उनका साफ कहना है कि " ये जो काम है न, नीति निर्धारण का, राजनीति और दृष्टि आदि को देखने, समझने, एनालाइज करने का, ये हमारा काम नहीं है और न हम कर सकते हैं । वो तो हम अपनी, जनरल मानसिकता जिसे कहते हैं कि जनता से प्रेम है, जनता को अच्छा लगा इसको अपना कमरा में बैठ कर लिख लेते हैं । जो खराब लगा, उसे काट दिया । आंदोलन सही है, गलत है, ये सब हमसे नहीं होता । " 60 इसी के साथ प्र॰ले॰स॰ के बारे में उनकी बेबाक टिप्पणी है कि प्रगतिशील आंदोलन में " अवसरवाद तो बुरी तरह घुस चुका है । सभी तो अवसरवादी हैं, किसको कहें, मुश्किल तो यह है कि जो अवसरवादी नहीं हैं वो प्र॰ले॰स॰ से निकाल दिये जाते हैं । " 61

यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है कि केदार की उपर्युक्त टीका-टिप्पणियों में कहीं से भी कोई पूर्वग्रह नहीं है । अन्यथा इतने लम्बे अर्से तक प्रगतिशील समीक्षकों द्वारा उपेक्षित किये जाने पर भी वे प्र॰ले॰स॰ के सदस्य बने नहीं रहते । यह दूसरी बात है कि वे थोड़े अक्खड़ सदस्य हैं और कटु सत्य बोलने में तनिक भी परेशानी महसूस नहीं करते ।

केदार-काव्य में राजनीतिक चेतना व सामाजिक व्यंग्य :-

केदार का काव्य राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत ही चेतन काव्य है। कविता में राजनीति की भूमिका को स्वीकार करते हुए केदार ने खुद कहा है कि " यह युग राजनीति का युग है, नयी मानसिकता के संघर्ष का युग है और आदमी के सामाजिक और राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में अपने दायित्व के निर्वाह का कठिन युग है। कविता यदि इन सबसे अलग जीकर फिर भी कविता का रोल अदा करना चाहती है तो उसे समाज में नहीं बल्कि किसी अजायबघर में रख देना होगा। " 62 जाहिर है कि केदार की राजनीतिक समझ एक मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित है। तभी वे भारतीय स्वाधी - नता संग्राम के अहिंसक सेनानी कहे जाने वाले कांग्रेसी नेताओं के जनविरोधी चरित्र का पर्दाफाश करते हुए लिखते हैं :

" लंदन में बिक आया नेता, हाथ कटाकर आया।
एटली-बेविन-अंग्रेजों में, खोया और बिलाया ।।
भारत-माँ का पूत सिपाही, पर घर में भरमाया ।
अंग्रेजी साम्राज्यवाद का, उसने डिनर उड़ाया ।।
जनवादी भारत का उसने, सब कुछ वहाँ गँवाया ।।
पौंड देश का भक्त-भिखारी, डालर का दुलराया ।।
कहता है " केदार " सुनो जी, हमको नहीं सुहाया ।। " 63

जाहिर है कि सन् 1946 के जन उभार का लाभ उठाकर कांग्रेसी नेताओं ने जनता की क्रांतिकारी चेतना को कुंठित करते हुए साम्राज्यवादी शासन से समझौता किया था। आम जनता को देशी बुर्जुआ और विदेशी साम्राज्यवादी ताकत के बीच हुए इस समझौते की शर्तों का पता भी नहीं था। तत्कालीन

कांग्रेसी नेतृत्व उसे अहिंसा का मार्ग अपनाने का उपदेशामृत पिलाते हुए इस तथाकथित स्वाधीनता के प्रति आश्वस्त कर रहा था । ऐसे में आम जनता की विडम्बनापूर्ण मनः स्थिति का चित्रण करते हुए केदार ने लिखा :

" आफत ही आफत सब आई
लेकिन दिल्ली से आजादी
अब-तक अब-तक हाथ न आई
हाय न आई ! ! " 64

अपनी एक अन्य कविता में भारत की आम जनता की ओर से कवि समझौते के लिए लंदन गये कांग्रेसी नेताओं से बेबाक प्रश्न करता है :

" बोलो आजादी लाये ?
नकली मिली है कि असली मिली है ?
कितनी दलाली में कितनी मिली है ? " 65

डॉ॰अजय तिवारी ने लिखा है कि " केदार के संतुलित क्रांतिकारी जोश की खासियत यह है कि उन्होंने आजादी को झूठी नहीं कहा है और न ही सन " 47 में प्राप्त आजादी का तिरस्कार किया है । उन्होंने बार-बार यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अगर कांग्रेसी नेता समझौता न करते, भारतीय जनता के जुझास सम्मान को न बेचते तो भारत जनवादी राह पर आगे बढ़ता, साम्राज्यवाद से उसका पूर्ण सम्बंधविच्छेद होता - ऐसा न होता कि हम आजाद न हों और अंतरिम सरकार बन जाए, हम आजाद हो जायेंतो भी कामनवेल्थ में बने रहें ! कांग्रेस ने आजाद भारत में अंग्रेजी हितों को तो सुरक्षित रखा ही,

अमरीकी साम्राज्यवाद से भी बड़े पैमाने पर मेलजोल बढ़ाया । " 66 अगस्त 1948 में ही अपनी " यदि आयेगा डालर " शीर्षक कविता के माध्यम से केदार ने भारत की भोली-भाली जनता को अमरीकी साम्राज्यवाद से सचेत करते हुए कहा था :

" यहाँ हमारी जन्मभूमि पर यदि आयेगा डालर

x x x x

" वह अपने साम्राज्यवाद के घोर नशे में
भारतीय पूँजीपतियों से साँठगाँठ कर,
क्रय दिल्ली की राजनीति को कर लेगा,
नेहरू और पटेल आदि की मति हर लेगा । " 67

इन तमाम स्थितियों से भारत एवं यहाँ की आम जनता को बचाने का एक ही उपाय है - देशी सामंतों-पूँजीपतियों एवं विदेशी साम्राज्यवादियों के हित में आम जनता की आशा-आकांक्षाओं को धता बताकर उन्हें विदेशी ऋण के बोझ से लाद देने वाली इस जनविरोधी सरकार की जगह जनवादी सरकार कायम करना । अक्तूबर 1947 में ऐसी ही " शपथ " लेते हुए केदार ने लिखा था :

" यही जमींदारों का छल है,
मानव से मानव शोषित है ।

अतः आज हम हँसते-हँसते,
नयी शपथ यह प्रथम करेंगे,
जनवादी सरकार करेंगे । " 68

केदार का कवि इस बात के प्रति पूरी तरह आश्वस्त है कि एशिया में प्रारंभ हो चुकी जनक्रांतियों के हँसिया-हथौड़े की चोट से साम्राज्यवाद का अस्थिपंजर चूर-चूर हो रहा है। सन् 1948 में रचित " अंग्रेजी पियानो " शीर्षक कविता में केदार ने लिखा था :

" एक दिन था जब यही दंभी पियानों
वायुयानों को उड़ाता था अनिल में
किन्तु अब जनतंत्र के दृढ़ मोरचे ने,
हिन्द, बर्मा, अरब, पैलेस्टीन की जनक्रांतियों ने,
मार कर हँसिया, हथौड़े, देह उसकी तोड़ दी है,
हड्डियों को चरमरा कर लुंज उसको कर दिया है। " 69

साम्राज्यवादी ताकतें यदि एक ओर अविकसित एवं विकासशील देशों को आर्थिक सहायता अथवा उनके विकास में योगदान के नाम पर ऋण दे कर ब्याज की मोटी रकम वसूलती हैं तो दूसरी ओर वे उनके साथ ही अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे विकसित राष्ट्रों और विशेषत: समाजवादी देशों को अपनी सामरिक शक्ति का भय दिखाकर उन्हें आतंकित भी करती रहती हैं। केदार के कवि का यह दृढ़ विश्वास है कि अमरीका जैसे साम्राज्यवादी देश ऐसा करके दुनिया की आजादीपसंद कौमों को दबा नहीं सकते :

" झूठ नहीं सच होगा साथी !
करने को जो चाहे कर ले
चलनी पर चढ़ सागर तक ले
चिउँटी पर चढ़ चाँद पकड़ ले
लड़ ले ऐटम बम से लड़ ले
झूठ नहीं सच होगा साथी ! " 70

इतिहास गवाह है कि कालांतर में साम्राज्यवाद एवं समाजवाद के बीच हुए संघर्ष में समाजवाद ही विजयी रहा । अमरीकी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध हो ची मिन्ह के नेतृत्व में लड़े हुए वियतनाम की जनता के मुक्ति संघर्ष की सफलता पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए केदार ने सन् 1968 में लिखा था :

" डालर ने सोचा था :
हो-ची-मिन्ह भुनगा है ;
उसका देश केंचुआ है ;
उसके लोग मुरदा हैं ;
जाहिल आबादी है ;
चुटकी से मसल देगा भुनगे को
एँड़ी से कुचल देगा केंचुए को
जल्दी से जीत लेगा मुरदों को
जाहिल आबादी को पीट लेगा
लेकिन
उस भुनगे ने
डालर को मसल दिया
केंचुए ने
डालर को कुचल दिया,
मुरदों ने
डालर को पीस दिया,
जाहिल आबादी ने
डालर का खून किया । " 71

अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में लिखित इस कविता के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए डॉ॰रामविलास शर्मा ने लिखा है कि " साम्राज्यवादियों की हार पर ऐसा उल्लास बहुत कम कविताओं में व्यक्त हुआ है। क्रोध और हर्ष के भाव एक ही में घुल-मिल गये हैं। आवेश में अवध का किसान इसी ढंग से उपमाएँ जोड़ते हुए बोलता है। जिस बात को शब्दा नहीं कह पाते, उसे शब्दों की गति कह देती है। " 72

राष्ट्रीय संदर्भों में केदार रचित अनेकानेक राजनीतिक कविताओं से गुजरते हुए किसी भी प्रबुद्ध पाठक को यह सहज बोध होगा कि भारत की तथाकथित स्वाधीनता और इस स्वाधीनता के बाद स्वयं को एकमात्र नेशन - लिस्ट बतानेवाली कांग्रेस पार्टी की विभिन्न नीतियों से कवि का बहुत पहले ही मोह भंग हो चुका था। तभी उसने साफ लिखा :

" आग लगे इस रामराज में
ढोलक मढ़ती है अमीर की
चमड़ी बजती है गरीब की
खून बहा है रामराज में
आग लगे इस रामराज में " 73

गंभीरतापूर्वक विचारने से स्पष्ट होता है कि जहाँ अधिकांश रचना - कारों का मोहभंग सन् 1960 के बाद और विशेषत: सन् 1964 में नेहरू-युग के अंत के साथ हुआ वहीं केदार ने छठे दशक में ही तमाम स्थितियों को भली - भाँति समझ लिया था। " नागार्जुन के बाँदा आने पर " शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा था कि वे अपने कवि-मित्रों की प्रतीक्षा वैसे ही करते रहते हैं,

" जैसे खेतिहर बाट जोहता है बादल की,
जैसे भारत बाट जोहता है सूरज की,
किन्तु न कोई आया " 74

कहना न होगा कि नेहरू युग की समाप्ति के बाद से लेकर अबतक भारत कृष्णपक्ष के दौर से ही गुजरता रहा है । सूरज की बात तो दूर उसने शुक्ल पक्ष की चाँदनी तक के दर्शन नहीं किये हैं । भारतीय सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में कई दशकों से व्याप्त इस अंधकारमय एवं अस्थिर परिवेश का रचनाशीलता पर भी असर पड़ा है । केदार को सातवें दशक के आरंभ में ही देश की आर्थिक दुर्दशा एवं नैतिक पतन की मानों पूरी खबर लग गई थी :

" हम हो गये हैं बौने
और कीमतें हो गई हैं सुरसा
वस्तुएँ हो गई हैं
पहुँच से परे

एक ओर बनता ही चला जा रहा है
निर्माज का हिन्दुस्तान
दूसरी ओर गिरता ही चला जा रहा है
ईमान का हिन्दुस्तान "

लेकिन इन सब के बावजूद कवि का स्वर मोहभंग के दौर के कवियों की तरह नकारवादी न होकर आशावादी ही है :

" कंठ से नहीं --
अब पाँव से निकलता है संगीत --
हाथ से उमड़ता है संगीत --
अवश्यम्भावी है
नाश पर निर्माण की जीत । " 75

इसी प्रकार नेहरू-युग के अंत के बहुत पहले ही केदार के कवि ने कांग्रेसी शासन के जनविरोधी चरित्र को भली-भाँति पहचान कर सन् 1951 में ही मानों भविष्यवाणी किया था :

काँग्रेस के राज में,
आयों नहीं बसंत ।
अपत कटीली डार के,
गावत हैं गुन पंत ।।

x x x x

यश अपयश विधि हाथ है,
नहिं नेतन को जोर ।
चहैं देख बाढ़े बड़े,
सेठ महाजन चोर ।।

x x x x

जहँ लग नेता राज है,
तहँ लग बंटाधार ।
पूँजीपति की गोद में,
खेल रही सरकार ।। 76

अत: स्वराज के नाम पर ऐसे शासन के प्रति कवि की किसी प्रकार की सहानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता । उसने तो सन् 1952 में ही पूँजीपतियों की गोद में खेलने वाली जनविरोधी सरकार के लिए बद्दुआ करते हुए लिखा था :

" दुख ना गयो,
दरिद न छूटै,
चोर-बजारी दिन-दिन लूटै,
धीरज-धनुही कुस-कुस टूटै,
ऐसि राज का भंडा फूटै !

× × × ×

धन ना जुरै,
गरीबी आवै,
हाँधन का श्रम चोर चुरावै,
ऊँचे महलन माँ मुसकावै,
ऐसि राज ना हमका भावै ।

भय ना भगै,
भरम ना जावै,
काली करनी हाड़ बजावै,
जनता का दुख नाच नचावै ।
ऐसि राज गारत ह्वै जावै । " 77

कवि केदार पेशे से वकील हैं । अतः उन्हें बहुत करीब से भारतीय लोकतंत्र की न्यायव्यवस्था के खोखलेपन को देखने का अवसर मिलता रहा है । कहना न होगा कि उनके इस जीवन ~~क्रम~~ से यदि एक ओर उनका जीवन-विवेक निर्मित हुआ है तो दूसरी ओर उनकी रचनाशीलता की अन्तर्वस्तु भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी है । इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है : " वकील होते-होते मैं मार्क्सवाद के जीवन-दर्शन से अपनी मानसिकता बनाने लगा । मुझे वर्गविभाजित समाज की जीवन पद्धति अरुचिकर लगने लगी । मेरे भाववादी संस्कार ढीले पड़ने लगे और श्रम और समाजवाद के सिद्धांत प्रिय लगने लगे । पहले की भाववादी आस्था टूटने लगी । कचहरी की कार्य-प्रणाली में आदमी के रूप में स्वार्थियों की जमात दिखने लगी । सत्य का गला झूठ से घुटते देख सका । न्याय के नाम पर मैंने सरासर अन्याय होते देखा । आदमी और उसके समाज की अर्थनीति और राजनीति में मुठभेड़ हुई । नतीजा यह हुआ कि मैं मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से अपना विवेक बनाने लगा । फिर तो काव्य के पहले के लगभग सभी संस्कार मुझे छोड़कर पलायन कर गये । काव्य के सम्बन्ध में मेरी धारणा बदल गयी । एक तरह से मेरा नया जन्म हुआ और मैं प्रगतिशील कविता लिखने लगा । लेनिन ने ठीक ही कानून को प्रभुत्वपूर्ण वर्ग की आज्ञा के रूप में रेखांकित किया है । उनकी यह बात भारत की मौजूदा न्याय-व्यवस्था पर पूरी तरह लागू होती हैं जहाँ पुलिस के दमनचक्र में पिसती जनता का जीना दूभर-सा हो गया है :

"गावों में थाने
        और थानों में सिपाही हैं
थानों के जियाजे
        राज-तंत्र के सिपाही हैं
जनता को मिटाये
मार-तंत्र के सिपाही हैं । "79

और ऐसे में यदि " दुष्ट दनुज-तस्कर " मजा मार रहे हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं :

" मजे मारते हैं
तथाकथित
        प्रतिष्ठित आदमी ;
तलातल में जी रहे
आदमियों के
        कट्टर दुश्मन ;
देखने में
        महापुरुष-महीधर ;
वास्तव में
        दुष्ट दनुज-तस्कर । "80

सच तो यह है कि केदार के कवि ने न्यायालय में " सच के पाँव उखरते " देख लिया है, उसके कारणों को अच्छी तरह समझ लिया है और इसके फलस्वरूप उसका मौजूदा भारतीय न्याय व्यवस्था में कोई विश्वास नहीं रह गया है :

* सच ने
जीभ नहीं पायी है
वह बोले तो कैसे
असली बात कहे तो कैसे
सच की बात
गवाही कहते
जीभ उलटते और पलटते
सच कहने में असफल रहते

सच साबित हो कैसे
दिन में दिन हो कैसे

न्यायी बैठे जीभ पकड़ते
जब वादी-प्रतिवादी लड़ते

सच के पाँव उखड़ते
झूठे के जब झंडे गड़ते

सच जीते तो कैसे
न्याय मिले तो कैसे
असली का नकली हो जाता
नकली का असली हो जाता
न्याय नहीं हंसा कर पाता

नीर-क्षीर विलगे तो कैसे
सच की साख जमें तो कैसे

कागज का पेटा भर जाता
पेटे में पड़ सच मर जाता
झूठे को डिगरी मिल जाती
जीते की बाछें खिल जाती

झूठ मरे तो कैसे
कष्ट हरे तो कैसे । " 81

अतः असल को नकल और नकल को असल सिद्ध करने वाली इस जनविरोधी न्याय-व्यवस्था के मूलाधार भारतीय संविधान को ही केदार अर्थहीन बताते हैं :

" शब्दों का संविधान भी
हुआ है असमर्थ
और अर्थहीन ! " 82

इन तमाम विडम्बनापूर्ण स्थितियों में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका को लेकर केदार अत्यंत ही खिन्न प्रतीत होते हैं । अपने को बुद्धिजीवी कहने वाला यह वर्ग वस्तुतः एक सुविधाभोगी एवं आत्मकेन्द्रित वर्ग है जो हरदम असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहता है । अतः यह अपने हित का ख्याल कर किसी भी प्रकार का रिस्क नहीं लेना चाहता । केदार ने छठे दशक में ही इस वर्ग के मनुष्य की वास्तविकता को पहचान लिया था जिसे उस समय नयी कविता के सूत्रधारों द्वारा साहित्य में प्रतिष्ठित किया जा रहा था :

" वह थका, हारा, बहुत ऊबा मनुज है !
भूमि उसको प्रिय नहीं है ।
वर्ग के संघर्ष से वह काँपता है,
दूर उसके क्षेत्र से ही भागता है ।
वह पुरानी सभ्यता के राज-पथ पर
पेट के बल मंद गति से रेंगता है,
श्वान के संग भूख अपनी मेटता है,
शासकों के कटु दमन की यंत्रणा से,
शोषकों के अपहरण की यातना से,
रक्त के कुल्ले उगल कर मर रहा है,
लाश अपनी ढो रहा है ।

x x x x

वह नहीं जग जीत सकता,
वह नहीं इतिहास को —
जीवन-रुधिर से सींच सकता ।
कौन मन वह सह रहा है —
जो यहाँ पर हो रहा है,
लौह का घन
मोम के दीपक सदृश ही गल रहा है । " 83

मार्क्सवाद साहित्य को एक विकसनीशील सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में देखता है और जैसा कि जार्ज लुकाच ने कहा है, " साहित्य का अभ्युदय एवं विकास सम्पूर्ण ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रिया का अंग है । " 84 इसके विपरीत

हिन्दी कविता में क्षणवाद के प्रवर्तकों में एक समय साहित्य को उसके सामाजिक संदर्भों से काटकर देखने का आग्रह अत्यंत प्रबल था । केदार जब ऐसे क्षणवादी मूल्यों के आग्रह से रचित काव्य का विरोध करते हैं तो डॉ॰रामविलास शर्मा के शब्दों में " कविता की सारगर्भित आलोचना स्वयं कविता बन जाती है । " 85 यथा :

" क्षण के संरक्षण के सनकी
नहीं देखते आगे पीछे
रहते हैं क्षण की छतुरी के नीचे
कण का जीवन जी के
गण के रण से आँखें मीचे । " 86

केदार का कवि इन तमाम बुद्धिजीवियों एवं मसिजीवियों को यथास्थिति - वाद के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष में भूमिका अदा करने के लिए आह्वान करता है :

" हाथ में तलवार लेकर डर रहे हो,
लेखनी बिजली लिए तुम मर रहे हो !
मौन बैठे यंत्रणा सब सह रहे हो ।
मौत की मुदरा कहानी कह रहे तो !
लाल सोने का सबेरा चमचमाओ !
लेखनी के लोक में आलोक लाओ !! " 87

कहना न होगा कि केदार आरंभ से ही राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत जागरूक रहे हैं । वे प्र॰ले॰स॰ जुड़े तो रहे है पर अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व उन्होंने हमेशा बचाकर रखा है । जो बात उन्हें उचित लगती है उसे बेबाक कहना और अनुचित का मुखर विरोध केदार के व्यक्तित्व की खासियत है ।

हालांकि सन् 1973 में प्र॰ले॰स॰ के बांदा सम्मेलन में उन्होंने सरकार के साथ सहयोग-असहयोग के मुद्दे पर रचनाकारों द्वारा आत्ममंथन किये जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा था – " जहां तक शासन या सरकार से सहयोग या असहयोग करने की बात है, उस पर भी हम साहित्यकारों को विवेक से काम लेना चाहिए । अब कोई विदेशी शासन या सरकार नहीं है कि हम उसका आँख मूँदकर विरोध करने के लिए कृतसंकल्प हों । अब सरकार ने समाज - वाद की ओर अपना मुँह कर लिया है । ऐसी दशा में साहित्यकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सरकार के द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रमों को जनता के जीवन परिप्रेक्ष्य में जाँचे और परखे और एक नागरिक के नाते उसके इन कार्यों का प्रतिबिंबन अपने साहित्य में करे । "[88] किन्तु जून 1975 में जब समाजवाद का नाटक करने वाला तत्कालीन अधिनायकवादी कांग्रेसी सरकार द्वारा आपातकाल की घोषणा की गई तो वे विचलित हुए बिना न रह सके । इसी प्रकार जब 1975 में प्र॰ले॰स॰ के आगरा सम्मेलन के वर्ग सहयोगवादी आयोजकगण दक्षिण - पंथी प्रतिक्रियावादी ताकतों से प्रगतिशील प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी की रक्षा का आह्वान करते हुए उनकी तुलना चिली के महान वामपंथी राष्ट्रपति एलेंदे से कर रहे थे और जिन दिनों सन् 1976 में पटना में आयोजित फासिस्ट विरोधी सम्मेलन में बड़ी बेशर्मी के साथ ललित नारायण मिश्र को शहीद बताते हुए उनकी तुलना महान क्रांतिकारी जूलियस फ्यूचिक से की जा रही थी[89] उन दिनों केदार लगातार एमरजेंसी के खिलाफ कविताएँ लिख रहे थे । एमरजेंसी की घोषणा के दो माह बाद ही सितम्बर 1975 में रचित " अखबार-आदमी-लोक - तंत्र " शीर्षक कविता में वे कहते हैं :

" मुँह-बंद आदमी
आँख खोले खुला अखबार पढ़ता है,
पंक्ति-बद्ध शब्दों के शासन से

नाक और नक्शा
　　अनुशासन का गढ़ता है,
लेकिन
　　जब आसपास
　　　　इधर-उधर
　　राह से गुजरता है,
देश का एक और ही चित्र
　　उसके सामने उभरता है ;
मात-खाये मोहरे-सा
　　एक एक व्यक्ति
　　　　पिटा-पिटा दिखता है ;
लोकतंत्र जगह-जगह
　　घुना-घुना दिखता है । " 70

इतना ही नहीं, जिस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में आपातकाल का आतंक व्याप्त था, विपक्ष के तमाम छोटे-बड़े नेताओं के साथ ही नागार्जुन एवं रेणु जैसे कई रचनाकर्मियो को भी जेलो में ठूँस दिया गया था, उस समय भी देश के तत्कालीन शासन की बागडोर सँभाले संसद और संविधान में नाचने वाली निर्मम नायिका कवि के व्यंग्य-बाण से नहीं बच पायी :

" जनाना हो गया है देश,
खूबसूरत हो गया है क्लेश का अहिंसक वेश,
सिर से पैर तक
　　हसीन हो गयी हैं बुराइयाँ,
तलुवे चाटती हैं अच्छाइयाँ,
संसद और संविधान में नाचती है निर्मम नायिका,

छमाछम बजता है पिता का साज,
पुत्र के तबले से
उठती है धूमधड़ाके की आवाज,
लेकिन तड़पती है
पिंजरे में पड़ी
आम आदमी की मैना,
आपातकालीन संकट भोगती —
जिंदगी जनतंत्र को, राजतंत्र को कोसती । " 91

साहित्य सृजन के क्षेत्र में केदार का आगमन पाब्लो नेरुदा अथवा नागार्जुन की भाँति सीधे जन के माध्यम से न होकर साहित्य के माध्यम से ही संभव हुआ । केदार ने खुद स्वीकारा है कि " पहले मेरे संस्कार भाववादी थे । काव्य के भाववादी संस्कार मुझे प्रिय लगते थे । प्राचीन काव्य के तौर-तरीके मैं अपनाता था । इसलिए तब जो कविताएँ मैं लिखता था, वह उसी तरह की इकाईयाँ बनती थीं । मुझे तब तक संसार का अनुभव बहुत कम हुआ था । मैं ने आदमी के जीवन-जीने की लड़ाई को दूर से भी नहीं देखा था । इसलिए मैं केवल अपनी रुचियों के संसार में रहता और उन्हीं रुचियों की कविताएँ पढ़ता और भाव-विभोर होता । " 92 इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर भी उन्होंने साफ लिखा है : " कविता में मैं सीधे साहित्य के माध्यम से आया और जीवन का साहित्य पहचाना, यह पहचान मार्क्सवाद ने कराई क्योंकि मार्क्सवादी जीवन दर्शन ही सबसे अधिक वैज्ञानिक दर्शन है जो आदमी और आदमी से सम्बन्धित सभी घटनाओं का ऐतिहासिक सत्यान्वेषण करता है । मैं इसी के बल पर अपने परिवेश के प्रति समझ विकसित कर सकता हूँ । " 93

कहना न होगा कि जीवन की अपेक्षा साहित्य के माध्यम से कविता में आने वाले कवियों में प्राय: साहित्य से प्राप्त संवेदनाओं एवं वर्ग विशेषताओं को जीवन में खोजने की प्रवृत्ति पायी जाती है और इस प्रकार ऐसे रचनाकारों पर एक खास किस्म के आग्रह के हावी हो जाने की संभावना प्रबल हो जाती है । किन्तु केदार के कवि ने अत्यंत सजगता एवं जागरूकता के साथ स्वयं को इस स्थिति से बचाये रखा है ।

अपनी काव्य-पुस्तक " पंख और पतवार " की भूमिका में केदार ने राजनीतिक कविता के संदर्भ में लिखा है कि " कविता में आयी राजनीति वही राजनीति नहीं हो सकती जो बाहर होती है । कविता में आने के लिए, उसमें प्रवेश पाने के लिए उसमें बिम्ब विधान पाने के लिए और सफल और सुन्दर कृति का रूप पाने के लिए राजनीति को अपना बाहरी जामा छोड़ना पड़ता है और संवेदनशील होने के लिए कवि के आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व में समाहित होना पड़ता है और फिर रूपायित होकर बाहर निकलना पड़ता है । बाहर आयी राजनीति तब वही राजनीति नहीं होती जो बाहर से भीतर गयी होती है । कृति-रूपा राजनीति आवेगों और संवेगों की राज - नीति होती है । फिर भी वह राजनीति नहीं कविता कहलाती है । " अपने इस मत की पुष्टि में वे आगे पाब्लो नेरूदा की राजनीतिक कविताओं का हवाला देते हुए लिखते हैं कि " पाब्लो नेरूदा की कविताएँ राजनीति से सम्बद्ध एवं सम्पृक्त कविताएँ हैं । उनमें राजनीति के घटना-क्रम भी हैं और घटना-चक्र भी । उनकी कविताओं में स्थाल-स्थल पर तथ्यात्मक विवरण भी हैं। परन्तु खूबी तो यही है कि इस पर भी कविताएँ कविताएँ हैं, राजनीतिक गोलाबारी या उसका धुआँ-धक्कड़ नहीं हैं । वे प्रतिबद्ध कविताएँ

हैं लेकिन प्रतिबद्धता ने उनके काव्य-रूप को विरूपित नहीं किया है। बजाय विरूपित करने के प्रतिबद्धता ने उन कविताओं को नये ऐतिहासिक और आत्मनिष्ठ आयाम दिये हैं और वे पूरी तरह से कलात्मक कृतियाँ हो गयी हैं। वह पूरे बल और वेग के साथ पतनशील राजनीति का पर्दाफाश करती हैं और आक्रामक स्वर में चोट पर चोट करती हैं। फिर भी काव्यात्मक की काव्यात्मक बनी रहती हैं वे। " 94

इस दृष्टि से केदार की राजनीतिक कविताओं पर विचारने से हमें यदि एक ओर कुछ ऐसी कविताएँ मिलती हैं जो केवल तथ्यात्मक चित्रण के कारण कलात्मक दृष्टि से थोड़ी कमजोर मालूम पड़ती हैं तो दूसरी ओर वहाँ ऐसी कविताओं की भी कमी नहीं है जो अपने समय की राजनीतिक विडम्बनाओं की बेबाक अभिव्यक्ति होने के बावजूद पूरी तरह कलात्मकता की शर्त पर रचित हैं। उदाहरण के लिए केदार के कवि को एमरजेंसी की घोषणा के चार-पाँच महीने बाद सूर्योदय की वे तमाम सड़कें सूर्यास्त में समा गयीं-सी प्रतीत होती हैं --

" जिन पर चले हम
तमाम दिन सिर और सीना ताने,
महाकाश को भी वशवर्ती बनाने,

भूमि का दायित्व
उत्क्रांति से निभाने " 95

इसी प्रकार यदि उन्हें " बादलों के विकार से ग्रस्त " " आषाढ़ की उदास पूर्णमासी " सन्न मालूम पड़ती है तो अनुशासन के नाम पर अभिव्यक्ति का गला घोंट देने वाला एमरजेंसी कालीन राष्ट्रीय वातावरण उन्हें " बद्दल - पंखी मौसम " की तरह लगता है जिसके आंतक से तमाम जुझारू लोग ठिठके-ठिठके से प्रतीत हो रहे हैं :

" बद्दल पंखी
        चुप-चुप मौसम ;
पुहियों के छाहों की
नम - नम
        ढलती शाम ;
मुट्ठी-बन्द उठे हाथों के
भीगे-भीगे पेड़,
ठिठके
        ठहरे,
                पाँव समय के,
हवा बंद निस्पंद ;
टूटा रहा
        टप-टप बूँदों से
सन्नाटे का काँच,
महानगर का मौन । " 76

जब एमरजेंसी हटाई गयी तो केदार ने लोकतंत्र के पुन: प्रतिष्ठित होने पर प्रसन्नता जाहिर करते हुए तीन फरवरी 1977 को लिखा :

" फिर से
मुक्त हुआ
जन-मानस ;
फिर से

लाल अनार
हृदय में फूला ;
फिर से
समय-सिंधु लहराया
उमँड़ा ;

अब जब
ढील मिली जनता को
दुर्दम अंकुश के हटने से ।

x x x

पाया प्रकृति-पुरुष ने
लोकतंत्र का
जीवन दर्शन । " 97

किन्तु जब 1977 में जनता पार्टी के प्रतिक्रियावादी एवं स्वार्थी नेताओं ने इस लोकतंत्र का नाजायज़ फायदा उठाते हुए जनहित में कुछ काम करने के बजाय अराजकता का वातावरण पैदा करना शुरू कर दिया तो केदार का कवि उनके इस जनविरोधी चरित्र को भी बर्दाश्त न कर सका :

" चौराहा
बोलता है चुनाव की सभा में ,
" माइक " थामे,
कुछेक सौ
आदमियों के सामने ।
व्याप्त मौन
अब भंग हुआ भीतर-बाहर
चुटकी बजाते
वाचाल आक्रोश से ।
शब्द पर शब्द
भागते-दौड़ते
घुड़-दौड़ में,
चलते कुचलते चले जाते हैं
सबको, सब तरफ,
प्रतिशोध के
हजार अश्व-बल से । " 98

नागार्जुन के शब्दों में यदि कहें तो आगे चलकर जनतापार्टी में " घटकवाद की उठापटक " के कारण जयप्रकाश नारायण का सपना तो चूर-चूर हुआ ही, दल के नेताओं द्वारा शासन में आने के पूर्व घोषित तमाम कार्यक्रम भी " सीता - राम सटक " हो गये । इसके बाद पुन: सन् 1981 एवं 1985 में कांग्रेस पार्टी की सरकार बनी, जिसका जनविरोधी रवैया केदार के कवि को तीखे व्यंग्य वाली अनेकानेक कविताएँ लिखने के लिए बाध्य करता रहा । सन् 1985 के जिस दौर में कवि नागार्जुन कांग्रेस के पक्ष में " मतपत्रों के अतिवर्षण " से चिंतित होकर इसके तत्कालीन नेता के संरक्षण में आगे तस्कर-मेला जमा होने की संभावना व्यक्त कर रहे थे :

" यह प्रचण्ड बहुमत ही
इसको ले डूबेगा
इस गुब्बारे की छाया में
तस्कर-मेला जमा करेगा
मतपत्रों का यह अतिवर्षण
प्रजातंत्र की पीर हरेगा
कौन करेगा, कौन भरेगा
अगला युग ही बतलायेगा " 77

उसी के आसपास केदारने भी इस नवगठित कांग्रेसी सरकार की प्रतिगामी नीतियों का विरोध करते हुए लिखा था :

" चुप रहे सरकार सोते हैं अभी,
आँख में सपने भरे हैं - जिंदगी से दूर हैं
बस इसी के, वास्ते मशहूर हैं," [100]

केदार की रचनाशीलता के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा है कि " केदार जिस खोज की तरफ बढ़ा है वह है, समाज का सत्य और प्रकृति का खुला नैसर्गिक सौन्दर्य । अन्याय के खिलाफ और मेहनत के पक्ष में बेहिझक वह बोलता है । उसके व्यंग्य में दोहरी-तिहरी धार नहीं, सीधी एक धार । मगर वही बहुत काफी होती है । ऐसा खुले हृदय का उन्मुक्त साहसी कवि सौन्दर्य और प्रेम की सुषमा और सौष्ठव पर दृष्टि डालता है तो सहज ही अपनी अनुभूतियों से हमें मोह लेता है । इतना खुला प्यारापन जिसमें दिखावट और बनावटीपन का नाम नहीं उनके यथार्थ वातावरण की गृहणी, उनके किसान, युवक और युवती, और खेतों की सजीव हरियाली और भोली - भाली रंगीनी अपना परिचय हमेशा के लिए हम से दृढ़ कर लेती हैं । क्यों न फिर यह कवि मुझे विशेष प्रिय हो ...... सादगी की कुछ लगाजिशों और कहीं-कहीं सपाटपन के भी बावजूद । " [101]

प्रकृति - चित्रण :-

केदार रचित प्रकृति विषयक कविताओं से गुजरते हुए हमेशा यह एहसास होता रहता है कि वे प्रकृति से जीवनी-शक्ति प्राप्त कर अपनी संवेदना को रचनात्मक विस्तार प्रदान करने वाले रचनाकार हैं । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो केदार के लिए प्रकृति-चित्रण सामाजिक गतिविधियों के चित्रण से निरपेक्ष होकर काव्यात्मक अभिव्यक्ति का विषय नहीं बनता । वस्तुतः केदार अपनी

अनेकानेक कविताओं के रचना-क्रम में कभी तो सामाजिक गतिविधियों का साक्ष्य ढूढ़ने के लिए प्रकृति की ओर मुखातिब होते हैं तो कभी वे प्रकृति - चित्रण करते समय सामाजिक सत्य को उसमें बड़ी खूबी के साथ पिरो देते हैं । अपनी रचनाशीलता के आरंभिक दौर में ही केदार अपने समय के राजनीतिक जन-उभार की तुलना बादल के गर्जन से करते हैं :

" घन गरजे जन गरजे
बंदी सागर को लख कातर
एक रोष से
घन गरजे जन गरजे
क्षत - विक्षत लख हिमगिरि अन्तर

x x x

क्षिति की छाती को लख जर्जर

x x x

देख नाश का तांडव बर्बर
एक बोध से ।
घन गरजे जन गरजे " 102

निश्चित रूप से यह प्रकृति - चित्रण नहीं है । लेकिन इससे यह तो जाहिर होता ही है कि कैसे केदार सामाजिक सत्य के वर्णन - क्रम में भी प्रकृति से उपमान जुटाते हैं । इसी प्रकार अपनी एक अन्य कविता में वे उस युग में आजादी पक्षधर " कोटि - कोटि कण्ठों के जनमत " अथवा जनउभार की तुलना

" मण्डलाकार मेघ की उमड़न-घुमड़न " से करते हैं । इतना ही नहीं, कवि जब खुद के बारे में कुछ कहना चाहता है तब भी वह प्रकृति की ओर ही मुड़ता है :

" खुल गया हूँ मैं
धूप में धान के खेत की तरह
हर्ष से हरा-भरा
भीतर-बाहर लहरा । " 103

केदार के काव्य में धूप, सूर्य, किरण, दिन, नदी, पानी, पहाड़, फूल आदि से सम्बन्धित अनगिनत वर्णन-चित्रण उपलब्ध हैं । धूप केदार की जीवनी शक्ति है जो उन्हें ऊर्जा, तेवर, गति और उत्साह प्रदान करती है । यही कारण है कि इसकी अनेकानेक छवियाँ केदार की कविताओं में दृष्टिगत होती हैं । कहीं तो धूप शिव के जटाजूट पर नभ से उतरी गंगा की तरह है जो अपनी जीवनी शक्ति से धरा को नया जीवन प्रदान करती है । तो कहीं मुलायम खरगोश की तरह आकर्षक है :

" धूप नहीं, यह
बैठा है खरगोश पलंग पर
उजला, रोएँदार, मुलायम --
इसको छूकर
ज्ञान हो गया है जीने का
फिर से मुझको " 104

इसी प्रकार केदार-काव्य में धूप कहीं प्रेयसी के रूप में चित्रित है तो कहीं चमकती चाँदी की साड़ी पहनकर मैके में आई बेटी की तरह :

" धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने
मैके में आयी बेटी की तरह मगन है,
फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है
जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं । " 105

डॉ॰नंद किशोर नवल ने केदार को " सौन्दर्य का कवि " बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि उनके द्वारा प्रकृति एवं मनुष्य विषयक अनगिनत सौन्दर्य चित्रणों के बावजूद उन्हें सौन्दर्यवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि " प्रकृति एवं मनुष्य के चित्रण के माध्यम से उनकी कविताओं में प्रकट होने वाला सौन्दर्य हमारी जीवनेच्छा को सचेत करता है, हमारी जीवनी-शक्ति को उत्तेजित करता है और हमारी भावनाओं को समृद्ध करता हुआ अपने आसपास के जीवन में एक सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने के लिए हमें प्रेरित करता है । " 106 डॉ॰नवल की मान्यता है कि केदार प्रकृति और मनुष्य के " संघर्षशील रूप " के साथ ही उनके " मधुर रूप " का चित्रण करके " अपनी सौन्दर्य-दृष्टि की व्यापकता का परिचय देते हैं क्योंकि " जीवन के स्पृहणीय रूप के अन्तर्गत संघर्षशीलता ही नहीं, बल्कि माधुर्य भी आता है । इसी तरह जीवन की संवेदना का अर्थ केवल उत्साह, ही नहीं, बल्कि प्रेम भी है । " कहना न होगा कि केदार के कवि को वहीं सौन्दर्य दृष्टिगत होता है " जहाँ जीवन उनकी दृष्टि में स्पृहणीय या संवेदनशील रूप में उपस्थित है । " केदार की कविता चूँकि " वस्तु - जगत से, यानी प्रकृति और मनुष्य से, मनुष्य के जीवन और समाज से सम्बन्धित हैं, इसलिए स्वभावतः उसमें इन्द्रिय गोचरता है । " 107

केदार की प्रकृति विषयक कविताओं से गुजरते हुए हमें शमशेर कथन बिल्कुल सही जान पड़ता है कि " केदार बुनियादी " तौर पर एक " नार्मल " रोमानी कवि हैं, छायावादी रोमानी नहीं । " [108] कारण यह कि उनकी इन कविताओं में प्रकृति जहाँ एक ओर उत्तेजक रूप में आती है वहीं दूसरी ओर अपनी यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण भी अनेक बार वह प्रकृति के अधिकाधिक करीब होता चला गया है । इस दृष्टि से उनकी " छोटे हाथ " शीर्षक कविता विशेष रूप से ध्यातव्य है जिसमें प्रकृति एवं श्रम का अद्भुत सामंजस्य दिखाई देता है :

" छोटे हाथ
सबेरा होते
लाल कमल से खिल उठते हैं।
करनी करने को उत्सुक हो,
धूप हवा में हिल उठते हैं ।। " [109]

इसी प्रकार यदि एक जनपक्षधर कवि जनविरोधियों के काले कारनामों से उत्पन्न धुँध अथवा अँधेरा आदि को मिटाने के लिए " धूप की तलवार " की आवश्यकता महसूस करता है, तो यह स्वाभाविक ही है :

" तेज हुई तलवार धूप की चमकी धारा
काट चली अवसन्न धरा का कूल-किनारा " [110]

केदार के काव्य में हमें ग्रामीण प्राकृतिक परिवेश के अनेकानेक सजीव चित्र दृष्टिगत होते हैं । अपनी " चंद्र गहना से लौटी बेर " शीर्षक कविता में वे लिखते हैं :

" देख आया चन्द्र गहना ।
देखता हूँ दृश्य अब मैं
मेड़ पर इस खेत की बैठा अकेला ।
एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है । " 111

इसी प्रकार जब वे खेत में लहलहाते गेहूँ के पौधों को देखते हैं तो उन्हें साहसी लाल-फौज का स्मरण हो आता है :

" आर पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है ।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है ;
नोकीले भाले ताने है,
हिम्मत वाली लाल फौज-सा
मर मिटने को झूम रहा है । " 112

इन दोनों कविताओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए डॉ॰ रामविलास शर्मा लिखते है : " चन्द्रगहना वाली कविता सन् " 1938 वाले दौर की है, गेहूँ वाली सन् 1946 के दौर की । चने का पौधा

ठिंगना है, गेहूँ का पौधा ऊँचा है, चने का पौधा तनकर खड़ा है, गेहूँ का पौधा डटा खड़ा है । पहली कविता में केदार चने के एक पौधे को देखते हैं, दूसरी में गेहूँ के पौधे लाखों हैं, लगता है, एक खेत के नहीं, कई खेतों के पौधे एक साथ देख रहे थे । × × × × नि:सन्देह केदार की सामाजिक विचारधरा की छाप उनके प्रकृति चित्रण पर है । पर यह हल्का प्रतीकवाद नहीं है । वनस्पति जगत् और मनुष्य में जीवंत सम्बन्ध है, केदार यह सम्बन्ध पहचानते हैं । दोनों पृथ्वी पुत्र हैं, वनस्पति जगत् पहले है, मानव जगत उसके बाद है । "[113] अपने इन्हीं विवेचनों के आलोक में डॉ॰शर्मा ने केदार को किसान के प्राकृतिक परिवेश का कवि तथा उनकी काव्य-चेतना को मूलत: किसान-चेतना के रूप में रेखांकित किया है ।[114]

डॉ॰शर्मा की इस मान्यता के प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हुए डॉ॰खगेन्द्र ठाकुर का कहना है कि केदार की कविता किसान चेतना की कविता नहीं है । वे वास्तव में श्रमिक जनता की संघर्षशीलचेतना के कवि हैं, वह श्रमिक जनता जो इस युग के ऐतिहासिक प्राप्य को हस्तगत करने की युगान्तरकारी शक्ति से सम्पन्न है । केदार की चेतना लड़ाकू है, इसीलिए हर जगह उन्हें संघर्ष का समाँ दिखाई पड़ता है ।[115] डॉ॰ ठाकुर की यह मान्यता एक हद तक इसीलिए भी सही जान पड़ती है कि खुद डॉ॰रामविलास शर्मा के भी " केदार की कवि-चेतना " को " एक ऐसे मर्द की चेतना " बताया है, जो " मार्क्सवाद के ज्ञान से पुष्ट हुई "[116] और कहना न होगा कि जब कवि की चेतना मार्क्सवाद के ज्ञान से पुष्ट होगी तो वह किसान-चेतना तक सीमित न रह जाएगा । सच तो यह है कि केदार के काव्य में श्रमजीवी वर्ग की संघर्षशील चेतना की भरपूर

अभिव्यक्ति हुई है । इस वर्ग में किसान एवं मजदूर दोनों ही शामिल हैं। यदि एक ओर सबेरा होते ही केदार के काव्य में चित्रित किसानों के --

" छोटे हाथ
किसानी करते --
बीज नये बोया करते हैं ।
आने वाले वैभव के दिन,
उँगली से टोया करते हैं । " 117

तो दूसरी ओर जब इसी वर्ग के किसी मजदूर के यहाँ नवजात शिशु का जन्म होता है तो केदार लिखते हैं :

" एक हथौड़ा वाला घर में और हुआ !
हाथी सा बलवान,
जहाजी हाथों वाला और हुआ !
सूरज-सा इंसान,
तरेरी आँखों वाला और हुआ !!
माता रही विचार
अँधेरा हरनेवाला और हुआ !

x x x x x

सुन ले री सरकार !
क्यामत ढाने वाला और हुआ !! " 118

नारी प्रेम कविताएँ :

प्रकृति प्रेम के अतिरिक्त केदार का काव्य नारी प्रेम की गहन अनुभूतियों से भी पगा हुआ है । नारी प्रेम की जैसी अकुंठ अभिव्यक्ति हमें यहाँ मिलती है उसका प्रगतिशीलकवियों में प्राय: अभाव होता है । चूँकि स्त्री के प्रति पुरुष का सहजआकर्षण भी एक मानवीय प्रक्रिया है, एक यथार्थ है, इसलिए केदार का कवि इसे त्याज्य नहीं मानता । " अपूर्वा " की भूमिका में केदार ने लिखा है : " लोग तो प्रगतिशील कविता में केवल राजनीति की चर्चा मात्र ही चाहते हैं । वे कविताएं, जो प्रेम से, प्रकृति से, आसपास के आदमियों से, लोकजीवन से, सुन्दर दृश्यों से, भू-चित्रों से, यथावत् चल रहे व्यवहारों से और इसी तरह की अनेकरूपताओं से विरचित होती हैं, प्रगतिशील नहीं मानी जाती । मेरी प्रगतिशीलता में इन तथाकथित वर्जित विषयों का बहिष्कार नहीं है । वह इन विषयों के संदर्भ में उपजी हुई प्रगतिशीलता है । " 119

कहना न होगा कि केदार अपनी रचना-यात्रा के आरंभ से ही अत्यंत आवेगपूर्ण प्रेम कविताएँ लिखते रहे हैं । उनके आरंभिक संग्रहों में ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें कवि का युवा मन पत्नी-प्रियतमा से मिलने के लिए अत्यंत व्याकुल दिखाई देता है । कालांतर में यह व्याकुलता थिराकर और भी गंभीर प्रेम भावना का रूप ग्रहण कर लेती है जो अपने आप में निष्कलुष एवं कुंठाविहीन है । दूसरे शब्दों में कहें तो पतनशील कवियों की नारी-प्रेम विषयक कविताओं से भिन्न केदार का प्रेम स्वस्थ एवं नैसर्गिक है । उनकी कविताएँ स्वकीया प्रेम की कविताएँ हैं । उनमें परकीया प्रेम के

नाम पर प्रेम की जगह प्रेम का विकृत स्वरूप चित्रित नहीं हुआ है । इस प्रेम में मांसलता है, पत्नी-प्रियतमा से तन एवं मन दोनों ही स्तरों पर गहन सम्पृक्ति का लालसा है और अनेक बार मर्यादा का उल्लंघन कर अपने प्रेय को पाने की इच्छा भी दृष्टिगत होती है ।

जाहिर है कि केदार का साहित्यिक संस्कार आरंभ में श्रृंगारिक काव्य-ग्रंथों के पठन-पाठन से अतिशय प्रभावित था । इस तथ्य को खुद स्वीकारते हुए उन्होंने लिखा है कि " मेरे परिवार में भी मेरे पिताश्री काव्य प्रेमी होने की वजह से आजीवन ऐसे काव्य से सम्पृक्त होते रहे और प्राचीन कवियों की रचनाएँ सराहते और गुनगुनाते रहे । उनके पास जयदेव, विद्यापति, कालिदास, पद्माकर मतिराम बिहारी, हरिऔध, रत्नाकर आदि कवियों के काव्य ग्रंथ भी थे । मैं लड़कपन में उनको सुनता, तो मुझे यह स्वर-प्रवाह आकर्षित करता और मैं, न समझते हुए भी, उनसे प्रभावित होता रहा । जब कुछ हिन्दी का ज्ञान बढ़ा, तो मैंने उन ग्रंथों को छुप छुप कर पढ़ना शुरू किया और परिणाम यह हुआ कि मैं काव्य में प्रतिबिम्बित नारी के सौन्दर्य का रसज्ञ हो गया । उसी का परिणाम है कि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होने के पहले मैं उसी प्रकार के सौन्दर्य की स्वयं भी कविताएँ लिखने लगा । "[120] अत: ऐसी मानसिक बुनावट के तहत रचित प्रेम कविताओं यदि नारी देहयष्टि का स्थूल श्रृंगारिक चित्रण मिलता है तो यह कतई अस्वाभाविक नहीं है :

" वहीं एक चट्टान पड़ी है,
अंकित है उनमें दो मूर्ति —
नर है एक, एक नारी है !

दोनो नंगे सटे खड़े हैं,
दोनों की जांघें मिलती हैं ;

x x x x

नर की दृढ़ छाती से दबकर
नारी का कुच तुरत दरकने वाला ही है,
बाहर आधा निकल रहा है ;
ओंठ ओंठ को चूस रहे हैं;
आँखें बन्द निशा फैली है ; " 121

सन् 1938 में रचित इस कविता की पंक्तियों से गुजरते हुए हमें ऐसा लग सकता कि उस समय केदार रीतिवादी मानसिकता से ग्रस्त थे। किन्तु, वास्तविकता यह है कि इस कविता में युगनद्ध प्रस्तर प्रतिमा का यथातथ्य चित्रण होने के बावजूद रचनाकार रीतियुगीन कवियों की तरह आगे अपनी प्रेमिका या पत्नी के साथ कोका पंडित द्वारा आविष्कृत चौरासी आसनों का अभ्यास नहीं करने लग जाता है। वह तो बड़े ही सात्त्विक भाव से अपनी प्रिया को संबोधित करता हुआ कहता है :

" प्यारी ! देखो यही मूर्तियाँ
सब नर नारी पूज रहे हैं,
प्रेमालिंगन सीख रहे हैं !
आओ हम तुम इन्हें पूज लें
प्रेमालिंगन यही सीख लें ! " 122

फिर भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि केदार की आरंभिक कविताओं में प्रेम का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है, उसमें अनेक स्थानों पर शरीर पक्ष से सम्बंधित चित्रण कुछ ज्यादा ही स्थूल हो गया है और इसके मूल में केवल केदार का आवेगशील युवा प्रेमी मन नहीं है बल्कि इससे कहीं अधिक कवि के वे साहित्यिक संस्कार सक्रिय हैं जो आरंभिक अवस्था में उसके भीतर पैठ गए थे।

शमशेर ने केदार की रोमानियत को छायावादी रोमानियत से अलगाते हुए उन्हें बुनियादी तौर पर एक नार्मल रूमानी कवि बताया है। यह बात बहुत हद तक इसलिए भी ठीक जँचती है क्योंकि केदार के काव्य में रूमानी उच्छृंखलता की जगह एक प्रकार की शालीनता दृष्टिगत होती है। कवि का प्रेमी नायक जब अपनी प्रेमिका को सोया हुआ पाता है तो वह निराला की " जुही की कली " में चित्रित उद्धत नायक (मलय पवन) की तरह उसे झकझोर कर जगाने के बजाय दबे पाँव घर लौट आता है :

" आज नदी बिल्कुल उदास थी,
सोयी थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था।
मैंने उसको नहीं जगाया
दबे पाँव घर वापस आया। " 123

कुल मिलाकर हम यह कहते सकते हैं कि केदार की रचनाशीलता का फलक अत्यंत व्यापक है । यहाँ हमें जीवन के विविध रंगों के दर्शन होते हैं । इनमें जहाँ एक ओर सामान्य जन अथवा श्रमजीवी वर्ग के प्रति कवि की आत्यंतिक सहानुभूति के साथ ही उसकी मुक्ति के लिए किये जाने वाले तमाम प्रयासों के प्रति क्रांतिकारी आस्था को अभि - व्यक्ति मिली है तो वहीं दूसरी ओर प्रेम एवं सौन्दर्य को अंकुठ अभि - व्यक्ति प्रदान करने वाली रचनाएँ भी केदार के यहाँ संख्या में कम नहीं हैं । वस्तुत: ऐसी रचनाओं के द्वारा कवि ने प्रगतिशीलता की प्रचलित मान्यता को भी एक विस्तार एवं गहराई प्रदान किया है ।

कवि त्रिलोचन का जीवन-दर्शन :-

त्रिलोचन का कवि अपनी धरती और उसकी माटी से उपजा एक ऐसा कवि है, जिसकी सृजनात्मक मानसिकता के निर्माण में धरती अपने विविध रंग-रूप गंध के साथ निरन्तर सक्रिय रही है और प्रचण्ड ताप, असह्य शीत तथा वर्षा-तूफान झेलने वाली सर्वसहा धरती के समान ही यह धरती-पुत्र रचनाकार सतत् संघर्षशीलता को ही अपनी पहचान और अपना जीवन-दर्शन मानते हुए धरती की ही तरह अपने रूप-रंग और गंधसे हमें विमुग्ध करता रहा है। जिस युग में राजनीति से लेकर साहित्य तक में ईमानदारी दुर्लभ हो, उसमें यह योद्धा कवि अपनी रचनात्मक ईमानदारी की लौ जलाए चल रहा है। यदि इस क्रम में कठिन से कठिन स्थितियाँ उसे प्रकम्पित नहीं कर पायी हैं तो इसका कारण यह है कि कवि की ईमानदारी केवल रचना में शब्दों की सतह पर सायास प्रकट ईमानदारी नहीं है बल्कि यह ईमानदारी रचना में सीधे जीवन से आई है।

त्रिलोचन के प्रथम काव्य-संग्रह "धरती" { प्रथम संस्करण 1945 } की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा था : "मुझे कहने दीजिए कि धरती के गीतों का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है, जिनसे मात्र काव्य सामर्थ्य ही नहीं प्रकट होता, वरन् जीवन के विस्तृत दायरे के विभिन्न भागों का काव्यात्मक आकलन करने की क्षमता भी प्रकट होती है। x x x x कवि की अपनी अनुभूतियाँ बहुत संयम के साथ प्रकट होती हैं। उसमें चीख-पुकार या अट्टहास का आलोड़न नहीं है। न वह चीज है जिसे आप अतृप्त वासना कह सकते हैं। इन सब दोषों से मुक्त,

विचारों और भावनाओं से आलोकित, काव्य मिलना कठिन होता है। साथ ही कवि की प्रगतिशीलता अट्टहासपूर्ण आंतरिक क्षति-पूर्ति के रूप में नहीं आयी है, वरन् कवि के अपने जीवन-संघर्ष से मँज-घिसकर तैयार हुई है। x x x सारी कविताओं में कवि का गहरा आत्मविश्वास और सामाजिक लक्ष्य के प्रति ईमानदारी प्रकट होती है। यह मात्र ईमानदारी ही नहीं, प्रत्युत् उसका जीवन-दर्शन है।" [124] आगे त्रिलोचन के संघर्ष की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध की मान्यता है कि "वह संघर्ष इतना यथार्थ है कि उसमें सफलता के लिए धीर-गम्भीर व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जिसकी परिकल्पना की कसौटी पर वह अपने व्यक्तित्व को कसना चाहता है, और अपने मन को उसके बारे में उपदेश दिया करता है, समझाता रहता है। इस समझाने के भी उसके अनेक मूड्स हैं। पर एक बात निर्विकार रूप से अपनी रहती है। वह है अपनी नैतिकतामूलक धारा (डायडैक्टिक स्ट्रेन), जो उसकी सब संघर्ष सम्बन्धी कविताओं में प्रधान है।" [125]

जाहिर है कि त्रिलोचन के सम्पूर्ण जीवन को निर्धारित करने वाले दो महत्वपूर्ण मूल्य हैं - एक सामाजिक लक्ष्य के प्रति ईमानदारी और दूसरा - नैतिकतामूलक धारा। उनकी कविताओं में भी बिम्बित जीवनानुभवों के पीछे ये दोनों मूल्य जीवन-दर्शन की तरह सक्रिय दिखाई पड़ते हैं। संघर्षों के बीच जीवन की जय के प्रति आस्थावान लोगों के लिए कवि की श्रद्धा भी उसके जीवन-दर्शन का ही अंग है। अपनी इस आस्था को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए वह कहता है :

"जो अपनी धुन पर न्योछावर अपना सब कुछ कर देते हैं
जग-जीवन के लिए स्वयं को निर्भय हो बलिकर देते हैं
जिसका कदम-कदम जीवन की जय-यात्रा का प्रिय प्रतीक है
मैं सगर्व सोल्लास निरन्तर उन लोगों का गुण गाता हूँ ।

x x x x

जिन लोगों ने संघर्षों में कभी हार को हार न माना
मरते रहे परन्तु जिन्होंने मृत्यु-प्रहार प्रहार न माना
जिनके अप्रतिहत साहस की क्षण क्षण लिखते रहे कहानी
मैं सगर्व-सोल्लास निरन्तर उन लोगों का गुण गाता हूँ ।" 126

कहना न होगा कि अनेक संघर्षशील रचनाकार संघर्षों के निर्मम प्रहारों को बर्दाश्त न कर पाने के कारण प्राय: अन्तर्मुखी हो जाया करते हैं और अनेक बार उनकी अन्तर्मुखता उन्हें ध्वंसात्मक प्रवृत्ति की ओर भी घसीट ले जाती है परन्तु त्रिलोचन एक ऐसे योद्धा कवि हैं, जिन्होंने संघर्ष को ही अपनी जीवन-यात्रा का अभिन्न अंग माना है और संघर्षशीलता ही उनकी सृजनात्मक ऊर्जा का अक्षय स्रोत रही है । संभवत: इसी वजह से उनमें वह निराशा नहीं है, जो एकांत रूप में कवि को अन्तर्मुखी बनाकर उसे सामाजिक यथार्थ से काटकर अलग-अलग कर देती है । त्रिलोचन के कवि में अकेलेपन में भी समूह से जुड़ने की अकुलाहट बनी रहती है :

" आज मैं अकेला हूँ
अकेले रहा नहीं जाता
जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में
कि
फूल में
मिला है
तो
मिला है यह
मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता । " 127

किन्तु, समूह से जुड़ने की अकुलाहट का यह अर्थ नहीं है कि कवि के पास स्वतंत्र व्यक्तित्व का अभाव है । आवश्यकता पड़ने वह कठिन से कठिन मंजिल को अकेले तय करने की क्षमता भी रखता है :

" बढ़ अकेला
यदि न कोई संग तेरे पंथ-बेला " 128

त्रिलोचन आरंभ से ही निराला के व्यक्तित्व एवं रचनाकर्म दोनों ही से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं । केदारनाथ सिंह से की गई बातचीत के दरम्यान उन्होंने खुद इस तथ्य को स्वीकारते हुए कहा है : " असल में जिस कवि का मेरे मन पर सचमुच प्रभाव पड़ा, वे निराला थे । "

त्रिलोचन के अनुसार कविता के स्तर पर निराला से उनका साक्षात्कार " सन् 1929 में " माधुरी " में उनकी " अधिवास " शीर्षक कविता को पढ़कर हुआ जो " उस समय छपनेवाली अन्य छायावादी कविताओं से एकदम भिन्न थी । इस कविता में वेदना किसी आध्यात्मिक अर्थ में नहीं, बल्कि शुद्ध मानवीय अर्थ में व्यक्त की गयी थी " और इसी बात ने उन पर असर डाला । त्रिलोचन के शब्दों में " निराला के पास एक तेज आँख थी और उस आँख को दिशा देनेवाली एक विलक्षण भाव-दृष्टि भी, जो और कहीं नहीं मिलती । मुझे हर बार उसी ने कायल किया । " 129 कहना न होगा कि निराला से प्रभावित होने के कारण त्रिलोचन के व्यक्तित्व और जीवन दोनों में जो एक चट्टानी दृढ़ता और अक्खड़ता है, वह उनकी कविता को हमेशा बिखराव और शिथिलता से बचाती रही है । सन् 1987 में प्रकाशित काव्य-संग्रह " चैती " की पहली ही कविता में कवि की संघर्षशील जीवन-दृष्टि का विकास तब और स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जब वह कर्मशीलता की वकालत करता हुआ कहता है :

" रात ढली, ढुलका बिछौने पर,
प्रश्न किसी ने किया,
तूने काम क्या किया
नींद पास आ गई थी
देखा कोई और है
लौट गई

x x x x

तूने पहचाना नहीं ?
यही महाकाल था,
मुझको जगा के गया
उत्तर जो देना हो
अब इस पृथ्वी को दो
कर्मों की भाषा में " 130

कवि त्रिलोचन का जीवन-दर्शन ऐसी कविताओं में भी प्रकट हुआ है जो उन्होंने अपने समकालीन कवियों के सम्बन्ध में लिखी हैं । उदाहरण के लिए शमशेर बहादुर सिंह के जन्मदिन पर लिखी गई कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें कवि का अपना जीवन-दर्शन जगह-जगह बिम्बित हुआ है :

" बोएँगे हम कर्म-क्षेत्र अपना, आत्मा नया बीज है,
सीचेंगे लग के प्ररोह इस के, थोड़ा नहीं रक्त है
कोई हो अब और आक्रमण का दुर्योग देंगे नहीं
खेती मानव की हरी लहलही फैले बढ़े प्यार से । " 131

मानव की खेती प्यार से लहलहाती हुई बढ़े, यह उदात्त मानवीय दृष्टि सन् 1975 में प्रकाशित " दिगन्त " काव्य-संग्रह की कविताओं में भी परिलक्षित होती है । त्रिलोचन इस संग्रह की " काकली " शीर्षक कविता में लिखते हैं —

मुक्ति कहाँ है, मुक्ति कहाँ ? जीवन बन्दी है,
पंख फड़फड़ाती है, मन में मुक्ति बिचारी,
तन के बन्धन में जन-मन निरूपाय पड़ा है
भैरों में बहुजन हैं, कोई आनंदी है
" हो आनंद न सबका तो मानवता हारी "
कोकिल का तम के गढ़ में संदेश बड़ा है । 132

त्रिलोचन का जीवन-दर्शन उनके समकालीनों से इस अर्थ में भी भिन्न है कि अपने जीवन-दर्शन के बृहत्तर प्रभा मण्डल द्वारा कवि के रूप में अपनी कोई महती प्रतिभा खड़ी करने का प्रयास नहीं करते । वे जो हैं, जैसे हैं, जैसा अनुभव करते हैं, वैसा ही दिखते हैं, वैसा ही लिखते हैं। उनके जीवन-दर्शन का केन्द्रीय स्वर यही है कि वे अत्यंत संवेदनशील भावुक कवि से पहले आपादमस्तक मनुष्य हैं । वे स्वयं से अक्सर यह प्रश्न कर उठते हैं --

" क्यों मैंने पाया है इतना नरम कलेजा
जो दुख कभी किसी का नहीं देख सकता है,
आँखें भर-भर आती हैं, यह मन थकता है
नहीं उठा रखने में कुछ भी, ले जा, ले जा
मेरा जो कुछ तुझे चाहिए, दे जा, दे जा
मुझे अलाय-बलाय सभी तू, यह बकता है
यों ही सोच न ऐसा अब किसको तकता है,
तेरे दुख ने तुझको ठीक पते पर भेजा । "

सचमुच हिन्दी कविता में अजेय चट्टानी व्यक्तित्व के अन्दर निराला में तो इतना नरम कलेजा था ही । त्रिलोचन ने भी ऐसा ही कोमल और विराट हृदय पाया है, जिसने उनके समस्त चिन्तन-दर्शन और सर्जन के केन्द्र में इस सत्य को बार-बार स्थापित किया है --

" सचमुच, सचमुच मेरे पास नहीं है पैसा,
वह पैसा जिससे दुनिया-धन्धा होता है
तो क्या, दिलतो है, ऐसा दिल जिसमें दिल का
ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब उतर आता है, जैसा
दर्पण में तब-तब होता है, क्यों रोता है ?
पैसेवाला रह जाता है केवल छिलका " 133

मार्क्सवाद और त्रिलोचन :-

त्रिलोचन ने मार्क्सवादी विचार धारा से अपने परिचय के बारे में कहा है कि सन् 1936 ई॰ में आगरा में रहते हुए-एक दक्षिणी व्यक्ति की सहायता से उन्हें पहले-पहल मार्क्स की कृतियों को पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ । उनके ही शब्दों में, " मुझे मार्क्स के विचारों ने प्रभावित किया - क्योंकि उनमें दुनिया को बदलने के लिए एक छटपटाहट थी । " इस संदर्भ में अपने भीतर बचे हुए संस्कृत साहित्य के संस्कार के बारे में वे कहते हैं कि " मुझे मार्क्स और अपने भीतर बचे हुए संस्कृत साहित्य के संस्कार में कोई विरोध नहीं दिखा । संस्कृत कविता हमेशा इसी लोक की कविता रही है और मार्क्स इसी लोक को देखने-परखने और फिर बदलने की बात करते थे ।" त्रिलोचन के अनुसार संस्कृत कविता में सामाजार्थिक परिवर्तन की

" बेचैनी सीधे-सीधे नहीं है। परन्तु कालिदास या उससे भी अधिक बाणभट्ट एक बेचैन लेखक जरूर थे। संस्कृत के सुभाषितों में युग-जीवन की वह बेचैनी कहीं अधिक मिलती है। " उनकी अपनी रचनाशीलता पर घटित मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव के बारे में त्रिलोचन का कहना है कि इससे " अलंकारप्रियता घटी और निजी दुःख की अपेक्षा सामाजिक दुःख के साथ मेरे मन का सम्बन्ध अधिक गहरा हुआ। लोक-जीवन का आधार तो था ही। मार्क्सवाद ने उसे सुदृढ़ वैचारिक पृष्ठभूमि दे दी।" किन्तु इन सब के बावजूद त्रिलोचन कभी कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य नहीं बने। उन्हें ऐसा लगता था कि सक्रिय कार्यकर्ता बनकर वे अपने पठन-पाठन को कायम नहीं रख सकते थे। इसके अलावा एक दूसरा कारण भी था - और वह था परिवार का बोझ। " उस समय पार्टी में जाना भूमिगत होना भी था। ऐसी हालत में परिवार को देखनेवाला कोई न होता। " पार्टी के साथ लेखक के जुड़ाव के मुद्दे को लेकर त्रिलोचन की मान्यता है कि " पार्टी की तात्कालिक आवश्यकताएँ होती हैं और कार्यक्रम भी। लेखक को थोड़ा खुला अवकाश चाहिए। पार्टी का कठोर अनुशासन इसमें कई बार आड़े भी आ सकता है। परन्तु लेखक किसी दलगत विचार या स्वयं उस दल के साथ अपना सम्बन्ध कैसे साधता है, यह बहुत कुछ लेखक की रचनात्मक क्षमता पर निर्भर करता है। "[134]

कहना न होगा कि पार्टी की सदस्यता अथवा सक्रिय राजनीति से लेखक के जुड़ाव को लेकर त्रिलोचन ने जो वक्तव्य दिया है वह बहुत हद तक जायज नहीं है। दुनिया के साहित्य में ऐसे अनेक लेखक हुए हैं जो श्रेष्ठ रचनाकार होने के साथ-साथ न केवल सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता रहे हैं, बल्कि अवसर आने पर उनमें से कई ने सर्वहारा के पक्ष में पूँजीवादी साम्राज्यवादी एवं फासिस्ट ताकतों का रणभूमि में सशस्त्र मुकाबला करते हुए

अपने प्राणों की आहुति भी दीहै । उदहारण के लिए गोर्की यदि बोल्शेविक पार्टी के सक्रिय सदस्य थे तो क्रिस्टोफर कौडवेल एवं रैल्फ फौक्स जैसे लेखकों ने हिंसक फासिस्टवाद के विरुद्ध कलम के साथ तलवार भी उठाया और मानव-मूल्यों के लिए लड़ते हुए शहीद हो गए ।

त्रिलोचन-काव्य में प्रगतिशील संदर्भ :-

अपनी रचनाशीलता के आरंभ से ही त्रिलोचन हालांकि यथार्थवादी दृष्टि से सम्पन्न रहे है परन्तु इस रूप में उनकी पहचान में काफी विलम्ब हुआ है । अपने एक सानेट में वे हिन्दी आलोचना द्वारा अपनी उपेक्षा का बयान करते हुए लिखते है :

" प्रगतिशील कवियों की नई लिस्ट निकली है
उसमें कहीं त्रिलोचन का तो नाम नहीं था ।
आँखे फाड़-फाड़ कर देखा, दोष नहीं था
पर आँखों का । सब कहते हैं कि प्रेस छली है,
शुद्धिपत्र देखा, उसमें नामों की माला
छोटी न थी । यहाँ भी देखा, कहीं त्रिलोचन
नहीं । " 135

जाहिर है कि त्रिलोचन के काव्य-संग्रह " धरती " का प्रकाशन वर्ष सन् 1945 है जिसके बाद ही निराला की यथार्थ चेतना का स्पष्ट प्रमाण देने वाला संग्रह " नये पत्ते " (सन् 1946 के अंत में) प्रेस में दिया गया था । इस संग्रह की एक कविता में त्रिलोचन मानवीय मूल्यों की गिरावट

पर चिंता व्यक्त करते हुए जब उसके मूल कारण को स्पष्ट करते हुए लिखते है —

" पूँजीवाद ने महत्त्व नष्ट कर दिया सब का
जीवन का, जन का, समाज का, कला का
बिना पूँजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता
ज्ञान-विज्ञान से किसी प्रकार
कोई कल्याण नहीं हो सकता । " 136

तो उनकी समाजालोचन की दृष्टि स्वत: स्पष्ट हो जाती है ।

अरूण कमल ने त्रिलोचन की कविता को विशेषकर ग्रामीण जीवन की विविधता की कविता बताते हुए लिखा है कि उनके अधिकांश चरित्र वैसे गाँवों के हैं, " जब गाँवों का स्थिर जीवन अपने अंतिम दौर में था । जहाँ नगई महरा रामायण बाँचते थे । घरेलू सम्बन्ध वैसे ही थे जैसा उनको होना चाहिए था और " भौजी " अपनी समस्त मधुरता और ऐश्वर्य के साथ विराजती थीं । जहाँ सामाजिक जीवन के छोटे-मोटे विवाद या व्यवधान पँचैती से हल कर लिये जाते थे और " शाहों की भाषा बोलने वाले भिक्षुक " आदर के पात्र थे । घर की अखण्ड सुरक्षा और गाँव के स्थिर जीवन के बड़े ही मार्मिक प्रसंग त्रिलोचन की कविता के आधार-भाव हैं । x x x x त्रिलोचन के यहाँ कोई कविता सम्पूर्ण द्वन्द्व का समाहार नहीं कर पाती । इसके लिए हमें कई कविताओं को मिलाकर देखना पड़ता है । ऐसा नहीं करने से अनर्थ हो सकता है । " 137

अपने आलेख में अरुण कमलने जो सूत्र दिये हैं उनके आधार पर जब हम त्रिलोचन काव्य पर विचारते हैं तो उनके काव्य-संग्रह " धरती " में संगृहीत " भोरई केवट के घर " शीर्षक कविता पर सर्वप्रथम हमारी दृष्टि जाती है जो द्वितीय महायुद्ध के दौरान रचित है । कवि का " मैं " जो अरुणकमल की दृष्टि में एक चरित्र ही है, जब बहुत दिनों के बाद बाहर से अपने गाँव लौटा था तो उसने " पहले का बसा गाँव उजड़ा सा पाया था । " भोरई केवट के घर पर जब बहुत सारी बातें हुई तो इसी बीच वे कहते हैं :

" बाबू इस महँगी के मारे किसी तरह अब तो
और नहीं जिया जाता
और कब तक चलेगी लड़ाई यह ? "

भोरई केवट के इस प्रश्न पर कवि की टिप्पणी है कि —

" ऐसा जान पड़ा जैसे भोरई निरुपाय और असहाय
आकण्ठ दु:ख के अभाव के समुन्द्र में पड़ा हुआ
उसकी विकट लहरों के थपेड़े सह रहा था "

" चिराई का बाशिन्दा वह भोरई " पुनर्जन्मवादी एवं भाग्यवादी अथवा कर्मफलवादी है । इसलिए दूसरों के द्वारा पैदा किये गए इस संकट में फँसा वह पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद की चालें समझ पाने में अक्षम है जिसके कारण गाँवों की सम्पूर्ण सामाजार्थिक व्यवस्था चरमरा सी गई है । कवि लिखता है :

" इस अकारण पीड़ा का कोरई उपचार कौन सा करता
वह तो इसे पूर्व जन्म का प्रसाद कहता था
राष्ट्रों के स्वार्थ और कूटनीति,
पूँजीपतियों की चालें
वह समझे तो कैसे ! " 138

इसी प्रकार काले अच्छर नहीं पहचानने वाली सुन्दर ग्वाला की लड़की " चम्पा " का जब कवि चित्रण करता है तो इस क्रम में साक्षर बनने से इन्कार करती हुई चम्पा साफ कहती है कि यदि ब्याह भी हुआ वह अपने पति को कभी कलकत्ता नहीं जाने देगी - - -

" कलकत्ता मैं कभी न जाने दूँगी
कलकत्ते पर बजर गिरे । " 139

भारत में गाँवों की कीमत पर दिनानुदिन विकसित हो रही पूँजीवादी महान - गरीय सभ्यता पर त्रिलोचन की चम्पा के द्वारा बज्रपात के लिए जो बद्दुआ मनायी जा रही है उसका सीधा कारण है उजड़ते हुए गाँवों से मजदूरों का रोजी-रोटी की तलाश में शहर की ओर पलायन के प्रति कवि का सहज आक्रोश । किन्तु त्रिलोचन जब रंज होते हैं, आक्रोश में आते हैं तो नागार्जुन के विपरीत वे अपना स्वर इतना ज्यादा संयमित कर लेते हैं कि उनका रंज एवं आक्रोश शमित हो गया-सा प्रतीत होता है ।

"चम्पा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती" शीर्षक कविता पर टिप्पणी करते हुए डॉ॰नामवर सिंह ने लिखा है : "मुझे याद है, सन् 1941-42 के दिनों में जब त्रिलोचन यह कविता सुनाते थे तो लोग हँसते थे, गोया कोई हास्यरस की कविता हो । "कलकत्ता मैं कभी न जाने दूँगी ।" कलकत्ते पर बजर गिरे" की चोट को समझने वाले न थे । "जिमि मुँह मुकुर, मुकुर निज पानी । गहि न जाई अस अद्भुत बानी ।" तुलसीदास दर्पण मे मुँह । हाथ में दर्पण । मुँह फिर भी हाथ से बाहर । यह वह अद्भुत वाणी है । सरल जरूर है, पर सपाट नहीं । तहदार, तहाई हुई । "तुलसी बाबा, भाषा मैंने तुमसे सीखी, मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो ।" त्रिलोचन ने यों ही नहीं कहा है । उनकी कविता में हिन्दी की पूरी परम्परा बोलती है - कबीर-तुलसी दोनो की । सहज भाव से । अनायास । x x x x x "धरती" की जिस भाषा से चम्पा की कली फूटी है, उसी से आगे चलकर त्रिलोचन ने "नगई महरा" शीर्षक लम्बी कविता की सृष्टि की, जिसमें गाँव की पूरी संस्कृति मूर्तिमान हो उठती है । त्रिलोचन की कविता में साधारण जनों के बीच से उठाये हुए ऐसे चरित्र बहुत आए हैं । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में जैसी दुनियारची है, कविता के क्षेत्र में बहुत कुछ वही काम त्रिलोचन ने किया है । xx x x x x "चम्पा" और "नगई महरा" के कविता होने में कुछ लोगों को सन्देह है । सन्देह इसलिए कि वे साधारण हैं । साधारण होने में ही उनकी असाधारणता है । (त्रिलोचन "साधारण" के असाधारण कवि हैं । उनका विशेष यही है) ।" [140]

वस्तुत: त्रिलोचन की कविता में जन से जुड़ने की प्रवृत्ति विशेष रूप से रेखांकित करने योग्य है और इसी कारण उनकी कविता का चरित्र पूरी तरह से जनवादी हो गया है । सदियों से दलित-पीड़ित एवं व्यवस्था का

नरक भोगने को अभिशाप्त जनता के प्रति कवि अत्यंत ही सहानुभूतिशील है। ये तमाम लोग उसे आत्मीय लगते है :

" तुमको अपना कहूँ किन्तु, कहने का साहस
मेरे मन में नहीं बचा है। मेरे गंदे
कपड़ों से तुम को नफरत है। तो फिर बंदे ।

x x x x x

मुझको जो पिछड़े हैं पथ पर
उन्हें देखना है, - मेरे इतने अपने हैं
जितने तुम हो नहीं। संग उनके तपने हैं
तप जीवन के, जाते देखा करते रथ पर
औरो को चुपचाप, पड़े हैं जहाँ वहाँ हैं,
तुम महिमा में मुग्ध, तुम्हें क्या कौन कहाँ हैं।" 141

त्रिलोचन का कवि श्रमजीवी वर्ग की दीन-हीन दशा से अत्यंत व्यथित है। " कर्म की भाषा " में उत्तर देने के आग्रही त्रिलोचन सर्वहारा की शक्ति एवं उसके मुक्तिसंघर्ष में अटूट आस्था रखने वाले कवि हैं। जब इस जन की मुक्ति का संघर्ष सफल होगा, सामंती पूँजीवादी कोहरा छटेगा तो दूसरों का घर बनाने के लिए न्यूनतम मजदूरी भी न पाकर श्रम बेचने को मजबूर यह वर्ग भी आज-न-कल अपना घर अवश्य बना सकेगा --

" घर औरों के जो बनाता है अपना भी आप बना लेगा
अनुकूल मसाला जो पा जाए और चूना गारा पा जाए " 142

वस्तुत: इसी श्रमजीवी वर्ग की बस्ती में कवि का मन बसता है । जब चैत के महीने में गुलाब और बुलबुल मिलन-मोद मना रहे हैं तो दोनों का आनंद रचनाकार के भीतर एक रिक्त पैदा करता है, क्योंकि वह अपनी बस्ती में वैसी ही खुशी खोज नहीं पाता :

" चैत के दिन हैं बसी हैं गुलाब की डालें
कैसा आनंद है बुलबुल को, गान गाता है ।
कितना अवसन्न हूँ कितना दुखी है मेरा मन
अपनी बस्ती में कहीं हर्ष नहीं पाता है । " 143

ऐसे तो " ग़ज़ल " शब्द का अर्थ है - माशूक से बातचीत करना । परन्तु त्रिलोचन ने अपनी कई ग़ज़लों में सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की विसंगतियों को पैनी अभिव्यक्ति दी है । इन ग़ज़लों में मुक्ति की छटपटाहट व्यक्त हुई है । राजनीतिक आजादी के बाद भी भारत का बहुसंख्यक समाज शोषित, पीड़ित और असहाय है । पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की दुर्नीति के कारण मुट्ठी भर धनपुत्र चैन की वंशी फूँक रहे हैं और वृहत्तर श्रमजीवी समाज रोटी, वस्त्र और आवास के लिए गुहार लगा रहा है । ऐसी स्थिति में स्वतंत्र भारत के अधिकांश नेताओं के द्वारा जनता के भोलेपन को भँजाया जा रहा है । रिझाऊ नारों और आकर्षक आश्वासनों के जाल में राजनीति के ये बहेलिए खेतों, कारखानों, खदानों में हाड़तोड़ परिश्रम करने वाली जनता के वांछा-विहगों को फाँसते रहे हैं । त्रिलोचन लिखते हैं :

" हम स्वतंत्र कहाँ अगर खाने को भी मोहताज हैं
एक जठरानल में समझो सब का काल आ ही गया
ध्वनि प्रसारण यंत्र से कितने ही स्वर बरसे हैं आज
भोलेभालों के लिए शब्दों का जाल आ ही गया । " 144

त्रिलोचन इस बात से पूरी तरह वाकिफ है कि जब बाढ़ और सूखा जैसे प्राकृतिक प्रकोप आपद्ग्रस्त जन-जीवन को और अवसाद से भर देते हैं, तो कैसे बिचौलियों की बन आती है। भूख से बिलबिलाते बाढ़-सूखा-ग्रस्त जन सड़े हुए खाद्यान्न के पैकेट पर टूट पड़ते हैं और राहत कार्यक्रम की आड़ में बिचौलिए निर्विघ्न "माल" बनाने में लगे रहते हैं। एक चतुष्पदी में त्रिलोचन का कवि इस अमानवीय स्थिति का बड़ी ही कुशलता के साथ चित्रण करता है :

"भूरी बोला कि बाढ़ क्या आई
लीलने अन्न को सुरसा आई
अब को श्रीनाथ तिवारी का घर
पक्का बन जाने की सुविधा आई।" 145

त्रिलोचन के काव्य में वर्ग-संघर्ष उसी तरह नहीं चित्रित है जैसे नागार्जुन या केदारनाथ अग्रवाल की कविता में। फिर भी जन के साथ कवि की पक्षधरता बराबर परिलक्षित होती है —

"हाथों के दिन आयेंगे। कब तक आएंगे,
यह तो कोई नहीं बताता। करने वाले
जहाँ कहीं भी देखा अब तक डरने वाले
मिलते हैं। सुख की रोटी कब खायेंगे,
सुख से कब सोयेंगे, उस को कब पायेंगे,
जिसको पाने की इच्छा है। हरने वाले,
हर हर कर अपना-अपना घर भरने वाले,
कहाँ नहीं हैं। हाथ कहाँ से क्या लायेंगे।" 146

त्रिलोचन इस बात से भली-भाँति अवगत हैं कि क्रांति का रास्ता उतना सुबोध नहीं है जितना समझा जाता है । इसी कारण उनकी राजनीतिक कविताओं में क्रांति एवं परिवर्तन के लिए उतावलापन की जगह रचनात्मक गंभीरता के दर्शन होते हैं । सच तो यह है कि उनकी अधिकांश राजनीतिक कविताओं में नागार्जुन एवं केदार की तरह सीधे-सीधे कोई नामोल्लेख नहीं होता, फिर भी उनकी पृष्ठभूमि में राजनीति होती है । किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि त्रिलोचन का कवि राजनीतिक विषयवस्तु की दृष्टि से " पैसिव " कवि है । उन्होंने अनेक ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जो राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत ही मुखर है :

" बीज क्रांति के बोता हूँ मैं, अक्षर दाने
हैं, घर बाहर जन समाज को नए सिरे से
रच देने की रुचि देता हूँ । धिरे धिरे से
रहना असम्मान है जीवन का अनजाने ।
अगर घुटन हो, प्राण छटपटाएँ तो घेरा
तोड़ फोड़ दो, क्योंकि हुआ है नया सबेरा । " 147

मलयज ने लिखा है कि " हिन्दी में शायद त्रिलोचन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपने को लोकजीवन से पूरी तरह जोड़ लिया है, सौन्दर्य की एक अन्तःगरिमा के साथ । सृजन के आह्लादकारी अनुभव के साथ, रचना की एक बराबर साझेदारी के साथ । त्रिलोचन के लिए रचना किसी तनाव से मुक्त होने में नहीं, बल्कि जीवन का कुछ खोजने, पाने और फिर उसे बाँट देने में होती है । इसीलिए उनकी कविता की रचना-प्रक्रिया का कोई रहस्यमय पक्ष

नहीं है । कला त्रिलोचन के लिए एक ऐसा आईना है जिसमें वे अपनी और दूसरों की अनुभूतियों के मर्म को सजीव थिरकते हुए रूपों में दिखा सकें और इसमें उनकी कलाकारिता बस इतनी है कि वे उस आईने पर जरा भी धूल - धब्बा न पड़ा रहने दें, उसे झकाझक साफ पारदर्शी रखें । " 148

लोकजीवन से त्रिलोचन के कवि की पूर्ण सम्बद्धता का बेहतर रचनात्मक उदाहरण उनकी " नगई महरा " शीर्षक कविता है जो लोक जीवन का एक अवि - स्मरणीय चरित्र है । इस कविता में कवि ने लोक शब्दावली के माध्यम से " नगई भगत " के बहाने भारतीय ग्रामीण जीवन के कई पहलुओं को छुआ है । यह कविता प्रगतिशील कवियों द्वारा कविता में जनभाषा अथवा लोक भाषा के आदर्श प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण भी है । कवि के शब्दों में " नगई भगत " का परिचय इस प्रकार है :

" नगई कहार था
अपना गाँव छोड़कर
चिरानी पट्टी आ बसा
पूरब की ओर
जहाँ बाग या जंगल था " 149

त्रिलोचन की यह कविता सोमदत्त के शब्दों में त्रिलोचन की रचनात्मक प्रकृति से बिल्कुल अलग " न केवल आकार में लम्बी है बल्कि उसका फलक भी बहुत विस्तृत है । वह किसी व्यक्ति विशेष की या अलग-थलग घटी घटना की काव्यात्मक परिणति मात्र नहीं बल्कि एक समूचे वर्ग की जीवन पद्धति का औपन्यासिक संवेदना वाला आख्यान है । x x x यह कविता नगई के बहाने भारतीय गाँव के सबसे निचले तबके के जीवन का, गाँवों में अब भी घर किए संस्कारों का " गँवार "

विशेषण से विभूषित लगभग भूखों मरते, दिन भर खटते व्यक्ति की प्रकृत मानवीय प्रतिमा का महाकाव्यात्मक प्रसंग उठाती है। × × × असल में नगई के बहाने त्रिलोचन उत्तर भारत के – कमोबेश समूचे भारत के ग्रामीणों के संस्कारों का दस्तावेज रच रहे हैं। " इस कविता की अपनी विशिष्ट भारतीय पहचान पर बल देते हुए सोमदत्त ने लिखा है कि भारत के चिरानीपट्टी जैसे अनेकानेक गाँवों में बसने वाले " उस पिछड़े हुए, परम्परागस्त, अंधविश्वासों से जकड़े जन को आधुनिकता, उत्तरआधुनिकता और संभवत: उत्तरोत्तर आधुनिकता के उथले फेर में लोरते हम जैसे अधिकांश भले ही भूल गए हों, त्रिलोचन ने उनकी बाँह नहीं छोड़ी, न उनने उन पिछड़ों के भीतर बसी मनुष्यता को बिसराया और न उसके सहज ज्ञान के सहारे कठिनाईयों से उबरने के अपने विश्वास को हृदय से जाने दिया। × × × कविता में और कई अविच्छिन्न अंश हैं। जिससे यह कविता केवल भारत को, केवल भारतीय की भारतीय कविता ठहरती है। आज के इस दौर में जबकि हमारे काव्य दृश्य का अधिकांश हिस्सा जातीय चरित्र से च्युत और भूगोलहीन है तब ऐसी कविता हमारे लिए कितनी मूल्यवान है इसका निर्णय आने वाला समय करेगा। " 150

प्रकृति चित्रण व प्रेम कविताएँ :-

डॉ॰नन्दकिशोर नवल ने लिखा है कि " त्रिलोचन जीवन और मनुष्य की प्रगति में गहरा विश्वास ही नहीं रखते हैं, कविता में अपनी व्यथा, संघर्ष और उसके माध्यम से साधारण जन की व्यथा और संघर्ष की अभिव्यक्ति ही नहीं करते हैं और सामंती पूँजीवादी व्यवस्था से जकड़े इस संसार को सुंदर ही नहीं बनाना चाहते हैं, बल्कि जीवन में जो सुंदर और कोमल क्षण आते हैं, वे उन्हें

भी अपनी कविता में बड़े स्नेह से संजोते हैं । इस तरह उनकी कविता एक - आयामी नहीं, बल्कि अनेक आयामी है । " [151] इस संदर्भ में विचारने पर हम पाते है कि त्रिलोचन का काव्य रमणीय प्रकृति-चित्रों एवं अनेकानेक निजी आसंगों को कोमल अनुभूतियों से भरा-पड़ा है । अनेक बार तो कवि ने प्रकृति को विषयवस्तु बना कर भी काव्य रचना की है । त्रिलोचन के कवि को मुख्यत: वर्षा एवं वसंत ऋतुओं से अत्यधिक लगाव है । वर्षा ऋतु में बादलों से आच्छन्न दिवस को चित्रित करते हुए वे लिखते है :

" बादल छाए हैं सूरज भी ढका ढका ही
अस्ताचल को जा पहुँचा । जो क्षण भर पहले
कपोताभ बादल थे उनमें कहीं सुनहले
कहीं रुपहले रंग आ गए । आवाजाही
कूजन करते हुए खगों की है । मनचाही
संध्या आज नहीं है । कोई कुछ भी कहले,
गंभीरता घिरी है । ऐसे में जी बहले कैसे । " [152]

जब कवि अपने एक दूसरे सानेट में मूसलाधार वर्षा और इस क्रम में सुनायी पड़ने वाली जल की कई प्रकार की ध्वनियों का चित्र प्रस्तुत करता है तो हमें उसके तीक्ष्ण ऐन्द्रियबोध का भी पता चलता है :

" ध्वनि पर ध्वनि, हल्की से हल्की, चंचल जल की
ओलतियों की, मार्गों की, नाली-नालों की
गर्तों, खातों, परिखाओं की, सर सर बहती

सरिताओं को लहर लहर पर छल छल छलकी
बूंद बूंद की नृत्य-तरंगों की तालों की
गति आकाशस्न्तु भू पर कैसे स्थिर रहती । " 153

ऐसे तो त्रिलोचन ने वसंत ऋतु के विभिन्न संदर्भों को अपने ढंग से काव्य में स्थापित किया है परन्तु इस प्रसंग में अलग जब वे " उकठे हुए पेड़ " पर अपनी " दीठ गड़ाते " हैं तब भी उनकी कल्पना में वसंत की " हरियाली के जीवित चित्र आ जाते हैं :

" उकठे हुए पेड़ पर मैं ने दीठ गड़ाई --
मन में हरियाली के जीवित चित्र आ गए,
कितने दूरागत खग आए, रुके, गा गए
अपने अपने गान, मान की मौन कड़ाई
पहले कहीं कहाँ थी, आ कर नित्य लड़ाई
सुखाभिलाषी करते थे, प्रति दिन बहा गए
सूर्य चन्द्र ज्योतिर्धाराएँ, शरण पा गए
जो छाया में आए, गत हो गई बड़ाई । " 154

किन्तु त्रिलोचन का यह " उकठा पेड़ " अपनी " बड़ाई " के " गत " हो जाने के बावजूद अपनी जिजीविषा के बल पर तना हुआ खड़ा है ।

त्रिलोचन ने अपने एक सानेट में शरद ऋतु का भी एक बड़ा ही मनोहारी चित्र खींचा है । इस उमंगपूर्ण प्रकृति-चित्रण को हम आजादी के ठीक बाद देश में आई स्फूर्तिप्रद एवं नवीन चेतना की लहर के प्रसंग में रखकर भी देख सकते हैं :

" पुन: शरद ऋतु आई है, शोभा छाई है
चारो ओर, रंग कण कण का बदल गया है ।
वर्षा में चल थकी हवा कुछ अलसाई है
नहीं नृत्य की द्रुत तरंग है । सकल नया है

साज सिंगार प्रकृति के तन पर । अब उनया है
मेघों का दल श्याम नहीं खंजन आए हैं
दूर देश से । नीड़ बनाने लगी बया है
पुरईन के पत्तों पर सरसिज मुसकाए हैं,

सर शोभित है और कुईं के दिन आए हैं ।
चाँद मोद में है अकास में । गंगा गाती
बहती जाती है । बयार ने उलझाए हैं
अपने आँचल रजनी गंधा में, इलठाती
चलती है । " 155

प्रकृति का स्वस्थ, सुन्दर और मांसल वर्णन त्रिलोचन की विशेषता है । वे चमत्कार से बचते हैं । उनमें एक नैसर्गिक खुलापन और सादगी है । नयी बात कहने की ललक से वे प्राकृतिक उपादानों का विरूपीकरण नहीं करते, जैसा कि आधुनिकतावादी कवियों ने जोश में आकर किया है । इससे स्वयं को त्रिलोचन ने उस प्रकार बचाया, जिस तरह आधुनिकतावाद से अरुचि रखने वाला बचा सकता है । इस संदर्भ में एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

" राका आई
शारदा उतर आई स्मित की ज्योत्स्ना छाई
चंद्रमा व्योम में मुसकाया
सागर में इतना ज्वार आया
तारे हैं उधर, इधर पर्वत
आँखों ने जैसे वर पाया
चंचल समीर ने चल चल कर
कुछ नई भावना बरसाई । " 156

त्रिलोचन के कवि को शरद का नीला आकाश इतना प्रिय है कि उसे वे " सबका अपना आकाश " कहना चाहते हैं । शरद के बहाने उनके अनुभूति-क्षेत्र का विस्तार सूचित हुआ है --

" शरद का यह नीला आकाश
हुआ सब का अपना आकाश

x x x x

भरी है पारिजात की डाल
नई कलियों से मालामाल
कर रही बेला को संकेत
जगत में जीवन हास हुलास " 157

वस्तुत: कवि त्रिलोचन प्रकृति के अनन्य प्रेमी हैं । डॉ॰नन्द किशोर नवल के शब्दों में यह उनके भौतिक जीवन के प्रति आकर्षण का अकाट्य प्रमाण है । " प्रकृति उनकी चेतना का अंग है इसलिए वह विभिन्न रूपों में उनकी कविताओं में आती है । खास बात यह है कि उन्होंने अनेक बार अपनी कविताओं में उसका इस्तेमाल विषय-वस्तु के रूप में किया है, जो इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि प्रकृति के साथ उनका तालमेल सही ढंग से कायम हुआ है । यह पूर्ण व्यक्तित्व वाले कवि का लक्षण है । " 158

जयशंकर प्रसाद ने कभी प्रेम के संदर्भ में लिखा था कि " पागलरे ! वह मिलता है कब / उसको तो देते ही हैं सब । " त्रिलोचन का स्वर भी इस संदर्भ में बहुत उदात्त है । वे लिखते है :

" स्नेह मेरे पास है, लो स्नेह मुझसे लो
चल अँधेरे में न जीवन दीप ठुकराओ
साँस के संचित फलों को यों न बिखराओ
पत्थरों से बंधु अपना सिर न टकराओ
मेघमेला विश्व है लो राग मुझसे लो " 159

किन्तु यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रसाद के " प्यार " से जीवनसंघर्षों के उतार-चढ़ाव झेलने वाले संघर्षशीलमनुष्य को दिया जाने वाला त्रिलोचन का यह स्नेह और राग बिल्कुलअलग है । और इसका कारण इन दोनों कवियों की भिन्न जीवन-दृष्टियों में निहित है ।

कवि त्रिलोचन का यह राग-तत्व उनकी अनेकानेक प्रेम कविताओं में भी बड़े ही संयत स्वर में व्यक्त हुआ है। इनमें नारी सौन्दर्य, पत्नी-प्रेमिका से मिलने की उत्कंठा तथा उससे अलग रहने की बाध्यता आदि का सांकेतिक एवं कलात्मक चित्रण हुआ है। वस्तुत: यह राग-तत्व ही कवि की अक्षय उर्जा को स्रोत है जहाँ से उसे जीवनी शक्ति मिलती है :

" मुझ को तो मुस्कान तुम्हारी जिला रही है।
जहाँ कहीं भी और जब कहीं भी जाता हूँ,
वही स्निग्ध मुस्कान आँख आगे पाता हूँ,
मर्त्यलोक में श्रांत देख कर पिला रही है
मुझे सुधा का सार, " 160

त्रिलोचन की प्रेम कविताओं में भी जगह-जगह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। कवि जब अपनी पत्नी-प्रेमिका से दूर रहने की बाध्यता का बयान करता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों वह किसी निम्नवर्गीय अथवा निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की व्यथा-कथा कह रहा हो जो रोजी-रोटी की तलाश में घर-परिवार से बहुत दूर किसी महानगर में रहते हुए प्रेम की स्मृति में जी रहा होता है। प्रेम का एक ऐसा ही स्मृति-चित्र द्रष्टव्य है :

" आज मैं कहीं और तुम कहीं। लाचारी है।
मिले कि बिछुरे। बिछुरन में फिर-फिर मिलने की
इच्छा जगती रही और मन इतना टेकी
रहा कि तड़पा किया। कौन अत्याचारी है
जो मेरा अधिकार हर रहा है, भारी है
जिसके कारण लघु साँसा भी।

x x x x x

सहधर्मिणी, सहचरी और न जाने क्या क्या
तुम हो । मेरे मन का सारा शून्य भरा है
तुमने अपनी सुधि से । मेरे दुख की मारी
तुम भी हो, मुरझाई हो । " 161

फिर भी, जीवन के प्रति कवि की अनन्य आस्था डिगी नहीं है । इस संसार के गुलशन को वह हमेशा फूला-फला देखना चाहता है । उसने अपने सुख का विस्तार कर लिया है । इसीलिए वैयक्तिक सुख-दुख की जगह वह मनुष्य-मात्र के सुख-दुख से जुड़ता है । वस्तुत: त्रिलोचन जीवन की निरंतरता में विश्वास रखने वाले कवि हैं । न कहीं से हताश न ही निराश । उन्होंने लिखा भी है ---

" रंग दुनिया का कम नहीं होगा
आज कुछ है कल और भी होगा
हम न होंगे, हुआ क्या आगे भी
उसका भोगी मनुष्य ही होगा । " 162

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 309

2. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 27.

3. वही, पृ. 21.

4. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, पृ. 9 पर " हंस " जनवरी 1950 से उद्धृत

5. राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबंध, पृ. 23.

6. " नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ - 2, पृ. 303

7. डॉ. विजय बहादुर सिंह : साक्षात्कार, अगस्त - नवम्बर 1986, पृ. 233.

8. " नागार्जुन चुनी हुई रचनाएं - 2 " पृ. 121-122.

9. वही, पृ. 221-222.

10. वही, पृ. 79 - 80.

11. राजेश जोशी : बहुजन समाजके अन्तस की अभिव्यक्ति का कौशल { नागार्जुन की कविता पर कुछ नोट्स- आठ } के अन्तर्गत उद्धृत - साक्षात्कार, अगस्त, नवम्बर 1986, पृ. 249.

12. " चुनी हुई रचनाएँ – " पृ. 106.

13. हजार – हजार बाहोंवाली, पृ. 110.

14. वही, पृ. 167.

15. वही, पृ. 11.

16. तुमने कहा था, पृ. 65 – 66.

17. नागार्जुन का रचना संसार, पृ. 148.

18. वही, पृ. 168 – 169.

19. धर्मयुग, 27 जून, 1963, पृ. 1.

20. तुमने कहा था, पृ. 69.

21. वही, पृ. 67.

22. हंस, जून 1948, पृ. 493.

23. डॉ. प्रकाश भट्ट : " नागार्जुन : जीवन और साहित्य ", पृ. 61. पर उद्धृत ।

24. तुमने कहा था, पृ. 9.

25. नागार्जुन : जीवन और साहित्य, पृ. 77 पर पाण्डुलिपि से उद्धृत.

26· वही, पृ· 77 पर उद्धृत

27· साक्षात्कार, अगस्त – नवम्बर 1986, पृ· 234·

28· " नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, पृ· 191 – 192·

29· विजय बहादुर सिंह : " नागार्जुन का रचना – मानस " दस्तावेज – 33· अक्तूबर 1986, पृ· 18·

30· हजार – हजार बाहों वाली, पृ· 31 – 32·

31· आलोचना – 83, अक्तूबर – दिसम्बर 1987, पृ·42·

32· खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृ· 17·

33· वही, पृ· 34·

34· वही, पृ· 14·

35· वही, पृ· 84·

36· वही, पृ· 113·

37· " ऐसे भी हम क्या !

ऐसे भी तुम क्या ! " पृ· 20·

38· वही, पृ· 21·

39· वही, पृ· 20 – 21·

40· डॉ·नामवर सिंह : " नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ " भूमिका –पृ·5·

41. नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ - 2, पृ. 84.

42. कविता के नये प्रतिमान, पृ. 131.

43. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ. 149.

44. नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ - 2, पृ. 19 - 20.

45. वही, पृ. 31.

46. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, भूमिका, पृ. 7.

47. डॉ. शिव कुमार मिश्र : " नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ भूमिका -

48. " नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ - 2, पृ. 157 - 158

49. वही, पृ. 254.

50. केदारनाथ अग्रवाल : विवेक विवेचन, पृ. 149.

51. वही, पृ. 150.

52. कवि मित्रों से दूर, पृ. 100.

53. विवेक विवेचन, पृ. 126.

54. वही, पृ. 166.

55. वही, पृ. 168.

56. वही, पृ. 165.

57· कवि - मित्रों से दूर, पृ· 95·

58· वही, पृ· 96.

59· वही, पृ· 97·

60· वही, पृ· 97·

61· वही· पृ· 107·

62· विवेक - विवेचन, पृ· 150·

63· कहें केदार खरी - खरी, पृ· 52·

64· वही, पृ· 36·

65· वही, पृ· 41·

66· डॉ·अजय तिवारी : केदारनाथ अग्रवाल, पृ· 14 (संपादक)

67· कहें केदार खरी - खरी, पृ· 50·

68· वही, पृ· 47·

69· वही, पृ· 48 - 49·

70· वही, पृ· 98·

71· वही, पृ· ~~98~~ 153·

72· " प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल " पृ· 37·

73. कहें केदार खरी - खरी, पृ. 81.

74. फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 88.

75. वही, पृ. 186.

76. कहें केदार खरी - खरी, पृ. 91 - 94.

77. वही, पृ. 95 - 96.

78. अपूर्वा भूमिका, पृ. 15.

79. वही, पृ. 61.

80. वही, पृ. 41.

81. कहें केदार खरी - खरी, पृ.

82. अपूर्वा, पृ. 67.

83. फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 81.

84. " राइटर एण्ड क्रिटिक ", पृ. 63.

85. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 53.

86. फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 165.

87. गुलमेंहदी, पृ. 122.

88. उत्तरार्द्ध - 5, पृ. 100 - 105.

89. उत्तरार्द्ध - 20, जनवादी साहित्य विशेषांक, अक्तूबर 1982, पृ. 49 - 50.

90. पंख और पतवार, पृ. 40.

91. वही, पृ. 112.

92. अपूर्वा, भूमिका, पृ, 14.

93. पूर्वग्रह - 34, पृ. 12.

94. पंख और पतवार, भूमिका, पृ. 12.

95. पंख और पतवार, पृ. 34

96. वही, पृ. 116.

97. मार प्यार की थापें, पृ. 18 - 19.

98. पंख और पतवार, पृ. 79.

99. युगाव लोकन, वर्ष : 1, अंक : 1, अगस्त - सितम्बर 1987.

100. बोले बोल अबोल, पृ. 134.

101. साक्षात्कार, अगस्त - नवम्बर 1986 पृ. 56 - 57.

102. फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 23.

103. पंख और पतवार, पृ. 28.

104. फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 50.

105. वही, पृ. 63.

106. आलोचना, नवांक - 56 - 57.

107. वही

108. " केदारनाथ अग्रवाल ", पृ॰ 60.

109. गुलमेंहदी, पृ॰ 133.

110. वही, पृ॰ 150.

111. फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ॰ 17.

112. गुलमेंहदी, पृ॰ 21.

113. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ॰ 58.

114. वही, पृ॰ 47.

115. मधुमती, जनवरी 1990 पृ॰ 43.

116. गुलमेंहदी, पृ॰ 133.

117. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ॰ ~~175-176.~~ 177.

118. वही, पृ॰ 175-176

119. अपूर्वा, भूमिका, पृ॰ 12.

120. जमुन जल तुम, भूमिका, पृ॰ 14 - 15.

121. वही, पृ॰ 64.

122. वही,

122. फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 47.

123. मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. 375.

124. वही, पृ. 376.

125. धरती, पृ. 108.

126. वही, पृ. 60.

127. वही, पृ. 116.

128. आलोचना - 82, जुलाई - सितम्बर 1987, पृ. 9.

129. वही, पृ. 9.

130. वही, पृ. 29.

131. दिगन्त, पृ. 39.

132. वही, पृ. 35.

133. आलोचना - 82, जुलाई - सितम्बर 1987, पृ. 9 - 10.

134. उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 111.

135. धरती, पृ. 99.

136. अरुण कमल : आलोचना - 83, अक्तूबर - दिसम्बर 1987
पृ. 33 - 34.

138· धरती, पृ· 96·

139· वही, पृ· 89·

140· डॉ· नामवर सिंह : विपक्ष – 3, जनवरी – 1988, पृ·215–216·

141· उस जनपद का कवि हूँ, पृ· 34·

142· गुलाब और बुलबुल, पृ· 96·

143· वही, पृ· 125·

144· वही, पृ· 98·

145· वही, पृ· 138·

146· फूल नाम है एक, पृ· 98·

147· अनकहनी भी कुछ कहनी है,पृ· 87·

148· कविता से साक्षात्कार, पृ· 65 – 66

149· पूर्वग्रह, अंक 63–64, पृ· 87·

150· वही, पृ· 93–99 " ठेठ " शीर्षक सोमदत्त का आलेख

151· शब्द जहाँ सक्रिय हैं, पृ· 54·

152· शब्द, पृ· 23·

153· वही, पृ· 24·

154· वही, पृ· 40·

155. अनकहनी भी कुछ कहनी है, पृ. 59,

156. सबका अपना आकाश, पृ. 13.

157. वही, पृ. 15.

158. शब्द जहाँ सक्रिय हैं, पृ. 56.

159. सबका अपना आकाश, पृ. 55.

160. फूल नाम है एक, पृ. 85.

161. वही, 32.

162. गुलाब और बुलबुल, पृ. 147.

अध्याय तीन :

साहित्य में वस्तु और रूप : सैद्धांतिक विवेचन

~~वस्तु और रूप : सैद्धांतिक विवेचन~~

आधार और अधिरचना

कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक " एक कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल एकोनोमी " की प्रस्तावना में आर्थिक उत्पादन सम्बन्ध एवं कला, कानून, धर्म, दर्शन एवं राजनीति आदि के बीच परस्पर सम्बन्ध को आधार-अधिरचना (Base - supersstructure) सम्बन्ध के रूप में रेखांकित किया है ।[1] मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव द्वारा किसी समय विशेष में भौतिक साधनों के उत्पादन से जो आर्थिक विकास होता है, वही वह आधार है जिसके सहारे उसके राज्य, कानून, कला, धर्म एवं दर्शन आदि से सम्बन्धित विचार एवं धारणाएँ विकसित होती हैं । यही कारण है कि सामाजार्थिक आधार में परिवर्तन होने से अधिरचना भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती । किन्तु, इसका मतलब यह नहीं है कि अपने आधार पर अधिरचना निष्क्रिय या तटस्थ बनी रहती है । वस्तुत: एक बार अधिरचना के निर्मित हो जाने पर वह एक क्रियात्मक शक्ति के रूप में आधार को भी प्रभावित करती है ।[2] अधिरचना यदि एक ओर आधार को परम्परा के प्रवाह में डालकर सुरक्षित रखती है तो दूसरी ओर वह न केवल आधार को गढ़ती ही है अपितु सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास को निश्चित दिशा भी देती है ।

रेमण्ड विलियम्स ने ठीक ही आधार अधिरचना सिद्धांत को मार्क्सवादी सांस्कृतिक विश्लेषण की कुंजी के रूप में रेखांकित किया है ।[3] एंगेल्स द्वारा लिखित " फायरबाख एवं क्लासिकी जर्मन दर्शन का अंत " (Feuebach and the end of classical German philosophy) शीर्षक निबंध का हवाला देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि कभी-कभी उच्चतर एवं गंभीर दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधारात्मक अधिरचना अपने आधार से कटी-कटी-सी प्रतीत होती है । किन्तु, वास्तविकता

यह है कि उन अवधारणाओं एवं उनकी भौतिक स्थितियों के अस्तित्व में अत्यंत जटिल अन्त: सम्बन्ध अवश्य होती है । [4] इस संदर्भ में यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि मात्र आधारगत आर्थिक स्थिति ही अधिरचना को प्रभावित नहीं करती या उसमें परिवर्तन का कारण नहीं बनती और न अधिरचना ही निष्क्रिय होकर प्रभावित करने वाली होती है । वास्तविकता यह है कि आर्थिक आवश्यकता के आधार पर उनमें परस्पर सक्रियता की स्थिति व्यक्त होती है । बौद्धिक प्रक्रिया भी भौतिक प्रक्रिया पर प्रत्याघात करती है तथा इन दोनों के बीच यांत्रिक कार्य-कारण सम्बन्ध न होकर द्वन्द्वात्मक और पारस्परिक अन्त:क्रिया होती है और केवल अंतिम विश्लेषण में ही आर्थिक सम्बन्ध निर्णायक होते हैं ।

डॉ॰रमेश कुंतल मेघ ने "आधार अधिरचना " सम्बन्ध पर विचारते हुए वर्गीयता, ऐतिहासिक धारावाहिकता एवं वंशानुगत बंध आदि बिन्दुओं का जो वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, वह इस संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतन को तल तक साफ कर देता है । डॉ॰मेघ ने लिखा है कि चूँकि हर युग के आधार में जनता के वर्गीय सम्बन्ध होते हैं इसलिए वर्गीय समाज में अधिरचना की प्रकृति भी वर्गीय होती है । इसके साथ ही आधार और अधिरचना के विकास में ऐतिहासिक अनवरतता होती है तथा ऐतिहासिक धारावाहिकता एवं वंशानुगत बंध के कारण कला (अधिरचना) सांस्कृतिक विरासत को तर्कपूर्वक स्वीकार करते हुए जातीय विलक्षणताओं को वहन करती है । [5]

जाहिर है कि किसी समय विशेष की साहित्यिक या कलात्मक अधिरचना उसकी सामाजिआर्थिक व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करती है तथा विभिन्न ऐतिहासिक कालों में आधारगत वर्गीय स्वरूप परिवर्तित होने से अधिरचना के वर्गीय स्वरूप में भी बदलाव होता रहता है । यही कारण है कि आदिम कला का स्वरूप, मध्य - युगीन कला का स्वरूप एवं आधुनिक कला का स्वरूप आदि वास्तव में अपने आधारों के बदलते हुए स्वरूप को भी प्रकट करते हैं ।

अधिरचनागत परिवर्तन के मूल में आधारगत परिवर्तन की मौजूदगी का ठोस सबूत हमें वहाँ भी मिलता है जबकि हम आधुनिक काल में संसार की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में उपन्यास विधा को महाकाव्य के स्थानापन्न के रूप में पाते हैं।

क्रिस्टोफर कौडवेल ने कविता को मानवीय मस्तिष्क के आरंभिक सौन्दर्य बोधात्मक व्यापारों में से एक महत्वपूर्ण व्यापार मानते हुए बताया है कि आदिम युग में कविता आज के विशुद्ध अर्थों में कविता न होकर सामान्य वार्ता का उन्नत रूप मात्र थी। आदिम युग से निकलकर मानव-सभ्यता का इतिहास जब सामंती व्यवस्था में प्रवेश कर गया तब कविता महाकाव्य के रूप में इस समग्र, समन्वित, समष्टिबोध से परिचालित और सामूहिक चेतना से युक्त सामाजिक संरचना को अभिव्यक्ति प्रदान करने लगी।[6] इन तमाम बातों को मद्देनजर रखते हुए जार्ज लुकाच ने अपनी पुस्तक " उपन्यास के सिद्धांत " में महाकाव्य के संदर्भ में लिखा है कि " इतिहास का ऐसा युग महाकाव्य का युग होता है जब पूर्ण निजत्व की दिशा में विवेक द्वारा पूर्व निर्धारित आवेग ही एकमात्र सही मार्ग होता है जब आत्मा साहसिकता की खोज में बाहर की ओर बढ़ती है। साहसिकताओं के बीच जीती है किन्तु वह खोज के वास्तविक त्रास और प्राप्ति के वास्तविक खतरे से अपरिचित बनी रहती है। "[7] आगे जब लुकाच महाकाव्य एवं उपन्यास की प्रकृति का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हैं तो इससे साफ जाहिर हो जाता है कि ये दोनों साहित्यिक रूप वस्तुत: दो भिन्न आधारगत परिस्थितियों की उपज हैं : " महाकाव्य का स्वभाव बच्चे जैसा ही सरल होता है, जबकि उपन्यास इसके ठीक विपरीत परिपक्व एवं सशक्त होता है "[8] " महाकाव्य और उपन्यास उत्कृष्ट महाकाव्यात्मक साहित्य के दो रूप हैं। ये एक दूसरे से न केवल इस कारण भिन्न हैं कि इनके लेखकों के मूल अभिप्राय भिन्न होते हैं, बल्कि इसलिए कि जिन ऐतिहासिक-दार्शनिक वास्तविकताओं से लेखकों का सामना होता है, वे भिन्न होती है। "[9]

प्रभावान्विति की दृष्टि से उपन्यास की तुलना में महाकाव्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए रैल्फ फॉक्स ने लिखा है कि " महाकाव्य द्वारा समाज की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है, वैसी उपन्यास द्वारा न तो कभी हुई है और न ही हो सकती है । " तो सवाल यह उठता है कि आखिर आधुनिक काल में उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न क्यों बन गया ? इसका उत्तर देते हुए फॉक्स ने ही लिखा है कि " महाकाव्य के पात्रों तथा उस समाज के बीच जिसमें वे रहते थे, एक संतुलन था, जो अब विलुप्त हो चुका है । "[10] कुल मिलाकर रैल्फ फॉक्स के वक्तव्य से यह व्यंजित होता है कि आधुनिक समाज में मध्ययुगीन समाज की सामुदायिकता की भावना लुप्त हो चुकी है और जनसमुदाय की नियति का स्थान वैयक्तिक संघर्ष ने ले लिया है जिसकी सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति उपन्यास द्वारा ही संभव है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कैसे " भौतिक उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन होने से बौद्धिक उत्पादन का चरित्र भी बदल जाता है । "[11] इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक युग में परिवर्तित सामाजार्थिक आधार ने किस प्रकार अधिरचनागत साहित्यिक रूप को प्रभावित किया है जिसके परिणाम स्वरूप महाकाव्य का स्थानापन्न उपन्यास आज " द एपिक ऑव मिड्ल क्लास वर्ल्ड " (हीगल) अथवा " बुर्जुआ एपिक " (लुकाच) कहा जाने लगा है । पर पुन: प्रश्न उठता है कि परिवर्तित सामार्थिक आधार ने क्या सीधे-सीधे अधिरचनात्मक साहित्यिक रूप को ही प्रभावित किया है ? कहना न होगा कि आधारगत परिवर्तन से प्रथमत: साहित्यिक रचनाशीलता की वस्तु (content) में बदलाव आता है और अंतत: बदली हुई वस्तु के अनुरूप नये रूपों (Form) का विकास होता है । " कलाकार, साधरणत: जिन विषयों का कला के लिए चुनाव करता है, वह युगानुरूप ही होता है । यदि हम कलाकृतियों का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि विशेष युग में विशेष सामग्रियों को लेकर ही कलाकृतियां सामने आयी हैं । जो वर्ग संस्कृति के क्षेत्र

में सक्रिय है, वह अपने वर्ग-सम्बन्धों के भीतर उपस्थित मानव सम्बन्धों को ध्यान में रख, (अपनी विशेष स्थिति और अवस्था के अनुसार) अपनी विशेष स्थिति और अवस्था के अनुसार अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रकट करता है। उदाहरणत: हिन्दी साहित्य के सामंती काल में वीर, श्रृंगार और अध्यात्म ये तीनों विषय आवृत्त और पुनरावृत्त होते रहे। क्या कारण है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में सक्रिय वर्ग - चाहे वह निम्नवर्ग से उठे हुए कबीर हों, या शासक-सामंतीवर्ग से उठे हुए रहीम - श्रृंगार और अध्यात्म को ही प्रधानता देते रहे ? स्पष्ट है कि बाह्य जीवन-जगत को संशोधित-सम्पादित करते हुए जो आत्मसातकृत जीवन-जगत हृदय में उपलब्ध होता है, उसके केवल वे ही अंग प्रकाश में लाये जाते हैं जिनका समाज में कोई मूल्य हो अथवा मूल्य हो सकने की संभावना हो। महत्त्व की बात यह है कि समाज के भीतर मानव-सम्बन्धों की जो अवस्था है, वह अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही अपने-आपको उद्बुद्ध और सचेत पाती है। मध्ययुग में निम्न वर्ग से आये संत और कवि इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही कुछ फेरफार करके अपने को उद्बुद्ध और सचेत पाते हैं। इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा के ही कुछ तत्वों को (भक्ति-तत्व) अपने लिए उपयुक्त समझ, उसके आधार पर अपनी स्थिति संगठित करते हैं। और फिर इन तत्वों के अनुसार जो बातें समाज में नहीं हैं या उसके बिल्कुल विरुद्ध जाती हैं, उनका खण्डन करते हैं, अथवा ऐसी जीवन पद्धति या भावपद्धति का निर्माण करते हैं जिनसे वे प्रतिकूल बातें खण्डित हों। इस प्रकार वे, एक ओर, समाज के साथ सामंजस्य, तो, दूसरी ओर उसके साथ द्वन्द्व इन दोनों का निर्माण करते हैं। समाज के साथ सामंजस्य और द्वन्द्व की यह युगपत् प्रक्रिया हमें भक्ति आंदोलन में परिलक्षित होती है।" 12

वस्तु और रूप : अवधारणात्म मतवाद :-

जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन में काव्य के घटक तत्वों के रूप में शब्द एवं अर्थ पर विस्तार से विचारते हुए थोड़े-बहुत मतभेद के बावजूद सफल काव्य के लिए उनके सहअस्तित्व एवं सहभाव का प्रतिपादन आवश्यक माना गया है उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में अन्य कलाओं के साथ-साथ साहित्य के संदर्भ में भी वस्तु (content) और रूप (Form) पर गंभीरतापूर्वक विचारते हुए काव्य के घटक तत्व के रूप में " वस्तु-रूप " की आवयविक संघटना की अवधारणा प्रस्तुत की गई है ।

" विषय " एवं " वस्तु " की भिन्नता :-

इस संदर्भ में सबसे पहली बात विषय एवं वस्तु की भिन्नता को लेकर शुरू होती है । सामान्यत: " विषय " एवं " वस्तु " को एक दूसरे का समा - नार्थी मान लिया जाता है । किन्तु, गंभीरतापूर्वक विचारने से हम पाते हैं कि काव्य का " विषय " और काव्य की " वस्तु " में पर्याप्त भेद है । " विषय " शब्द का अर्थ व्यापक है जबकि " वस्तु " का संकुचित किसी एक ही विषय पर विभिन्न युगों में अथवा कभी-कभी एक ही समय में कई रचनाएँ प्राप्त होती हैं परन्तु काव्यगत वस्तु-तत्व की दृष्टि से वे अलग-अलग होती हैं । उदाहरण के लिए " बाल्मीकि रामायण, " अध्यात्म रामायण " एव " रामचरित मानस " आदि रचनाएँ विषय की दृष्टि से राम-काव्य से सम्बन्धित होने के बावजूद काव्यगत वस्तु-तत्व की दृष्टिसे समान नहीं हैं । इसी प्रकार आधुनिक काल में सामंती दमन एवं शोषण के चक्र में पिसती हुई आम जनता की व्यथा-कथा को व्यक्त करने वाली विभिन्न प्रगतिशील कवियों की कविताओं में विषयगत एकता

तो है परन्तु उनके काव्यगत वस्तु - तत्व अलग - अलग हैं । अब सवाल यह उठता है कि आखिर यह " वस्तु - तत्व " क्या है और यह किस मायने में " विषय " से भिन्न है ।

कहना न होगा कि सम्पूर्ण जीवन-जगत ही साहित्य का विषय है । जब कोई रचनाकार अपने परिवेश से गहराई के साथ जुड़ता है तभी उसकी रचना में जीवंतता आती है । किन्तु, विभिन्न पारिवेशिक स्थितियों एवं गति - विधियों से जुड़ने वाले रचनाकारों की न केवल अपनी अलग-अलग दृष्टि ही होती है अपितु उनके बौद्धिक तापमान एवं संवेदनशीलता के स्तर में भी पर्याप्त अन्तर होता है । इसीलिए भिन्न-भिन्न रचनाकारों द्वारा जीवन-जगत की किसी विशिष्ट अवस्था अथवा गतिविधि का वस्तुनिष्ठ पर्यवेक्षण भी भिन्न-भिन्न होता है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो प्रत्येक रचनाकार अपने जीवन-विवेक के अनुसार ही जीवन-जगत अथवा उसके किसी तथ्य को आत्मसात कर पाता है । रचना - कार द्वारा आत्मसातकृत जीवन-जगत एवं उसके बाह्य जीवन-जगत के बीच द्वन्द्व एवं सामंजस्य की प्रक्रिया निरंतर घटित होती रहती है और इस क्रम में उनमें संशोधन परिवर्धन परिवर्तन आदि भी होता रहता है । रचनाकार के अन्तर्जगत एवं बाह्य जगत के बीच निरंतर चलने वाले इस घात-प्रत्याघात के क्रम में " जब अन्तर्तत्व - व्यवस्था का अंगभूत कोई मनस्तत्व, एक तीव्र लहर के रूप में उत्थित होकर, मन की आँखों के सामने तरंगायित और उद्घाटित और आलोकित होते हुए, अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है, तब वह कला के वस्तु-तत्व के रूप में प्रस्तुत हो जाता है । " [13]

अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जीवन-जगत के किसी विषय के रचना की " वस्तु " में रूपांतरण की प्रक्रिया का सीधा सम्बन्ध उस जटिल रचना-प्रक्रिया से है जिससे गुजरने के उपरांत " विषय " रचनाकार के मनस्तत्व का एक अंग बनकर कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है । मुक्तिबोध

रचनाकार के इस मनस्तत्व को उसके मन की अन्तर्तत्व-व्यवस्था के एक भाग के रूप में स्वीकारते हुए इस अन्तर्तत्व को रचनाकार के मन में बचपन से बाह्य जीवन-जगत के आभ्यान्तरीकरण के सिलसिले को ही विकसित रूप में उपस्थित हुआ मानते हैं । अपने " वस्तु " विषयक विवेचन क्रम में मुक्तिबोध ने भाववादी विचारकों की एतद्विषयक " मात्र-आध्यात्मिक " एवं मात्र मनोवैज्ञानिक " व्याख्या का पूरी तरह से निषेध किया है । [14]

जॉन ड्यूई ने अपनी पुस्तक " आर्ट एज एक्सपेरिएन्स " में ब्रेडले के एक निबंध का हवाला देते हुए काव्य के विषय एवं उसके वस्तु-तत्व के बीच भिन्नता पर प्रकाश डाला है । उनकी मान्यता है कि विषय काव्य का बाह्य तत्व है जबकि वस्तु अन्तःतत्व । विषय की व्यापकता पर जोर देते हुए ड्यूई ने उसे एक कच्चे माल के रूप स्वीकार किया है जो रचनाकार के अनुभव से जुड़कर " वस्तु " में रूपांतरित होता है । उन्होंने साफ लिखा है कि " यदि कोई कलाकार केवल विषय को लेकर रचना प्रारंभ करता है तो उसकी रचना में स्वाभाविकता की जगह कृत्रिमता की संभावना ही ज्यादा होगी । " [15] रचना क्रम में विषय प्रथमतः अवतरित अवश्य होता है परन्तु रचना की सफलता के लिए उसका वस्तु में रूपांतरण आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य है । कहना न होगा कि यह रूपांतरण जटिल रचना-प्रक्रिया से गुजरे बिना नहीं हो सकता ।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि काव्य के " विषय " का सम्बन्ध जहाँ सीधे-सीधे जीवन-जगत से होता है वहीं किसी रचना में प्रतिबिम्बित अथवा अभिव्यक्त जीवन-जगत ही उसका " वस्तु-तत्व है । काव्य की यह " वस्तु " केवल वस्तुनिष्ठ यथार्थ न होकर रचनाकार द्वारा अपनी रचना में बौद्धिक एवं संवेदनात्मक अथवा रचनात्मक ढंग से उपस्थापित यथार्थ है और इसके लिए वस्तुनिष्ठ यथार्थ का रचनाकार के अन्तर्मन रूपी त्रिपार्श्व से

गुजरना अत्यावश्यक है । इस क्रम में रचनाकार वस्तुनिष्ठ यथार्थ को अपने संवेद - नात्मक, विचार धारात्मक एवं सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण से मूल्यांकित भी करता चलता है और इसी कारण किसी कलाकृति का " वस्तु-तत्व " जीवन-जगत के प्रति उसके रचयिता की अपनी सूझ-बूझ एवं कुल मिलाकर उसकी विश्व-दृष्टि का परिचायक भी होता है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो जब कोई रचनाकार अपने संवेदनात्मक, विचार धारात्मक एवं सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण अथवा अपनी विश्व - दृष्टिके अनुरूप " विषय " का आत्मसातीकरण करने के उपरांत अपनी नवोन्मेष - शालिनीप्रज्ञा द्वारा मौलिक ढंग से जिस तत्व को सावयविक संघटना के रूप में कलाभिव्यक्ति प्रदान करने को आतुर हो जाता है, वही उस कलाकृति का " वस्तु - तत्व " है । जाहिर है कि विभिन्न रचनाकारों के जीवन-जगत सम्बन्धी अपने अलग-अलग दृष्टिकोण तथा उनकी रचनात्मक मौलिकता के कारण ही एक ही विषय को लेकर रचित अनेक कृतियों का " वस्तु-तत्व " परस्पर भिन्न होता है ।

प्रो॰ निर्मला जैन के अपनी पुस्तक " रस सिद्धांत और सौन्दर्यशास्त्र " में विमसाट के एक चित्र का हवाला देते हुए लिखा है कि " काव्य-वस्तु कविता का वह नैसर्गिक अंश है, जो शिल्प के कलात्मक माध्यम से कविता का रूप धारण करता है । यह वस्तु-रूपमय काव्य कवि-प्रतिभा से उत्पन्न होकर ग्राहक को समग्र प्रति-ग्राह्यता में स्थानांतरित होता है । काव्य उत्पत्ति की दृष्टि से कवि से इसका सम्बन्ध है और ग्रहणशीलता की दृष्टि से ग्राहक से । इस प्रकार काव्य की स्थिति कवि और ग्राहक दोनों के मध्य निश्चित की जा सकती है । किन्तु, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, काव्य कवि और ग्राहक के बीच की " वस्तु " नहीं, बल्कि, क्रिया व्यापर है - एक ऐसा वाग्व्यापार जो कवि से ग्राहक तक प्रवहमान रहता है । " 16

डॉ॰रामविलास शर्मा की मान्यता है कि " कला की विषयवस्तु न वेदांतियों का ब्रह्म है, न हेगल का निरपेक्ष विचार । मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, उसके भाव, उसके विचार, उसका सौन्दर्यबोध कला की विषयवस्तु है ।" 17 इस दृष्टि से यदि हम विश्लेषण की सुविधा के लिए " वस्तु " के विभिन्न अवयवों पर विचार करें तो कुल मिलाकर हम उन्हें तीन बिन्दुओं के अन्तर्गत रख सकते हैं :

i) कृति में छिपे विचार
ii) विषय एवं
iii) रचनाकार की संवेदनात्मक गहराई एवं उसका सौन्दर्यबोध ।

कहना न होगा कि प्रत्येक साहित्यिक कृति की रचना के मूल में कोई न कोई वैचारिक दृष्टि अवश्य ही सक्रिय रहती है । वस्तुत: विचार तत्व ही किसी रचना विशेष का मेरुदण्ड होता है जिसके बिना उसका लिजलिजी भावुकता से ग्रस्त हो जाने अवश्यंभावी है । परन्तु इस विचार-तत्व का प्रकटीकरण श्रेष्ठ कृतियों में प्रत्यक्ष रूप में न होकर परोक्षत: ही होता है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो किसी रचना-विशेष में विचार तत्व जितना ही प्रच्छन्न रूप में विद्यमान होता है, वह उतनी ही श्रेष्ठ रचना मानी जाती है और इसी के साथ एक अच्छे पाठक का दायित्व बनता है कि कृति में जहाँ कहीं भी विचार-तत्व मौजूद है, वह उसका साक्षात्कार अवश्य करे । क्योंकि इससे अवगत होने पर ही उस कृति विशेष की विषयवस्तु का सही-सही मूल्यांकन हो पाएगा और इस क्रम में हमें लेखक द्वारा वास्तविक जीवन-जगह से ली गई विभिन्न परिघटनाओं के संदर्भ में उसके मूल्यांकन सम्बन्धी मानदण्डों का भी अभिज्ञान हो पाएगा । जोर देकर कहना चाहूंगा कि किसी रचना के वस्तु-तत्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक उसका केन्द्रीय विचार ही है और इसी सूत्र से हमें बाहर से अपने तेवर में क्रांतिकारी

एवं प्रगतिशील प्रतीत होने वाली अनेकानेक साहित्यिक कृतियों के प्रतिक्रांतिकारी एवं प्रतिगामी चरित्र तथा उनके रचनाकारों की खोरी नीयत का पता चल पाता है ।

" रूप " सम्बन्धी विवेचन : -
-=-=-=-=-=-=-=-=-=-=-=-

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों की " रूप " सम्बन्धी अवधारणा पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार ने पर सर्व प्रथम यह ज्ञात होता है कि मध्ययुग में वहाँ " रूप " के अर्थ-संकोच हो जाने के कारण उसका तात्पर्य केवल शैली के शिल्पमात्र तक ही सीमित हो गया था । कहना न होगा कि अरस्तू के " काव्य शास्त्र " में जिन रूप बोधक शब्दों का प्रयोग हुआ है ॥ अंग्रेजी में उसे " मीडियम " और " मैनर " कहा जाता है ॥ वे सम्पूर्ण कलाकृति के पयार्यन होते हुए भी रूप सम्बन्धी मध्ययुगीन मान्यता से कहीं ज्यादा व्यापक अर्थ रखते हैं । रूप सम्बन्धी मध्ययुगीन अवधारणा के विपरीत पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के उन अभिव्यंजनावादी आचार्यों का चिंतन भी हमारे सामने है जो " रूप " का अर्थ-विस्तार कर इसके अन्तर्गत ही काव्यविषयक तमाम विशेषताओं का समावेश करते हुए इसे सम्पूर्ण कलाकृति के पयार्य के रूप में उद्घोषित करते हैं । इसके बाद रूप सम्बन्धी चिंतन आगे बढ़ता हुआ उस वैचारिक मोड़ पर पहुँचता है जहाँ अनेकानेक स्थानी कवियों एवं विचारकों द्वारा " रूप " को " वस्तु " से अविभाज्य करार देते हुए कविता में सावयव रूप ॥ औरगेनिक फार्म ॥ का सिद्धांत निरूपित किया गया । इस प्रकार हम पाते हैं कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों में से अनेक यदि सम्पूर्ण काव्यकृति को " रूप " मात्र मानकर वस्तु के महत्व को गौण सिद्ध करने के आग्रही रहे हैं तो कई चिंतकों ने कृति में वस्तु एवं रूप के समतोल एवं दोनों के समान महत्व पर बल दिया है । इसके साथ ही पश्चिम में ऐसे सौन्दर्यशास्त्री भी हुए हैं जो काव्यकृति में वस्तु - रूप विभाजन को ही अनुपयुक्त मानते रहे हैं ।

सुप्रसिद्ध रूपवादी चिंतक क्लाईव बेल ने कलाकृति को एक 'सार्थक रूप' (significant form) मानते हुए इसे समस्त चाक्षुष कलाओं की सामान्य विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। अपनी स्थापनाओं में बेल यदि एक ओर कलाकृति में निरूपित तत्व को अप्रासंगिक बताते हुए सौन्दर्यानुभूति के लिए केवल रूप के महत्त्व पर बल देते हैं, तो, दूसरी ओर वे किसी कलाकृति के आस्वाद के लिए जीवन सम्बन्धी संवेगों और अनुभवों की आवश्यकता का भी निषेध करते हैं।[18]

बेल द्वारा प्रवर्तित "सार्थक रूप" (significant form) की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए लैंगर ने संगीत का उदाहरण लिया है। उनका कहना है कि चित्र में जल चट्टानें इत्यादि अर्थ का आशय रहता है जबकि संगीत में ऐसा आशय नहीं होता। इसलिए संगीत, ध्वनियों की आशयरहित विशुद्ध रचना मानी जा सकती है। कलाकृति का अर्थ उसमें क्या चित्रांकित हुआ, इस पर निर्भर न होकर उसके ऐन्द्रिय घटकों की संगठना पर निर्भर रहता है। लैंगर ने संगीत को भावनाओं की अभिव्यंजना मानने से इन्कार करते हुए लिखा है कि संगीत के इतिहास में सतत् विकसित होने वाले रूपों को महत्त्व प्राप्त हो जाता है, भावाभिव्यंजना को "रूप" की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। संगीत के कारण भावों की अभिव्यंजना या भावजागृति होती हो तो उसका महत्त्व नहीं है। संगीतकार भावनाओं की व्यंजना नहीं करता या सुननेवाले के सहानुभव का आवाहन नहीं करता, वह देता है भावनाओं के रूपों का ज्ञान। कलानिर्मिति और कलास्वाद ज्ञान व्यवहार है और भावनाओं का स्वरूप ज्ञान का विषय। मानव के प्रेरणात्मक एवं भावनात्मक अनुभव की जो बुनावट होती है उसका दिग्दर्शन संगीत के घटकों के संगठन के कारण होता है। संगीत को प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीक के रूप में मान्यता देते हुए लैंगर का कहना है कि, उसे किसी भी तरह भाषा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भाषा में प्रयुक्त शब्दों का अपना निश्चित शब्दकोशीय

अर्थ होता है जबकि संगीत में न तो शब्द संग्रह होता है और न ही उसके घटकों का कोई निश्चित अर्थ ही । इसी कारण संगीत में जो व्यक्त होता है वह भाषा के माध्यम से कभी व्यक्त नहीं हो सकता । लैंगर ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि संगीत की तरह अन्य कलाएँ भी अभाषिक, प्रत्यक्ष - दर्शनात्मक प्रतीकों के माध्यम से भावनाओं की बनावट एवं रूप का ज्ञान देती हैं । [19]

कला भावना की बुनावट पर रचना का प्रतीक है, यह सिद्धांत अन्य कलाओं पर भी कैसे लागू होता है, यह दिखाने के लिए सुसन लैंगर ने अपनी पुस्तक " फीलिंग एण्ड फार्म " में कला प्रतीक के सम्बन्ध में जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है । उनकी मान्यता है कि कलाकृति केवल ऐन्द्रिय अनुभवों का विषय होती है । चित्र केवल देखने के लिए होता है, गीत केवल सुनने के लिए । आगे वे बेल के सुर में सुर मिलाकर कहती हैं कि कलाकृति एक बिम्ब अथवा भासात्मक वस्तु (virtual object) होती है, प्रत्यक्ष अस्तित्व में उपस्थित वस्तु का जो व्यावहारिक उपयोग हम करते हैं, वे कलास्वाद में अप्रासंगिक होते हैं ।

मेल्विन एम रेडर का आक्षेप है कि बेल द्वारा निरूपित " सार्थक रूप " सम्बन्धी अवधारणा में 'सार्थक' (significant) शब्द से उनका अभिप्राय अस्पष्ट है । इसी प्रकार रेडर ने बेल द्वारा कथित कला की सार्थकता एवं जीवन की सार्थकता के बीच सम्बन्धहीनता वाली बात को भी एक तथाकथित अस्पष्ट आधिभौतिक संधारणा के रूप में रेखांकित किया है । रेडर की मान्यता है कि कलाकार के भीतर उत्पन्न विशिष्ट सौन्दर्यात्मक संवेग ही बेल की दृष्टि में " रूप " को सार्थकता प्रदान करते हैं । [20]

स्पाशार्ट ने बेल की " सार्थक रूप " सम्बन्धी अवधारणा की रेडर द्वारा की गई व्याख्या को निरस्त करते हुए स्पष्ट किया है कि बेल द्वारा " सिग्निफिकेन्ट " शब्द वस्तुत: " इनसिग्निफिकेंट " (Insignificant) के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका मतलब वहाँ " वर्दी ऑफ नोट " (worthy of note) है। स्पाशार्ट की मान्यता है कि कलाकार के संवेग आदि को अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण सौन्दर्यात्मक रूप की सार्थकता को बेल द्वारा स्वीकारने का प्रश्न इसलिए भी नहीं उठता क्योंकि उनके अनुसार संवेगादि विषय सौन्दर्यशास्त्र की जगह तत्वमीमांसा के अन्तर्गत विचारणीय है। " 21

सुप्रसिद्ध चित्रकार एवं आलोचक तथा क्लाइव बेल के एक अभिन्न सहयोगी रोजर फ्राई के " रूप " सम्बन्धी चिंतन पर टिप्पणी करते हुए रेडर ने उन्हें बेल की तरह ही " कला के शुद्ध रूप " जैसे अलोकतांत्रिक सिद्धांत का निरूपक बताया है। वस्तुत: रोजर फ्राई शुद्ध कला की अवधारणा का सामर्थन करते हुए भावकों में ऐसी कला के भावन हेतु उस विशिष्ट सौन्दर्यात्मक संवेदनशीलता की जरूरत पर बल देते हैं जिसका रेडर के अनुसार लोगों में प्राय: अभाव होता है। रोजर फ्राई के वक्तव्य में शुद्ध कला को परिभाषित करते हुए उसे कला के दूसरे प्रकारों से अलग करके देखने का आग्रह प्रबल है। इसके साथ ही वे प्रकारांतर से बेल के इस मत की पुष्टि भी करते हैं कि रूपगत सम्बन्धों की अप्रत्याशित अपरिहार्यता से एक विशिष्ट सौन्दर्यात्मक संवेग उत्पन्न होता है और बेल के समान ही वे संगीत के सूक्ष्म स्वरूप में शुद्ध कला के आदर्श रूप को खोजने के आग्रही भी है। रेडर के अनुसार ये दोनों ही लेखक (बेल एवं रोजर फ्राई) वस्तुत: वाल्टर पेटर के उत्तराधिकारी हैं जिसका विश्वास था कि तमाम कलाओं को संगीत की शर्तों के मुताबिक होना चाहिए जिसमें " रूप " के अन्तर्गत " वस्तु " सर्वाधिक अनुस्यूत एवं समाविष्ट होती है। 22

अमरीकी पुरातत्वविद् आर॰ कारपेंटर यद्यपि बेल एवं रोजर फ्राई के समान ही विशिष्ट कलात्मक संवेग के अस्तित्व में विश्वास करते हैं परन्तु उन्होंने इसे बिल्कुल अलग ढंग से परिभाषित करते हुए सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक संवेग को कलाकृति के शुद्ध रूपगत मूल्यों एवं उसके प्रतिनिधिक गुणों के परस्पर एकीकृत स्थिति से उत्पन्न बताया है । अपने इस सिद्धांत के आलोक में कारपेंटर ने कलाकृति के उस आत्यंतिक अन्यथाकरण का विरोध किया है जो आधुनिकतावादी पेन्टिंग के लक्षण माने जाते हैं।

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक वैलेरी तमाम आधुनिक आलोचकों की तरह कविता में ध्वनि और संवेदन के सहयोग को मान्यता देते हैं जो उनके अनुसार दोनों में एक प्रकार का समझौता है । लेकिन वैलेरी रूपपर बल नमूने, नमूने में शब्द, शब्दों के रूपीकरण के तौर पर देते हैं ताकि कम से कम इनके सिद्धांत में वस्तु का लोप हो जाए । वे मलार्मे का अनुमोदन करते हैं जिसकी मान्यता है कि " सामग्री रूप का कारण नहीं है, यह उसका एक प्रभाव है । " उनकी मान्यता है कि " वस्तु अशुद्ध रूप के सिवाय कुछ नहीं है, जिसका आशय मिश्रित रूप है । मैं " वस्तु " को " रूप " के अधीन रखना चाहता हूँ । जब मैं अपनी उत्कृष्ट स्थिति के निकटतर होता हूँ तब मैं हमेशा रूप के लिए वस्तु को त्यागना चाहता हूँ । " वैलेरी ने अपने विश्लेषण क्रम में रूढ़िगत रूपों, जैसे सॉनेट, के मूल्य की प्रशंसा विभोर होकर की है । उनके अनुसार कविता न प्रेरणा है न स्वप्न । इसे अभिव्यक्तिगत होकर पूर्ण होना है । कविता का उद्देश्य शुद्ध होना है, शाश्वत कविता को तथ्यात्मक, व्यक्तिगत और भावात्मक मिश्रण से मुक्त होना है । यह ध्वनि एवं अर्थ का कसा हुआ संसार है, दोनों आपस में इस तरह गुँथे हुए होते हैं कि हम वस्तु को रूप से अलग नहीं सकते।। कविता भाषा के स्रोतों का पूरी तरह उपयोग करती है और यह अपने को साधारण भाषा से ध्वनि और

छंदो और बिम्बावली के सब उपकरणों द्वारा दूर कर लेती है । काव्य-भाषा को वेलेरी - " भाषा के अन्तर्गत भाषा " - के रूप में रेखांकित करते हैं जिसका पूरी तरह स्पीकरण हो चुका है । 24

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक हर्बर्ट रीड भी कलाकृति में रूप को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं रूप का समर्थन करते हुए वे उसे शब्द संगीत, बिम्ब और उपमा संरचना और धारणा आदि से परे देखते हैं । 25

रेने वेलेक ने क्लींथ ब्रुक्स को अमरीकी आलोचकों में असली रूपवादी आलोचक बताया है जो कविता का विश्लेषण संरचनाओं और तनावों, विडम्बनाओं और आयरनियों के धरातल पर करते हैं । आयरनी को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं कि " आयरनी एक सामान्य पारिभाषिक शब्द उस गुण के लिए है जिसे संदर्भ में विविध तत्व संदर्भ से पाता है । " इस तरह कविता की संदर्भगत अन्विति, समस्तता, रूपगत संगति और संगठन का विश्लेषण और व्याख्या के बेतुकेपन यानी कविता की गद्यवस्तु में सार देने की कोशिश को अस्वीकारा जाता है । " 26

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन के एक महत्वपूर्ण स्तंभ एवं अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक बेनेदेत्तो क्रोचे भी कला की सत्ता केवल उसके रूप में निहित मानते हैं। कला में वस्तु के चयन की बात करने वाले विचारकों का उपहास करते हुए क्रोचे लिखते है कि कला के विचार के प्रसंग में दो प्रश्न उठने ही नहीं चाहिए - एक तो कला के प्रयोजन का ; दूसरा वस्तु के चयन का प्रयोजन का प्रश्न हास्यास्पद है और वस्तु के चयन का प्रश्न प्रमाद है । 27 प्रयोजन एवं वस्तु-चयन, ये दोनों प्रश्न अन्योन्याश्रित हैं । प्रयोजन का निर्धारण तभी संभव है जब कलाकार को वस्तु के चयन की स्वतंत्रता हो किन्तु कलाकार को वस्तु के चयन की स्वतंत्रता नहीं

होती, वह तो स्फुरित होती है और स्फुरण के साथ ही अभिव्यक्त भी हो जाती है अर्थात कला में परिणत हो जाती है । चयन के लिए चिंतन आवश्यक है, चिंतन के लिए वस्तु की पूर्व सत्ता आवश्यक है, उसके गुण-दोष की जानकारी आवश्यक है । क्रोचे के अनुसार इनमें कोई चीज पहले से नहीं होती । अंत:-प्रेरणा के एक क्षण में एकाएक कोई वस्तु अंत:प्रज्ञा में उद्भाषित हो उठती है और उद्भाषित होते ही अभिव्यंजना बन जाती है क्योंकि जब तक वह अभिव्यंजना बनेगी नहीं तब तक उसका बोध कलाकार को होगा ही नहीं । यह समस्त प्रक्रिया आंतरिक, अनैच्छिक और आशुभावी है । इसलिए कलाकार स्वंय-स्फुरित वस्तु पर निर्भर करने को बाध्य है ।

हालांकि रेने वेलेक ने क्रोचे को रूपवादी मानने से साफ इन्कार किया है [28] परन्तु कला को सामाजिक संदर्भों से काटकर उसके अस्तित्व को केवल कलाकार की आत्मा में देखना तथा कला में वस्तु का निषेध करते हुए उसे रूप का ही पर्याय मानने का आग्रह [29] उनकी रूपवादी चिंतन सरणि को ही उजागर करता है । किसी कलाकृति पर विचारते हुए उसके " रूप " पक्ष के महत्व को नकारना असंभव है । किन्तु, इसके साथ यह भी सच है कि कलाकृति सर्वथा वस्तु-निरपेक्ष नहीं होती । वस्तुत: कलाकृति के निर्माण के क्रम में रचना-कार के सामने प्रथमत: विषय अवतरित होता है जो उसकी विश्वदृष्टि के अनुसार आत्मसातीकृत होकर जब उसके मनस्तत्व के अंग (वस्तु-तत्व) के रूप में कला-व्यक्ति के लिए आतुर होने लगता है तो रचनाकार को अपने इस वस्तु-तत्व को अनुकूल रूप प्रदान करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है । स्टीफन स्पेंडर के शब्दों में यदि कहें तो इस संघर्ष में गति और दिशा होती है और निस्संदेह इच्छाशक्ति की अभिव्यंजना भी, इसलिए वह (रचनाकार) एक ऐसे आदर्श रूप का प्रेक्षण करता है, जिसकी ओर कविता संचरण करती हुई स्वयं उस रूप की सीमा से भी आगे निकल जाती है । [30]

रूसी रूपवादियों का " रूप " सम्बन्धी विवेचन :-

रूसी साहित्य में यदि समाजशास्त्रीय आलोचना की जड़ें अत्यंत गहरी है तो यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा किसी साहित्यिक कृति को रचनाकार की वायवीय कल्पना का पुनर्सृजन न मानकर उसकी समाजसापेक्षता एवं इसी संदर्भ में उसकी व्याख्या एवं विश्लेषण को तरजीह देती है। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो मार्क्सवादी समीक्षा साहित्य एवं कला की स्वायत्त एवं निरपेक्ष सत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाकर रचनाकार से ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिसम्पन्नता की मांग करती है। और कहना न होगा कि इसके बिना कोई रचनाकार अपने समय के यथार्थ का सही-सही साक्षात्कार कर उसे रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में कदापि सक्षम नहीं हो सकता। यह बात रचना के संदर्भ में जितनी सही है उतनी ही आलोचना के संदर्भ में भी प्रासंगिक है। यदि आलोचक वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं है, तो, अपने समय की सर्जना के " डायलेक्टिक्स " को पकड़ना हमेशा उसके वश के बाहर की बात होगी।

जाहिर है कि रूसी आलोचना साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण को ही अपना आदर्श मानकर चलती है जिसमें किसी कलाकृति को उसके सामाजिक राजनीतिक संदर्भों में विश्लेषित करते हुए अंततः उससे प्राप्त संदेश अथवा कलाकृति के सामाजिक सरोकारों के आधार पर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार के मूल्यांकन में किसी रचना के " रूप " की अपेक्षा उसके " वस्तु " पक्ष को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। फिर भी, हम ऐसा नहीं कह सकते कि समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति किसी साहित्यिक कृति में " रूप " के महत्त्व को ही नकार देती है। रूसी समाजशास्त्रीय समीक्षा के जनक कहे जाने

वाले " बेलिंस्की " की आलोचना दृष्टि पर यदि हम विचारें तो स्पष्ट होगा कि वे कलाकृति के रूपगत संदर्भों एवं समस्याओं से अपरिचित नहीं थे।

जहाँ तक रूसी साहित्यचिंतन के क्षेत्र में " रूपवाद " के अभ्युदय का प्रश्न है, हम पाते हैं कि रूस में इसका प्रादुर्भाव बीसवीं सदी के दूसरे दशक में हुआ जिसके पूर्व वहाँ मुख्यत: प्रतीकवादियों एवं भविष्यवादियों का बोलबाला था। इस समय वहाँ साहित्यिक मूल्यांकन के क्षेत्र में साहित्येतर मानदण्डों का हस्तक्षेप काफी बढ़ गया था और इससे विशुद्ध साहित्यिकता के पक्षधर विचारकों का चिंतित होना लाजिमी था। रूसी प्रतीकवादी " भाषिक अभिव्यक्ति एवं कथ्य " अथवा " रूपक - चयित " के बीच स्वाभाविक रूप से प्रतीकात्मक सम्बंध होने की बात करते थे तथाउनकी समीक्षा पद्धति में दर्शनशास्त्र एवं तत्वमीमांसा आदि विषयों से सम्बंधित प्रतिपत्तियाँ अनुस्यूत थीं। रूस में प्रतीकवाद के उन्नायकों में इवानोव एवं आंद्रे बेली का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है।

रूसी प्रतीकवादियों से भिन्न भविष्यवादी चिंतकों में आरंभ से ही तमाम सामाजिक, नैतिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय मानदण्डों के प्रति एक अराजक विद्रोह की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। सन् 1920 में " जनाभिरूचि के चेहरे पर एक तमाचा " (A slap in the face of public taste) शीर्षक से डी·बर्लुक, ए·क्रुसेनिक्स एवं वी·मायाकोवस्की आदि के हस्ताक्षर के साथ भविष्यवादियों का जो दुर्नाम घोषणापत्र प्रकाशित हुआ था उसमें पुश्किन, दोस्तोयवस्की एवं ताल्सताय जैसे महान् रचनाकारों को महत्वहीन एवं उनकी कृतियों को आधुनिक संदर्भ में अप्रासंगिक घोषित करने का एक दंभपूर्ण कुप्रयास सन्निहित था। साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों के मूल्यांकन क्रम में भविष्यवादी चिंतक न केवल वस्तु की अपेक्षा रूप के महत्व पर बल देते थे बल्कि " रूप " को ही वस्तु का निर्धारक मानने के पक्षधर थे। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में साहित्यचिंतन एवं

विभिन्न साहित्येतर कलाओं से सम्बंधित समीक्षा-पद्धतियों के क्षेत्र में व्याप्त उपर्युक्त प्रवृत्तियों की कुक्षि से ही रूस में रूपवादी चिंतन का जन्म हुआ ।

आरंभ में इस आंदोलन के दो केन्द्र, -Petersburg, 'OPOJAZ' तथा 'Moscow linguistic circle' साहित्यिक सिद्धांतों की मौलिक समस्याओं पर परस्पर विचार विमर्श करने वाले उन युवा भाषाशास्त्रियों के दो दलों के रूप में उभरकर सामने आये जो उस समय रूस के शब्द चेतन समुदाय में महत्वपूर्ण माने जाते थे । सन् 1918 के आसपास जब रूस में रूपवादी स्कूल अस्तित्व में आया, तो, इसके उन्नायकों एवं समर्थकों में अधिकांश युवक ही थे जो भाषा एवं साहित्य के संदर्भ में नवीन पद्धति का सूत्रपात करने के लिए उत्सुक एवं प्रयत्नशील थे ।

मास्को लिंग्विस्टिक सर्किल के संस्थापकों में मास्को विश्वविद्यालय के जो नवीन चेतना सम्पन्न छात्र थे उनमें रोमन जाकोब्सन का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिन्हें इस संस्था का प्राण कहा जा सकता है । वे " मास्को लिंग्विस्टिक सर्किल " के अध्यक्ष भी थे तथा इसके साथ ही वे पश्चिमी यूरोप में विकसित होने वाले भाषा एवं दर्शन सम्बन्धी अद्यतन सिद्धांतों के प्रति अत्यंत जागरूक थे । कालांतर में इस संस्था ने रोमन जाकोब्सन के नेतृत्व में काव्यभाषा सम्बन्धी अध्ययन पर विशेष बल देना शुरू किया । इसका प्रमाण यह है कि सन् 1918-19 के अकादमिक वर्ष में इसकी विभिन्न गोष्ठियों में विद्वानों द्वारा जिन बीस प्रपत्रों का वाचन किया गया उनमें अकेले काव्यभाषा विषयक पन्द्रह प्रपत्र थे ।[31]

आगे चलकर " मास्को लिंग्विस्टिक सर्किल " को " माजाकोवस्की " (Majakovski) जैसे प्रतिष्ठित विद्वान का भी सहयोग एवं समर्थन प्राप्त हुआ । ऐसे तो वे छंदशास्त्र के विशेषज्ञ थे, परन्तु इसके साथ ही वे " काव्यात्मक रूप " के बारीक विश्लेषण की आवश्यकता एवं उसके महत्व को भी स्वीकार करते थे ।

इस संदर्भ में उनके द्वारा लिखित " हाउ टू मेक वर्स " शीर्षक आलेख को विद्वानों ने अत्यंत महत्वपूर्ण बताया है । माजाकोवस्की के चिंतन में यदि एक ओर साहित्य के सामाजिक संदर्भों को गंभीरता के साथ स्वीकराने का आग्रह है, तो, दूसरी ओर वे " रूपवादी पद्धति को कलात्मक अध्ययन की कुंजी " के रूप में उद्घोषित करते हैं । अपने इसी विश्वास के तहत उन्होंने सन् 1919 में " फार्मीलस्ट स्टडीज़ " जैसे ग्रंथ के प्रकाशन को प्रोत्साहित किया और कुछ वर्षों बाद अन्य लेखकों के सहयोग से लेफ (Lef) नामक पत्रिका को भी सम्पादित प्रकाशित किया ।

रूस में रूपवादी स्कूल के शुरुआती दौर का दूसरा महत्वपूर्ण केन्द्र पीटर्सबर्ग का 'OPOJAZ' भी इस संदर्भ में अपनी वैचारिक सक्रियताओं के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण मानाजाता है । इस केन्द्र से जुड़े महत्वपूर्ण लोगों में Boris Eixenbaum, Victor Sklovski तथा E.D. Polivanov के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

विक्टर एरलिच ने रूसी रूपवाद सम्बन्धी अपने विवेचन क्रम में रूस में रूपवादी चिंतन के शैशव काल में अपने अल्प लेखन के बावजूद इस संदर्भ में ओसिप ब्रिक की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण बताया है जो माजाकोवस्की के अनन्य मित्र एवं उनके द्वारा सम्पादित पत्रिका " लेफ " के सम्पादक मण्डल के एक महत्वपूर्ण सदस्य भी थे । काव्यशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते हुए ब्रिक द्वारा दी गई स्थापनाएँ अमूल्य थीं जिनकी प्रासंगिकता एवं महत्व को कालांतर में विद्वानों ने समझा । हालांकि ब्रिक पेशेवर भाषाशास्त्री नहीं थे परन्तु काव्यभाषा के अध्ययन के क्षेत्र में वे हमेशा आधिकारिक वक्तव्य दिया करते थे । वैयक्तिक महत्वाकांक्षा से रहित ब्रिक महोदय की एक खास विशेषता

यह थी कि उन्हें अपने महात्वाकांक्षी सहयोगियों को दृष्टिसम्पन्न बनाकर उन्हें महत्वपूर्ण से महत्वपूर्ण कार्य सौंप देने में बड़ा संतोष मिलता था जिसे स्क्लोवस्की ने " द विल टू एकम्प्लिशमेंट " कहा है । [32]

रूसी साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में विक्टर स्क्लोवस्की के अवदान को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हुए विद्वानों ने " रूसी रूपवाद " को उनके मानसपुत्र के रूप में रेखांकित किया है । 'OPOJAZ' के आरंभिक वर्षों में जिन विद्वानों ने रूस में रूपवादी चिंतन की दिशा एवं रणनीति के निर्धारण को अपने विभिन्न विचारोत्तेजक निबंधों एवं व्याख्यानों से प्रेरित एवं प्रभावित किया उनमें अपवादस्वरूप रोमन जाकोब्सन को छोड़कर विक्टर स्क्लोवस्की का योगदान अद्वितीय है । कहना न होगा कि स्क्लोवस्की की पहलकदमी के कारण ही प्रथमत: सन् 1916 में " काव्यभाषा के सिद्धांत का अध्ययन " (studies in the theory of poetic language) नाम से एक निबंध संग्रह प्रकाशित हुआ था जिसमें उनके अतिरिक्त जाकुबिंस्की, कुसनर, पोलिवानोव आदि के महत्वपूर्ण आलेखों को संकलित किया गया था । इसका परिवर्धित संस्करण एक वर्ष बाद पुन: प्रकाशित किया गया । सन् 1919 में इन दोनों पुस्तकों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण आलेखों के साथ इस क्षेत्र में ब्रिक, Ejxenbaum एवं स्क्लोवस्की द्वारा सम्पन्न कुछ नवीन अध्ययन कार्यों को मिलाकर जो तीसरी पुस्तक प्रकाशित की गई उसका नाम अरस्तू के ग्रंथ के अनुरूप ही " पोएटिक्स " रखा गया ।

एरलिख ने रोमन जैकोब्सन की पुस्तक " आधुनिक रूसी कविता " एवं 'OPOJAZ' केन्द्र द्वारा सन् 1919 में प्रकाशित ग्रंथ " काव्यभाषा के सिद्धांत का अध्ययन " को " रूसी रूपवाद " के आरंभिक दौर का प्रतिनिधि वैचारिक ग्रंथ बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि इस दरम्यान रूपवादियों को तत्कालीन रूसी समीक्षा के तीन मुख्य स्कूलों (उपयोगितावादी, प्रतीकवादी एवं अकादमिक चयनवादी) से वैचारिक धरातल पर जूझना पड़ा । इन तीनों में

प्रतीकवादी सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे जिनके कारण आरंभिक रूपवादी गुटों में एका की बात को स्वयं Eikhenbaum ने भी स्वीकार किया है । 33 वस्तुत: तत्कालीन रूसी साहित्यचिंतन के क्षेत्र में परम्परागत अकादमिक आलोचकों के मुकाबले प्रतीकवादी तत्वज्ञों की पकड़ ज्यादा मजबूत थी इसलिए वे उस युग में समीक्षा के क्षेत्र में विकसित हो रहे " रूपवादी स्कूल " के सामने सबसे बड़ी चुनौती के रूप में उपस्थित थे ।

प्रतीकवादियों की " वस्तु " एवं " रूप " सम्बन्धी द्वैतमूलक दृष्टि तथा " वस्तु " से विलग " विशुद्ध रूप " की अवधारणा का खण्डन करते हुए रूपवादियों ने " रूप " को किसी कृति के अंग अथवा अंश की जगह उसे कलात्मक संगति अथवा कलात्मक संघटन (coherence) मानने पर बल दिया । इसके साथ ही रूपवादियों ने ध्वनि को अर्थ के प्रतीक के रूप में उपस्थापित करनेवालीप्रतीकवादी मान्यता का भी खण्डन किया और इन दोनों के बीच यादृच्छिक सम्बन्ध की परिकल्पना सामने रखी ।

अपने स्वीकृति संघर्ष के दरम्यान रूसी रूपवादियों ने साहित्य को विचारधारा के साथ जोड़कर मूल्यांकित करने वाली समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति का भी घोर विरोध किया । डॉ॰हरभजन सिंह के अनुसार " वे साहित्य के विज्ञान के लिए संघर्ष कर रहे थे और चाहते थे कि " साहित्य - विज्ञान " निरपेक्ष भी हो और तथ्यपरक भी । जिस प्रकार भाषा का विज्ञान पूर्णत: निर्धारित एवं स्वायत्त है ठीक उसी प्रकार साहित्यिक कृतियों के विज्ञान की स्वतंत्र सत्ता को पहचाना नहीं गया । रूपवादियों को इस अभाव का तीखा एहसास था । जब विषय स्पष्ट हो जाए तो प्रविधि की समस्या का समाधान सरल हो जाता है । साहित्यिक कृतियों का विभिन्न विधियों से अध्ययन संभव है । साहित्यशास्त्र, साहित्य के प्रति विषयमूलक एवं वस्तुपरक

दृष्टिकोण है, जिसका आत्यंतिक आग्रह रूसी रूपवादी आलोचकों के काव्य - सिद्धांत में देखने को मिलता है । " 34

साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन के क्रम में रूसी रूपवादी विचारधारा का किस हद तक निषेध करते थे, इसकी एक झलक हम श्क्लोवस्की के उस वक्तव्य में देख सकते हैं जब वे लिखते हैं कि " कला हमेशा जीवन से मुक्त थी और इसके रंग में शहर के किले पर फहरने वाले झंडे का रंग कभी प्रतिबिम्बित हनहीं हुआ है । " 35 इसी बात को दूसरे ढंग से व्यक्त करते हुए रोमन जाकोब्सन ने भी लिखा है कि " किसी कलाकृति में व्यक्त कवि के विचारों एवं अनुभूतियों के कारण उसे अभियुक्त सिद्ध करना उन मध्ययुगीन लोगों के व्यवहार की तरह मूर्खतापूर्ण है जो जुडास की भूमिका अदा करने वाले अभिनेता को पीटते थे ।" 36

जाहिर है कि रूसी रूपवादियों की मूल चिंता साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन क्रम में विचार धारा एवं साहित्येतर विषयों के बढ़ते हुए हस्तक्षेप को लेकर थी जिन्हें वे साहित्यानुशीलन के दरम्यान एक अनावश्यक घुसपैठ के रूप में देखने के अभ्यासी थे । वस्तुत: यह उनके कलावादी रुझान एवं साहित्य को समझने की अनैतिहासिक एवं असामाजिक दृष्टि का अवश्यंभावी परिणाम था जिसके कारण वे हमेशा साहित्यिक कृति में साहित्यिकता को परिभाषित एवं व्याख्यायित करने की कोशिश करते रहते थे । कहना न होगा कि " साहित्य का अभ्युदय एवं विकास भी उस सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं सामाजिक प्रक्रिया का ही एक अनिवार्य अंग है " 37 जो अनवरत रूप से इतिहास के प्रत्येक कालखण्ड में घटित हो रही होती है । अत: रूपवादियों द्वारा साहित्य को एक विकासशील प्रक्रिया मानते हुए भी इसे ऐतिहासिक एवं सामाजिक प्रक्रिया से काटकर साहित्यिक कृतियों की साहित्यिकता अथवा उनकी

भाषाशास्त्रीय एवं सौन्दर्यशास्त्रीय विशिष्टताओं के मूल्यांकन तक ही अपने कार्यक्षेत्र को सीमित कर लेना कहीं से भी उनकी वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक नहीं है ।

यदि हम रूस में रूपवादी चिंतन के अभ्युदय पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि इसे रूसी क्रांति के दौर का वैचारिक उत्पादन कहना बिल्कुल गलत है । क्योंकि रूस में रूपवादी चिंतन के दोनों आरंभिक केन्द्र § पीटर्स बर्ग, " ओपोजाज " एवं " मास्को लिंग्विस्टिक सर्किल " § क्रांति के पूर्व ही पूर्ण रूप से अस्तित्व में आ चुके थे । इसके साथ ही प्रश्न उठता है कि यदि " रूसी रूपवाद " के अभ्युदय का रूसी क्रांति से सम्बन्ध नहीं है, तो, क्या हम यूनाचार्स्की से सहमत होकर इसे उन समीक्षकों की बुर्जुआ मान्यताओं को आश्रय प्रदान करने वाली समालोचना पद्वति मान लें जो अपने वर्गचरित्र एवं वर्गीय मानसिकता के कारण " शुद्ध एवं गैरराजनीतिक कला " की वकालत कर रहे थे । यहाँ ध्यातव्य है कि हमारे लिए यूनाचार्स्की के मंतव्य को भी पूरी तरह से स्वीकार कर लेना वाजिब नहीं होगा । कारण यह कि रूपवादियों में से अनेक यदि क्रांति के दरम्यान पार्टी के सांस्कृतिक मोर्चे पर सक्रिय थे तो कई ऐसे रूपवादी चिंतक भी थे जो बोल्शेविक पार्टी के सक्रिय सदस्य के रूप में अपनी भूमिका निभा रहे थे । उदाहरण के लिए ओसिप ब्रिक यदि मास्को की " कला अकादमी " से जुड़े थे तो जाकुबिंस्की जैसे रूपवादी चिंतक क्रांति के आंरभिक वर्षों में बोल्शेविक पार्टी के सक्रिय सदस्य थे ।

सन् 1917 की रूसी क्रांति के पश्चात् वहाँ विभिन्न अध्ययन क्षेत्रों में परिव्याप्त परम्परागत मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन का दौर आरंभ हुआ जिसकी पृष्ठभूमि में सक्रिय मूल दृष्टि ऐतिहासिक भौतिकवादी विचारधारा से सम्पन्न थी । इस क्रम में पुनर्मूल्यांकनकर्त्ताओं ने कवियों-कलाकारों के उस अंधलोकवादी रूझान एवं परम्परागत रूढ़िवादी मनोवृत्तियों का भी जमकर विरोध किया जो

मानव-मस्तिष्क की रहस्यमयी उर्जस्विता के बहाने कलात्मक सृजन को दैवी प्रेरणा या अतिमानवीय व्यापर के रूप में व्याख्यायित करती थी । रूसी रूपवादियों ने भी कला-साहित्य की मूल्यांकन पद्यति को स्थूलता के घेरे से बाहर निकालकर सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक प्रविधि के रूप में विकसित करने का जो प्रयास किया था वह इस संदर्भ में उनके अवदान पर नये ढंग से सोचने के लिए बाध्य करता है । फिर भी, इतना तो तय है कि साहित्य-कला को सामाजिक संदर्भों से काटकर अलग देखना तथा कलाकृतियों के मूल्यांकन क्रम में विचार धारा की भूमिका का पूरी तरह निषेध करना, जैसी प्रवृत्तियाँ वस्तुत: रूप - वादियों की उस एकांगी सोच का परिचायक है जो उन्हें प्रगतिशीलता के बजाय प्रतिक्रियावाद के ही अधिक निकट सिद्ध करती है । संभवत: इसी कारण " रूस में इसे दबा दिया गया और इसके मूल पाठ बहुत मुश्किल से मिलते हैं । "[38]

विक्टर एरलिच ने बीसवीं सदी के तीसरे दशक के अंतिम चरण में रूसी साहित्यशास्त्रीय चिंतनधारा में घटित परिवर्तन की प्रक्रिया को अत्यंत महत्वपूर्ण बताया है । किन्तु, उनकी मान्यता है कि इसके बाद रूसी साहित्यिक आलोचना साम्यवादी पार्टी एवं " रूसी सर्वहारा लेखक संघ " (Russian Association OF Proletarian writers) की दासी के रूप में रूपांतरित हो गई । कहना न होगा कि यह वक्तव्य एरिलच की उस सोच एवं समझ से अनुप्रेरित है जिसमें कहीं न कहीं मार्क्सवाद लेनिनवाद के प्रति दुराग्रह अवश्यय मौजूद है । वस्तुत: रूसी साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में तीसरे दशक के बाद के दौर को हम उन विचारकों के भूलसुधार अथवा आत्मालोचन का दौर कह सकते है जो जाने- अनजाने अपनी ही वैचारिक असंगतियों से नावाकिफ थे । और संभवत: इसी कारण वे किसी साहित्यक कृति के मूल्यांकन क्रम में उसके सामाजार्थिक संदर्भ एवं विचारधारा की भूमिका का पूरी तरह से निषेध कर रहे थे । इस संदर्भ में स्क्लोवस्की का एक वक्तव्य विशेष रूप से ध्यातव्य है जिसमें वे साहित्यिक प्रक्रिया को उसकी पृष्ठभूमि में सक्रिय सामाजिक

शक्तियों से अलगाकर देखने वाली रूपवादी समालोचना पद्धति की निंदा करते हैं ।[40] इसके साथ ही आगे वे तिंजानोव द्वारा दी गई साहित्यिक प्रक्रिया की गत्वर अवधारणा को भी स्वीकार करते है जो साहित्यिक रूप विषयक जड़ीभूत दृष्टि के विपरीत यह मानकर चलती है कि एक ही " रूप " विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भों में अलग-अलग भूमिका अदा कर सकता है ।

इस प्रकार हम पाते हैं कि बीसवीं सदी के दूसरे दशक के पूर्वार्द्ध में रूसी साहित्यशास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में जिस रूपवादी स्कूल का उदय हुआ वह साहित्यिक अध्ययन सम्बन्धी तकनीक की दृष्टि से दिनानुदिन विकसित होकर अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचने के बावजूद चिंतन पद्धति से जुड़े महान् भाषाविदों, साहित्य समीक्षकों एवं चिंतकों की असामाजिक एवं अनैतिहासिक दृष्टि के कारण तीसरे दशक के अंत में ही अस्तित्वविहीन होकर आज लगभग इतिहास का विषय बन चुका है । रूसी रूपवाद की इस परिणति को बहुत हद तक अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता और इससे यह बात भी बिल्कुल साफ हो जाती है कि कोई भी ज्ञानधारा एवं चिंतनापद्धति तब तक ही संसार के शब्द-चेतन-समुदाय के बीच अपनी प्रासंगिकता एवं महत्व को कायम रख सकती है जब तक उसके प्रणेता विचारकगण ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न बने रहेंगे । अन्यथा कालांतर में अप्रासंगिक होकर इतिहास का विषय बन जाना ही उसकी एक मात्र नियति है, भले ही उसका गुणात्मक मूल्य कितना भी अधिक क्यों न हो ।

संरचनावादियों की दृष्टि में " रूप " :-

बीसवीं सदी की आलोचना में रूप और संरचना की धारणाओं पर विचार करते हुए प्रो॰ रेने वेलेक ने लिखा है कि जब " रूसी रूपवाद का निर्यात पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया में दो महायुद्धों के दौरान हुआ तो यह जर्मन परम्परा के सम्पर्क में आया जो पूर्णता और समग्रता की थी, जिसमें " वस्तु "

की प्रकृति के मनन, और इसकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टियाँ थीं। ... पेक समूह जो प्राग के भाषिक दायरे के आसपास था, इस सिद्धांत को " रूपवाद " के बजाय संरचनावाद नाम दिया और अनुभव किया कि संरचना शब्द कलाकृति की समग्रता के प्रति अधिक न्याय करता है और इसपर रूप की अपेक्षा बाह्यता के संकेतों का कम बोध है। " 41

वेलेक के उपर्युक्त उद्धरण से एक बात साफ है कि संरचनावाद का मूल स्रोत रूसी रूपवादियों के भाषा एवं साहित्य विषयक गंभीर चिंतन में निहित है। यह फ्रांस की उपज नहीं है, जैसाकि कुछ लोग दावा पेश करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि दार्शनिक चिंतन एवं वैज्ञानिक प्रणाली के रूपमें संरचनावाद का आविर्भाव आधुनिक भाषाविज्ञान के उद्भव एवं विकास के साथ-साथ हुआ जिसे सैद्धांतिक आधार प्रदान करने वाले भाषावैज्ञानिकों में सस्यूर एवं " बादुएन द कुर्तने " का नाम लिया जाता है।

सन् 1916 में 'cours de linguistique generale' नामक सस्यूर का जो ग्रंथ प्रकाशित हुआ, वह वस्तुत: सन् 1907 से 1911 के बीच जेनेवा विश्वविद्यालय में दिये गए उनके भाषणों का संकलन था। सस्यूर का उद्देश्य भाषा व्यवस्था का अध्ययन करना था। इस क्रम में उन्हें यह अनुभवहुआ कि लोगों के वक्तव्यो को नियंत्रित करनेवाली एक व्यवस्था अवश्य होती है। सस्यूर इसे ही लांग (Langue) कहते है। इसी प्रकार परोल (Parole) से उनका तात्पर्य भाषा-व्यवहार से है। संरचना (structure) सम्बन्धी चर्चा के क्रम में सस्यूर भाषा के आदर्श एवं व्यावहारिक स्वरूप में अंतर करते हुए भाषिक संरचनाओं के विश्लेषण पर ज्यादा बल देते हैं।

भाषा सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र में सबसे पुराना निकाय ऐतिहासिक भाषावैज्ञानिकों का है । "हरमन पाल" की सन् 1880 में कृति "प्रिंसपुल्स औव लैंग्वेज हिस्टरी" में भाषिक विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया को भली-भाँति समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टि की अनिवार्यता पर बल दिया गया है । इससे थोड़ा अलग हटकर सस्यूर ने भाषा सम्बन्धी समकालिक (Synchronic) एवं ऐतिहासिक (Diachronic) अध्ययन को एक दूसरे का पूरक बताते हुए स्पष्ट किया कि किसी भाषा विशेष का ठीक-ठीक समकालिक अध्ययन किये बिना उसका ऐतिहासिक अध्ययन संभव नहीं है । इससे साथ ही उनकी मान्यता है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में संरचनात्मक अध्ययन के लिए कोई स्थान नहीं है ।[42]

हालांकि "संरचना" सम्बन्धी चिंतन अपने बीज रूप में सस्यूर की पुस्तक में स्थान पर चुका था परन्तु प्रकार्यात्मक रूप में उसकी प्रामाणिक स्वीकृति सन् 1929 में "प्राग स्कूल औव लिंग्विस्टिक सर्किल" के सदस्यों द्वारा प्राग में आयोजित स्लाविक भाविदों के प्रथम अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सम्मिलित रूप से प्रस्तुत की गई "थीसिस" के बाद ही मिली । सस्यूर ने भाषा-व्यवस्था या लांग को केवल "रूप" मानते हुए वहाँ "वस्तु" का निषेध किया था । जबकि प्राग स्कूल के विद्वानों ने भाषा को "वस्तु" या "रूप" की जगह "संरचना" के रूप में स्वीकार करते हुए स्पष्ट किया कि किसी भाषिक इकाई की संरचना उस इकाई के भीतर पाये जाने वाले "सम्बन्धों की व्यवस्था" है जिसकी प्रकृति रूपकात्मक होती है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो संरचनावा-दियों के लिए संरचना वस्तुतः रूप का ही पर्याय है । वे रूसी रूपवादियों के विपरीत रूप और वस्तु के बीच भेद को अस्वीकार करते हैं और रूप को वस्तु से ज्यादा महत्वपूर्ण अथवा वस्तुनिर्धारिक मानने के बजाय वस्तु और रूप के द्वैत को ही अस्वीकृत कर देते हैं । उनके लिए कोई साहित्यिक कृति सिर्फ एक भाषिक संरचना है इसलिए उसमें वस्तु की सत्ता खोजने का कोई अर्थ नहीं है । इसी

प्रकार रूपवादियों से भिन्न वे साहित्य को विकासशील प्रक्रिया मानने के बजाय उसे साहित्यिक संरचना की सतत वर्तमानता के रूप में रेखांकित करते हैं। संरचनावादी विचारक पाठ को पूर्ण पठन की दृष्टि से और एक विशिष्ट एकता से युक्त संपूर्ण संरचना के रूप में देखने के आग्रही रहे हैं। जौन रदरफोर्ड के शब्दों में "संरचनावाद साहित्य के प्रति उस श्रद्धापूर्ण दृष्टि का प्रबल विरोध करता है जो इसे कुछ अद्भुत-अनोखा मानते हुए सूक्ष्म विश्लेषण या सैद्धांतिक विचार-विमर्श से परे मानती है। वास्तव में संरचनावाद में वस्तुनिष्ठता तथा पद्धति की सुस्पष्टता के साथ-साथ निश्चित वैज्ञानिक नजरिये की दिशा में प्रगति मिलती है। इसका शब्द-भंडार न केवल स्पष्टता की दृष्टि से आदर्श है बल्कि प्रायः तकनीकी, अमूर्त, कठिन एवं नवनवोन्मेषकारी भी होता है।"[43] यह सर्वविदित तथ्य है कि बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आसपास रोमन जाकोब्सन एवं यान मुकाशेवस्की के सम्मिलित प्रयास से साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण के संदर्भ में संरचनावादी समीक्षा पद्धति का आविर्भाव हुआ था परन्तु आगे चलकर मुकारोवस्की ने संरचनावाद का निषेध करते हुए स्वयं को इससे अलग कर लिया।

डॉ॰मैनेजर पाण्डेय ने फ्रांस में संरचनावाद के अभ्युदय के ऐतिहासिक कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "फ्रांस में अस्तित्ववाद अगर महायुद्धों से जर्जर सामाजिक, राजनीतिक वातावरण की वैचारिक प्रतिक्रिया का परिणाम था तो संरचनावाद "द गाल" के शासन की सामाजिक राजनीतिक स्थिरता के वैचारिक वातावरण की उपज है।"[44] वस्तुतः छठे दशक के अंतिम चरण में फ्रांस में संरचनावादी चिंतन का प्रादुर्भाव हुआ जिसके प्रमुख प्रवक्ता के रूप में लेवी स्त्रास के अलावा रोलांबार्थ एवं मिशेल फूको आदि का नाम लिया जाता है। जिस प्रकार प्रतीकवादी काव्य में मुख्यतः शब्दों के अर्थ एवं ध्वनि के सम्बन्ध पर विचार करने के आग्रही थे उसी प्रकार संरचनावादी विचारक किसी काव्यकृति की शाब्दिक संरचना एवं उसके रूपकात्मक स्वरूप पर ही वैचारिक

दृष्टि से ज्यादा बल देते हैं । इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी संरचनावादी बार्थ का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि " संरचनावाद को संस्कृति एवं साहित्य के अध्ययन विश्लेषण के उस प्रणालीगत आंदोलन तक सीमित कर देना चाहिए जो स्पष्ट रूप से अपनी शक्ति के स्रोत के रूप में भाषाविज्ञान को अपनाने के पक्ष में है । " 45 लेकिन यहाँ ध्यान रखना जरूरी है कि संरचनावादीसमीक्षा अपनी शक्ति के स्रोत के रूप में भाषाविज्ञान को अपनाने पर बल देने के बावजूद अपने-आप में किसी कृति का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण मात्र नहीं है । डॉ॰रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के शब्दों में यदि कहें तो " संरचनात्मक आलोचना अपनी विश्लेषणात्मक प्रणाली एवं सैद्धांतिक मत प्रतिपादन में भाषा के दायरे में बंधकर चुक नहीं जाती, बल्कि भाषा के पार जाकर उसकी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता को " रूप " [संरचना] के सहारे उद्भाषित और प्रकाशित करती है । " 46

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि संरचनावादी समीक्षा किसी साहित्यिक कृति के विश्लेषण क्रम में वस्तु और रूप के विभाजन को अस्वीकार करती हुई इन दोनों ही पक्षों को अपनी संरचना सम्बन्धी अवधारणा में अन्तर्भुक्त कर लेती है । फिर भी इतना तो स्पष्ट है ही कि संरचनावादी विचारक संरचना एवं " रूप " को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं। वस्तुत: संरचनावादियों के लिए " रूप " यदि एक ओर वस्तु की यथार्थता को पकड़ने का साधन है, तो, दूसरी ओर वे यह भी मानकर चलते हैं कि अपनी आंतरिक प्रकृति के प्रकाशन हेतु " रूप " में बंधना " वस्तु " की अनिवार्य नियति है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो संरचनावादियों के लिए रूप, वस्तु की आभ्यांतर संरचना का पर्याय है । संभवत: इसी कारण से संरचनावाद को विचारकों ने " नव्य रूपवाद " भी कहा है ।

मार्क्सवादी लेखकों एवं विचारकों पर भाववादियों द्वारा अक्सर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वे कला एवं साहित्य के " वस्तु " पक्ष पर ज्यादा बल देते हुए उसके " रूप " पक्ष की प्राय: उपेक्षा करते हैं और इसी कारण मार्क्सवादी लेखकों की कृतियाँ न केवल कलात्मक दृष्टि से हीन होती हैं बल्कि वे अनेक बार कविता की जगह नारेबाजी बन कर रह जाती हैं। संभवत: इन्हीं तर्कों के कारण कलावादी चिंतक हरदम साहित्यिक कृतियों की साहि - त्यिकता एवं उनके " रूप " पक्ष को ज्यादा महत्त्वदेते हैं और जैसा कि पिछले पृष्ठों के विवरण से स्पष्ट है, वे अपनी रूप सम्बन्धी अवधारणा को इतना व्यापक आयाम प्रदान करते हैं कि " रूप " उनके लिए " वस्तु " की आभ्यंतर संरचना का पर्याय बन जाता है।

उपर्युक्त संदर्भ पर गंभीरतापूर्वक विचारने से स्पष्ट होता है कि मार्क्सवादी साहित्यचिंतकों पर भाववादी एवं कलावादी विचारकों द्वारा किये जाने वाले आक्षेप न केवल निराधार हैं अपितु वे प्रतिबद्ध रचनाकारों एवं समीक्षकों के प्रति उनके दुराग्रहपूर्ण रवैये से प्रेरित भी हैं। वस्तुत: मार्क्स- वादी सौन्दर्यशास्त्र में साहित्य एवं कला के संदर्भ में " वस्तु " पक्ष पर जितना विचार किया गया है उससे कम गंभीर चिंतन वहाँ " रूप " को लेकर नहीं हुआ है। सच तो यह है कि अधिकतर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्री ही " रूप " की समस्या पर वैज्ञानिक ढंग से विचार कर सके हैं। चूँकि मार्क्सवाद जड़ीभूत एवं एकांगी चिंतन के बजाय किसी समस्या पर द्वन्द्वात्मक ढंग से विचारने का पक्षधर है इसलिए मार्क्सवादी साहित्यचिंतकों के बीच भी कला साहित्य के " रूप " पक्ष को लेकर अनेक बार विवाद की स्थिति उत्पन्न होती रही है और वास्तविकता यह है कि इससे रूप सम्बन्धी उनका चिंतन उत्तरोत्तर गंभीर एवं वैज्ञानिक होता चला गया है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का हर अध्येता इस तथ्य से परिचित है कि मार्क्सवादियों के लिए साहित्य में " रूप " का

महत्व असंदिग्ध है और इसे कभी गौण मानकर अपेक्षित नहीं किया गया है । लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि वे हमेशा इस तर्क से सावधान रहते हैं कि साहित्य में रूप ही सबकुछ है और रूप ही साहित्य है । कहना न होगा कि इस तरह के फतवे प्राय: उन रूपवादियों द्वारा अपने बचाव में दिये जाते हैं जो रूपगत श्रेष्ठता के नाम पर पतनशील मूल्यों को व्यक्त करनेवाली रचनाओं को सराहने के अभ्यासी रहे हैं और इस प्रकार की प्रवृत्ति से प्रगतिशील लेखकों एवं आलोचकों को सदा बचने की आवश्यकता है ।

फ्रेडरिक जैम्सन ने अपनी पुस्तक " मार्क्सिस्ट एस्थेटिक्स " में कला साहित्य में " वस्तु-रूप " के संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतन पर विचारते हुए लिखा है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र चूँकि किसी कलाकृति को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से बहुत अधिक जोड़कर देखता है इसलिए वह " रूप " की अपेक्षा वस्तु को प्राथमिकता देने को बाध्य है । जेम्सन ने साफ लिखा है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र अपरिहार्य रूप से केवल वस्तु से सम्बंधित है । आगे उन्होंने मार्क्सवादियों की दृष्टि में वस्तु-रूप सम्बन्ध को आर्थिक आधार एवं विचारधारात्मक अधिरचना के बीच के सामान्य सम्बन्ध की तरह घोषित करते हुए " वस्तु " को प्रधान एवं " रूप " को गौण बताया है । [47]

कहना न होगा कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की वस्तु-रूप सम्बन्धी अवधारणा की जेम्सन कृत व्याख्या किस हद तक दुराग्रहपूर्ण है । यह सही है कि मार्क्सवाद साहित्य-कला आदि को अधिरचना के रूप में स्वीकार करते हुए इसके अभ्युदय एवं विकास को सम्पूर्ण ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया से जोड़कर देखता है परन्तु आर्थिक आधार एवं विचारधारात्मक अधिरचना के बीच वह सामान्य कार्य कारण सम्बन्ध की जगह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध पर बल देता है । जो लोग आधार एवं अधिरचना के बीच सामान्य कार्य-कारण सम्बन्ध को ही मार्क्सवादी

चिंतन का सार समझते है वे लुकाच के शब्दों में मार्क्सवाद का अन्यथाकरण करते हैं और उसका मजाक उड़ाते है । 48

अपनी पुस्तक " उपन्यास के सिद्धांत " में जार्ज लुकाच ने " रूपों के इतिहासदर्शन की समस्याएँ " तथा " महाकाव्य एवं उपन्यास " आदि प्रकरण के अन्तर्गत साहित्य के " रूप " पक्ष पर जो विचार किया है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है । वे लिखते हैं कि " महाकाव्य और उपन्यास उत्कृष्ट महाकाव्यात्मक साहित्य के दो प्रमुख रूप हैं । ये एक दूसरे से न केवल इसलिए भिन्न हैं कि इनके लेखकों के मूल अभिप्राय भिन्न होते हैं बल्कि इसलिए कि जिन ऐतिहासिक दार्शनिक वास्तविकताओं से लेखकों का सामना होता है, वे भिन्न होती हैं ।"49 कहना न होगा कि लुकाच साहित्य रूप को ऐतिहासिक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से प्रभावित मानकर उसका विवेचन करते हैं । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो लुकाच ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न स्थिति को रूप का पूर्वनिर्धारक मानते हुए कलाकार की चेतना से उसे वस्तुनिष्ठ रूप में स्वतंत्र मानते हैं । 50

लुकाच के " रूप " सम्बन्धी मत से असहमति जाहिर करते हुए बर्तोल ब्रेख्त ने यह स्पष्ट किया है कि किसी विशेष युग की सामाजार्थिक व्यवस्था में रचित साहित्य का कोई एक निश्चित रूप ही हो, यह आवश्यक नहीं है । ब्रेख्त की मान्यता के अनुसार किसी पुराने काव्य-रूप के माध्यम से भी नयी वस्तु को सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति दी जा सकती है । कुलमिलाकर हम कह सकते हैं कि लुकाच की तुलना में ब्रेख्त का " रूप " सम्बन्धी चिंतन ज्यादा वैज्ञानिक है । हिन्दी कविता से यदि उदाहरण लेकर देखें तो स्पष्ट होता है कि उत्तरशती में नागार्जुन ने " दोहा " जैसे पुराने काव्य-रूप के माध्यम से अपने समय की विसंगतियों से परिपूर्ण नयी काव्य-वस्तु को कितनी सफलता के साथ अभिव्यक्त किया है ।

जबकि मध्ययुग के अवसान के साथ इस काव्य-रूप में कुछ नया कह पाने की तमाम संभावनाएं लगभग समाप्त हो चुकी थीं । अपने रूप सम्बन्धी विवेचन क्रम में ब्रेख्त ने साहित्यिक कृतियों की यथार्थवादिता पर बल देते हुए लिखा है कि अनेक ऐसी साहित्यिक कृतियां भी होती हैं जिनमें साहित्यिक रूप की तुलना में सामाजिक वस्तु की प्रधानता के बावजूद वे यथार्थ को व्यक्त नहीं करतीं, जबकि अनेक कृतियों का रूप ही यथार्थवादी होता है । 51

हर्बर्ट मारक्यूज ने अपनी पुस्तक " एस्थैटिक डायमेन्शंस " में " सौन्दर्यात्मक रूप " को लेकर जो विचार प्रस्तुत किया है, वह उनके छद्म मार्क्सवाद एवं मार्क्सवाद के दुर्ग में बैठकर उसी के खिलाफ विचार धारात्मक षडयंत्र रचने की उनकी प्रवृत्ति को ही उजागर करता है । उनकी यह प्रवृत्ति तब स्पष्ट होती है जब वे इस पुस्तक की भूमिका में मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में पहले से स्वीकृत मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए इस क्षेत्र में अपने योगदान की सदिच्छा व्यक्त करते हैं । मारक्यूज कलाकृति की राजनीतिक शक्ति को उसके सौन्दर्यात्मक रूप में ही निहित मानते मानते हुए कला की समाजसापेक्षता का निषेध कर उसकी स्वायत्तता की घोषणा भी करते हैं । उनकी मान्यता है कि केवल वह कला क्रांतिकारी कही जा सकती है जो अपने सौन्दर्यात्मक रूपांतरण की क्षमता द्वारा सामाजिक यथार्थ की रहस्यमयता एवं जड़ता को भेदकर व्यक्ति के आदर्श भविष्य को प्रस्तुत करती है । अपनी इसी मान्यता के तहत वे श्रमजीवी वर्ग एवं क्रांति के लिए रचित साहित्य की क्रांतिकारिता का निषेध करते हुए केवल उसी साहित्य को विशिष्ट अर्थ में क्रांतिकारी मानने की वकालत करते हैं जिसमें " वस्तु " का " रूप " में पूरी तरह रूपांतरण हो गया हो । 52 मारक्यूज के अनुसार चूंकि कला की राजनीतिक शक्ति केवल उसके अपने सौन्दर्यात्मक आयाम में निहित होती है इसलिए इससे विलग जो क्रांतिकारी एवं राजनीतिक साहित्य लिखा जाता है वह क्रांतिकारी परिवर्तन के उद्देश्यों को सिर्फ बाधित ही करता है । अपनी

इन्हीं मान्यताओं के आलोक में मारक्यूज ने ब्रेख्त के नाटकों की तुलना में बादलेयर एवं रेम्बो की कविताओं को सही अर्थ में क्रांतिकारी बताया है ।

मारक्यूज द्वारा साहित्य की समाज सापेक्षता का निषेध करना, श्रमजीवी वर्ग एवं क्रांति के लिए रचित साहित्य की क्रांतिकारिता को नकारना, कलाकृति की राजनीतिक शक्ति को सामाजिक संदर्भों से काटकर केवल उसे कृति के " सौन्दर्यात्मक रूप " में ही देखने का आग्रह तथा इन सबके बावजूद मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के क्षेत्र में अपने योगदान की सदिच्छा व्यक्त करते हुए अंत में ब्रेख्त के नाटको की तुलना में बादलेयर एवं रेम्बो की कविताओं को ज्यादा क्रांतिकारी एवं प्रासंगिक घोषित करना जैसी बातें उनके किस दृष्टिकोण का परिचय देती हैं, इसे अलग से व्याख्यायित करना आवश्यक नहीं है।

कला साहित्य की समाज सापेक्षता का निषेध करते हुए उसकी अन्तर्वस्तु को नजरअंदाज कर केवल " रूप " पर बल देने वाली प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति ने ही किसी समय वैचारिक जगत में रूपवाद को जन्म दिया था, जिससे प्रगतिशील लेखकों को सावधान करते हुए अंर्स्ट फिशर ने जो बात कही थी वह आज भी कहीं स कम प्रासंगिक नहीं है :

" अंतर्वस्तु को नजरअंदाज कर देने की प्रवृत्ति ने, रूप पर जोर देने की इसी प्रवृत्ति ने, कि मानो रूप ही असली, बल्कि एकमात्र ध्यान देने लायक चीज हो, पूंजीवादी दुनिया के अस्थिरचित बुद्धिजीवियों के एक बड़े हिस्से को भी प्रभावित किया है और कला की दुनिया में " रूपवाद " को जन्म दिया है । यह वस्तुत: कलात्मक अभिव्यक्ति के साधनों का सवाल नहीं है { क्योंकि नये साधनों के प्रयोग पर आपत्ति की जा सकती है } यह " रूपवाद " की ज्यादा गहरी, ज्यादा आम समस्या का सवाल है, क्योंकि " रूपवाद " उस सामाजिक

रूप का प्रातिनिधिक प्रपंच है, जिसका वर्तमान समय के साथ कोई तालमेल नहीं रह गया है, यह इस तथ्य की प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति है कि शासक वर्ग के दिन पूरे हो चुके हैं और फिर भी वह अभी तक बना हुआ है । " 53

प्रगतिशील लेखक संघ, ब्रिटेन की स्वर्णजयन्ती ‖ लंदन, 1985 ‖ के अवसर पर जारी घोषणापत्र में भी साफ कहा गया है कि " हम अंतर्वस्तु की अपेक्षा रूप और शिल्प की प्रमुखता की धारणा को अस्वीकार करते हैं । हम उनके द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों का समर्थन करते हैं । हम मानते हैं कि भाषा, रूप, शिल्प और प्रासंगिक ‖ जीवंत ‖ परम्परा के संसाधनों का सृजनात्मक उपयोग लेखक का कलात्मक उत्तरदायित्व है । " 54

जाहिर है कि मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा किसी कलाकृति में वस्तु और रूप के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को स्वीकार करके किसी रचना-विशेष द्वारा उपस्थापित मूल्यों को ज्यादा महत्व देती है । रचनाकार द्वारा अपनी कृति में उपस्थापित ये मूल्य प्रभावान्विति की दृष्टि से तभी सार्थक हो सकते हैं जब उन्हें रचना की शर्त पर व्यक्त किया गया हो । अन्यथा वह कृति अपनी साहित्यिक पहचान खोकर एक कोरा उपदेशग्रंथ बनकर रह जाएगी । इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार जब अपनी कृति के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है, तो, निश्चित रूप से उसके कुछ सामाजिक सरोकार भी होते हैं और स्पष्ट है कि इसका निर्धारण उसकी विचारधारात्मक प्रतिबद्धता से ही होता है । यदि लेखक जनपक्षधर होगा तो निश्चित रूप से उसे सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में व्याप्त प्रतिगामी विचार धाराओं के विरोध का खतरा भी उठाना पड़ेगा । टेरी ईगलटन ने इस संदर्भ में ठीक ही लिखा है कि " सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में व्याप्त प्रतिगामी विचार -

धारा का विनाश न केवल साहित्यकअतीत की वैज्ञानिक समझ के लिए ही अनिवार्य है अपितु यह उस नींव डालने के लिए भी अत्यावश्यक है जिस पर भविष्य में भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्र एवं कलात्मक रचनाशीलता की निर्मिति हो सकती है। " 55

अनातोले वैसेलीविच ल्यूनाचार्स्की ने भी अपने " रूप " विषयक विवेचन-क्रम में जोर देकर कहा है कि " साहित्यिक रूपों के विश्लेषण के विशिष्ट कार्य की उपेक्षा करना असंभव है और मार्क्सवादी आलोचक को इस ओर से आँखें नहीं फेरनी चाहिए। " मार्क्सवादियों द्वारा सर्वप्रथम किसी साहित्यिक कृति की " वस्तु " को अपने विश्लेषण का विषय बनाये जाने को समुचित ठहराते हुए वे लिखते हैं कि " ऐसा करके कोई आलोचक सामाजिक गुणों के साथ कृति के सम्बन्ध और कृति को अभिव्यक्ति की शक्ति द्वारा सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का निर्धारण करता है। " किसी कृति के रूप के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि इसका निर्धारण सिर्फ वस्तु द्वारा न होकर अन्य तत्वों द्वारा भी होता है। कृति में रचनाकार द्वारा चित्रित सामाजिकों के वर्ग-चरित्र, उनकी मनोवैज्ञानिक विचार-प्रक्रियाएं, वार्तालाप, उनके जीने की रीति, प्रस्तुत समाज की भौतिक संस्कृति का सामान्य स्तर, अतीत की जड़ता एवं नवीनीकरण का प्रयास आदि तमाम बातें कृति के रूप को प्रभावित कर सकती हैं। इसके साथ ही ल्यूनाचार्स्की का कहना है कि प्राय: रूप किसी एक कृति से जुड़ा नहीं होता वरन् एक पूरे स्कूल या पूरे युग से जुड़ा होता है। और अनेक बार वह ऐसी शक्ति भी हो सकता है जो वस्तु को हानि पहुँचाकर कृति के मूल उद्देश्य को ही खंडित कर दे। 56

हिन्दी समीक्षकों का रूप विषयक चिंतन :

ल्यूनाचार्स्की द्वारा साहित्यिक रूप विषयक विवेचन क्रम में की गई उपरिउद्धृत टिप्पणी के अंतिम वाक्य से गुजरते हुए अनायास ही मुझे प्रो॰ नामवर सिंह की एक उक्ति का स्मरण हो आता है जब वे प्रगतिशील वस्तु को प्रयोगवादी

शिल्प के द्वारा व्यक्त किये जाने के क्रम में संभावित खतरे की ओर इशारा करते हुए लिखते हैं कि " जनवादी भावनाएँ प्रयोगवादी शिल्प में जाते ही किस प्रकार अपनी शक्ति खोकर एकदम प्रयोगवादी हो जाती हैं इसके लिए मँजे हुए कवि शमशेर की " वर्ली के किसानों " और " ग्वालियर के गोली - काण्ड " पर लिखी हुई कविताएँ देखिए । जब शमशेर जैसे कवि का यह हाल है तो फिर उनकी बात क्या की जाये जिनके लिए प्रयोगवादी शिल्प एकदम अनसधी मशीन है । " 57

साहित्य के वस्तु एवं रूप पक्ष पर हिन्दी के जिन मार्क्सवादी लेखकों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है उनमें मुक्तिबोध का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है । मुक्तिबोध साहित्य समीक्षा को केवल किसी कृति या साहित्यिक प्रवृत्ति के गुण-दोष विवेचन तक ही सीमित न रखकर उसे मूल्यांकन शास्त्र का दरजा देते हैं । वे साहित्य की रचना-प्रक्रिया की तरह ही आलोचना की भी एक प्रक्रिया निर्धारित करते हैं जिससे गुजरकर समीक्षक द्वारा किये जाने वाले साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकनक्रम में मूल्य-दृष्टि या मूल्य व्यवस्था के साथ ही मूल्य निर्णय का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है । मुक्तिबोध साहित्य की समीक्षा अथवा उसके मूल्यांकन के लिए किसी स्थूल प्रतिमान या सर्वस्वीकृत बंधे- बधाये सिद्धांत की अपेक्षा एक निश्चित पद्धति पर अधिक बल देते हैं । समीक्षा पद्धति के संदर्भ में मुक्तिबोध की मान्यता है कि " किसी भी साहित्य को तीन प्रकार से देखना चाहिए । एक तो वह किन स्रोतों से उद्भूत होता है, अर्थात किन वास्तविकताओं से वह साहित्य उत्पन्न हुआ है । दूसरे, उसका कलात्मक प्रभाव क्या है और तीसरे, उसकी अंत:प्रकृति, रूप रचना कैसी है । इस तीसरे प्रश्न को बगैर पहले प्रश्न से मिलाये हम दूसरे सवाल का जवाब नहीं दे सकते । " 58 मुक्तिबोध की दृष्टि में इस दूसरे सवाल का जवाब सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । उनके ही शब्दों में उसके (रचना के) प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उनका उपयोग

था दुरुपयोग किया है और क्यों ? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है । " 59

जाहिर है कि मुक्तिबोध के समीक्षक की दृष्टि रचना का मर्म ग्रहण कर, रचयिता के अन्तर्लोक में पूरी तरह विचरण करके कृति के प्रभाव को ग्रहण कर लेने के बाद ही उसके माध्यम अथवा अभिव्यक्ति के उपकरणों की ओर जाती है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो एक समीक्षक के रूप में मुक्तिबोध सबसे अंत में कृति के रूप एवं शिल्प परविचार करने के पक्षधर हैं । और वह भी केवल इस दृष्टि से कि रचना का रूप या शिल्प वस्तु-तत्व के कितने अनुकूल या प्रतिकूल है, कवि-व्यक्तित्व और उसकी मूल्य-दृष्टि के प्रभाव को ग्रहण कराने में कितना समर्थ या असमर्थ है ।

कहना न होगा कि एक मार्क्सवादी साहित्यचिंतक होने के कारण मुक्तिबोध की समीक्षा की प्रकृति मूलत: समाजशास्त्रीय है । चूँकि सामाजिक प्रकृति का निर्धारण मुख्यत: वस्तु-तत्व के आधार पर ही हो सकता है, इसलिए मुक्तिबोध का समीक्षक कलाकृति के वस्तु-तत्व को, जो सारत: सामाजिक तत्व भी होता है - अपने विश्लेषण का प्राथमिक आधार बनाते हुए " रूप " को उस पर अवलम्बित मानता है । लेकिन इसके साथ ही मुक्तिबोध यह भी स्वीकारते है कि साहित्यिक रूप का निर्धारण एकमात्र वस्तु तत्व द्वारा ही नहीं होता । वस्तुत: वर्गीय चेतना, वर्गीय सौन्दर्याभिरुचि, भौतिक समृद्धि की दृष्टि से समाज का सांस्कृतिक स्तर, व्यक्तिगत परिवेश, अतीत के प्रति राग या विराग आदि का भी कृति के रूप निर्धारण में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योगदान अवश्य होता है ।

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि मुक्तिबोध कवि-कर्म या सम्पूर्ण काव्यव्यापार में " वस्तु " की भूमिका को प्राथमिक मानते हुए भी " रूप " पक्ष के महत्व का निषेध नहीं करते हैं । साहित्य में " रूप " के

महत्व को स्वीकारते हुए उन्होंने साफ लिखा है कि " यह तो कहने की बात है कि तत्व स्वयं अपना रूप ग्रहण करता है । सच बात तो यह है कि पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया में तत्व स्वयं (रूप में) बदलने लगता है । " मुक्तिबोध के चिंतन में " वस्तु " की अनिवार्यता के रूप में " फार्म " के स्वतंत्र विकास का आग्रह अत्यंत प्रबल है । वस्तुत: वे फार्म सम्बन्धी बने - बनाये पुराने साँचों का निषेध करते हुए " रूप " को " वस्तु " की अनिवार्यता के अनुसार स्वतंत्र रूप से विकसित होने देने के पक्षधर हैं । इस संदर्भ में शमशेर से अपनी भिन्नता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है कि " विभिन्न कवियों के लिए रूप तत्व की समस्या भिन्न-भिन्न है । जो समस्या मेरे लिए है वह शमशेर के लिए नहीं । काव्यतत्व केवल विषय ही नहीं, वह मनस्तत्व भी है । मनस्तत्व के स्वरूप की जिन विशेषताओं पर कवि जोर देना चाहता है, उन्हीं विशेषताओं के अनुरूप ही वह अपना अभिव्यक्ति-विन्यास गठित करेगा । " 60

डॉ॰रामविलास शर्मा के " वस्तु-रूप " विषयक चिंतन में किसी विशिष्ट वस्तु-तत्व के लिए एक विशेष प्रकार के " रूप " की आवश्यकता पर बल दिया गया है । प्रगतिवादी कविता के संदर्भ में " जनवादी फार्म " के सवाल को उठाते हुए डॉ॰शर्मा ने पुराने शिल्प का फार्म को प्रगतिशील रचना - शीलता के लिए अनुपयुक्त एवं अप्रासंगिक घोषित किया है । डॉ॰शर्मा की " जनवादी फार्म " सम्बन्धी मान्यता का विरोध करते हुए शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा है कि "प्रश्न का यह रूप एक बुनियादी गलतफहमी को प्रकट करता है । यानी मान्यता यह जान पड़ती है कि कुछ फार्म " जनवादी फार्म " हैं, जो पहले से ही बने-बनाये हमारे पास या हमारे सामने मौजूद हैं । कवि का काम यह है कि अपनी बात को, उन काव्य-प्रकारों (फार्मों) के माध्यम से व्यक्त करे । इस प्रकार की राय देना, काव्य-सर्जना की प्रकृति से एक हद तक अज्ञान या उसकी अवहेलना को प्रकट करता है । अव्वल तो

" फार्म " अपने अनुकूल एक खास मिजाज को ढूँढ़ता है और हर कवि या शायर का अपना मिजाज उस खास प्रकार को चुन लेता है ... फार्म का सवाल राजनैतिक पार्टियों द्वारा झण्डा बदल लेने का सवाल नहीं है, न एक कक्षा को छोड़कर दूसरी में प्रवेश लेने वाली कोई बात है। आप कह सकते हैं, कवि के लिए, एक अर्थ में, यह उसका " रूहानी मसला " है - उसकी आध्यात्मिक समस्या है। " [61]

डॉ॰ रमेश कुंतल मेघ ने " रूप " सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करते हुए " शैली " से अपनी बात शुरू की है, जो दो प्रकार की होती है - अलंकृत एवं अनलंकृत। उनका कहना है कि यदि स्वाभाविक विस्तार भी हो और अलंकृत शैली भी हो, तो, वह एक भव्य शैली होगी। इस संदर्भ में आगे वे लिखते हैं कि अनंत शैलियाँ विचारों और ध्वनियों के पैटर्नों का निर्माण भी करती आ रही हैं जो संवेगों का उद्दीपन करते हैं। ध्वनि-श्रेणी में ताल, तुक और समस्वरता आते हैं, विचार-श्रेणी में मूर्तिविधान और भाव। मूर्तिविधान इन्द्रियबोधों और इन्द्रियगुणकों के अलावा " नायक की इमेज " या " समाज की इमेज " तक खींच सकता है। इसी प्रकार भाव विचारों तक फैल सकते हैं। " रूप " के सम्बन्ध में डॉ॰ मेघ की मान्यता है कि यदि ध्वनियों और विचारों के पैटर्न आपस में मिला दिये जाते है तो हमें काव्य के भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं, जैसे क्लासिकल ओजस्वी काव्य, वैयक्तिक वेणु-गीति, महाकाव्य या भिन्न-भिन्न छंद। मानव विचारों एवं ध्वनियों के संवेगात्मक जागरण तथा विकास के साथ-साथ ही काव्य-रूप किन्हीं विशेष सामाजिक चेतना के युगों के अनुकूल उत्पन्न होते हैं। [62]

डॉ•निर्मला जैन ने अपनी पुस्तक " आधुनिक हिन्दी काव्य : रूप और संरचना " में सुप्रसिद्ध पश्चिमी साहित्यचिंतक डब्लू•पी•कार की पुस्तक " फार्म एण्ड स्टाइल इन पोएट्री " में किये गए " रूप " सम्बन्धी विवेचन का हवाला देते हुए लिखा है कि " काव्यकृति के " रूप " से तात्पर्य उस विधान या पद्धति से है जिसके माध्यम से कवि के विचार या अनुभव कविता का रूप ग्रहण करते हैं । रूप निर्माण की ये पद्धतियाँ विषय एवं आवश्यकता के अनुकूल भिन्न हो सकती हैं । उस पद्धति विशेष को ही हम कृति का " रूप " या " काव्य रूप " कहते हैं ।" इसी क्रम में आगे उन्होंने पुन: डब्लू पी•कार की रूप सम्बन्धी मान्यता से सहमति व्यक्त करते हुए लिखा है कि " कविता के संदर्भ में " रूप " का शायद सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है उसका छंद-विधान या बाहरी ढांचा । " 63

जाहिर है कि डॉ•निर्मला जैन की " रूप " विषयक अवधारणा पर कार के एतद्विषयक चिंतन का सीधा प्रभाव है । सच तो यह है कि निर्मला जी कार महोदय की रूप विषयक मान्यताओं से प्रभावित होने की जगह पूर्ण तदाकार की स्थिति में हैं । अत: स्वाभाविक रूप से उनकी स्थापनाओं में भी उसी स्थूलता के दर्शन होते हैं जो एक जमाने में अंग्रेजी साहित्य के समीक्षकों के चिंतन में परिव्याप्त थे । आज जबकि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र वस्तु और रूप के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए पूर्णअभिव्यक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया के क्रम में वस्तु-तत्व के स्वयं (रूप में) बदलने की बात करता है, तो, ऐसी स्थिति में " रूप " को कृति के केवल बाहरी ढांचा के अर्थ में ग्रहण करने की प्रासंगिकता पर स्वत: प्रश्नचिह्न लग जाता है ।

फिर भी, डॉ•जैन ने आगे अपने विवेचन-क्रम में विभिन्न काव्य-कृतियों में काव्य-रूपों के व्यावर्तन को लेकर जो मुद्दा उठाया है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है । " कामायनी " एवं " साकेत " का उदाहरण देते हुए उन्होंने ठीक ही

बताया है कि महाकाव्य होने पर भी विषय भेद एवं रचयिता के व्यक्तित्व भेद के कारण उनके काव्य-रूपों में पर्याप्त भेद है । उनके शब्दों में " इन दोनों रचनाओं का अपना विशिष्ट काव्यरूप उनमें पार्थक्य का विधान करता है और यही तत्व, जो विषय एवं अभिव्यंजना कला से भिन्न उनके बाह्य विधान में अंतर की स्थापना करता है, उनका काव्य-रूप है । " इसी प्रकार उन्होंने विद्यापति, सूर एवं मीरा के काव्य का " रूप " की दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि " विषय की दृष्टिसे कृष्णलीला की मधुरिमा से रससिक्त एवं गेय होने के कारण पद शैली में लिखे जाने के बावजूद इन तीनों कवि-त्रयी के पदों में केवल छंद विधान की दृष्टिसे ही विचारें तो परस्पर काफी वैषम्य दृष्टिगत होता है । वस्तुत: तीनों रचनाकारों के पदों का एक-दूसरे से पृथक एक नितांत निजी रूप है, जो उनमें अनेक समानताओं के होते हुए भी वैषम्य की सृष्टि करता है । " 64

डॉ॰जैन से पूरी तरह सहमत होते हुए भी इस संदर्भ में एक बात और कहना चाहूँगा कि किसी एक ही कवि द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों पर रचित काव्यकृतियों में भी रूप की दृष्टि से अवश्य भेद होगा भले ही वे कृतियाँ परम्परा से स्वीकृत किसी एक ही काव्य-रूप के अन्तर्गत क्यों न मानी जाती हों । उदा - हरण के लिए विद्यापति रचित संयोग श्रृंगार के पद तथा विरह की मार्मिकता को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले पद भी संरचनात्मक दृष्टि से भिन्न होंगे । इसी प्रकार दिनकर रचित " कुरुक्षेत्र " एवं " उर्वशी " जैसी काव्यकृतियाँ विषय भेद के कारण ही दो भिन्न काव्यरूपों की सृष्टि करती हैं जबकि उनकी रचना के क्रम में कवि हमेशा प्रबंधकाव्य सृजन का मोह पाले रहा । कुलमिलाकर इससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी कलाकृति के रूप निर्धारण में " वस्तु " की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण होती है ।

वस्तु और रूप का अन्त:सम्बन्ध :

अंर्स्ट फिशर ने अपनी पुस्तक " नेसेसिटी ऑव आर्ट " में वस्तु और रूप के अन्त:सम्बन्ध पर विचारते हुए खनिज-धातु वैज्ञानिक, जीवशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय विवेचनों से बड़े ही तर्कसंगत ढंग से इस बात को सिद्ध किया है कि वस्तु-तत्व पुराने रूप या ढांचे के अंदर रहकर भी निरंतर परिवर्तित होता रहता है। लेकिन जब उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है तो वह पुराने रूप को तोड़कर अपने अनुकूल नया रूप गढ़ लेता है। रूप की विशेषता यह होती है कि वह धीरे-धीरे बनता है, लेकिन निर्मित हो जाने के बाद काफी समय तक स्थिर रहता है और फिर वस्तु-तत्व में परिवर्तन के साथ ही पुन: संघर्ष आरंभ हो जाता है। फिशर के शब्दों में " जिसे हम रूप कहते हैं, वह भौतिक तत्व के एक विशिष्ट समूहन, एक विशिष्ट संयोजन, एक आपेक्षिक संतुलन की अवस्था है। वह आधारभूत संरक्षण तथा रूढ़िवादी प्रवृत्ति की, भौतिक परिस्थितियों के अस्थायी स्थायित्व की अभिव्यक्ति है। मगर अंतर्वस्तु लगातार बदलती रहती है, कभी वह बड़े नामालूम ढंग से बदलती है, तो कभी बड़ी तीव्र क्रिया के अंतर्गत बदलती है। वह रूप से जूझने लगती हैं। विस्फोट करके रूप को उड़ा देती है, और नये रूपों को जन्म देती है, जिनमें परिवर्तित अंतर्वस्तु कुछ समय के लिए एक बार फिर स्थायित्व पाती है। रूप किसी काल में उपलब्ध संतुलन की अवस्था की अभिव्यक्ति है। अंतर्वस्तु की अंतर्निहित विशेषताएँ हैं गति और परिवर्तन। इसलिए, हालांकि यह निश्चय ही एक सरलीकरण होगा, हम रूप को रूढ़िवादी और अंतर्वस्तु को क्रांतिकारी कहकर परिभाषित कर सकते हैं।"65

साहित्य की रचना-प्रक्रिया में नये (वस्तु) और पुराने (रूप) के बीच यह संघर्ष जाने-अनजाने लगातार जारी रहता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की मान्यता है कि साहित्य में यह संघर्ष हमेशा नये पुराने का न होकर अनेक बार दो विरोधी दृष्टियों से परिचालित दो कार्यों के बीच का संघर्ष भी हो

सकता है । उदाहरण के लिए हिन्दी कविता के इतिहास में द्विवेदीयुगीन काव्य धारा एवं छायावादी काव्यधारा को तो हम नये-पुराने (वस्तु - रूप) के बीच संघर्ष के रूप में देख सकते हैं परन्तु प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद या नयी कविता के संदर्भ में यह दो विरोधी दृष्टियों का संघर्ष ही सिद्ध होता है । इसी प्रकार " गोदान " एवं " कामायनी " का रचाकाल लगभग एक होते हुए भी इन कृतियों में प्रेमचन्द एवं प्रसाद द्वारा व्यक्त युगबोध एक ही युग के दो वर्गों का युगबोध है । इस परस्पर विरोधी युगबोध का मूल कारण केवल उपन्यास एवं महाकाव्य की रूपगत विशिष्टताओं एवं प्रकृति में निहित न होकर उन दो विरोधी मूल्य-दृष्टियों में निहित है जिनका आधार दो विपरीत वर्गीय मनोभूमि है । " 66

वस्तु और रूप के बीच घटित होने वाले नये-पुराने के इस संघर्ष के दरम्यान अनेक बार उनका परस्परविरोधी हो जाना अस्वाभाविक नहीं है । जब उनके बीच का यह विरोध बढ़ते-बढ़ते चरम संघर्ष की अवस्था में पहुँच जाता है तब रचनाकार को उस संघर्ष का हल ढूंढ़ना पड़ता है । इस संदर्भ में हिन्दी कविता से उदाहरण लेकर कहा जा सकता है कि जब भारतेन्दु अपनी स्वच्छंद प्रेम भावना की अभिव्यक्ति के लिए कवित्त और सवैया जैसे मध्यकालीन रूप का इस्तेमाल कर रहे थे तो वहाँ वस्तु और रूप के बीच एक विरोध की स्थिति थी । यह विरोध बढ़ते-बढ़ते जब छायावाद काल में संघर्ष की अवस्था में पहुँच गया तब छायावादी कवियों ने इन पुराने रूपों की जगह नये रूपों की सृष्टि करके उक्त संघर्ष का हल निकाला ।

कहना न होगा कि वस्तु और रूप के बीच यह विरोध धीरे-धीरे विकसित होता है । जब तक यह विरोध एक सीमा के अन्दर रहता है, किसी तरह दोनों का साथ चलता रहता है, पर जब यह सीमा का अतिक्रमण कर तीव्र रूप धारण कर लेता है, तो उसे सुलझा कर रचनाकार नयी वस्तु के अनुरूप नये रूपों की सृष्टि करता है । साहित्य के क्षेत्र में जितने भी सही आंदोलन

हुए हैं, सबमें विकासमान वस्तु ने पिछड़े हुए रूप को ध्वस्त कर अपने लिए उपयुक्त रूप का निर्माण या अन्वेषण किया है ।

वस्तु और रूप का अन्तः सम्बन्ध सरल न होकर अत्यंत जटिल होता है और यह जटिलता सबसे अधिक साहित्य के संदर्भ में दृष्टिगत होती है । साहित्य का इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि अनेक बार प्रातिभ रचनाकारों ने नयी वस्तु के लिए नये रूपों की सृष्टि करने के बजाय उसके लिए आधुनिक युग में रचनात्मक दृष्टि से लगभग संभावनाविहीन हो चुके कई पुराने रूपों का ही सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया है और प्रभावान्विति की दृष्टि से ऐसी रचनाएँ बेहद सशक्त रही हैं । उदाहरण के लिए नागार्जुन द्वारा रचित उन दोहे तथा रैदास के भजन " प्रभुजी तुम चंदन हम पानी " के प्रारूप पर रचित उन व्यंग्य कविताओं को देखा जा सकता है जिनकी वस्तु जनवादी भावनाओं से परिपूर्ण हैं । इसी प्रकार त्रिलोचन ने भी " सॉनेट " जैसे एक पुराने विदेशी रूप के माध्यम से अपने समय के तेजाबी यथार्थ को सफलता-पूर्वक चित्रित किया है ।

द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध:

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि साहित्य में वस्तु और रूप के बीच का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है । इसका प्रमाण यह है कि यदि अनेक बार कृति का वस्तु-तत्व उसके रूप-निर्धारण का कारण बनता है तो इसके विपरीत कई बार " रूप " अपनी प्रकृति के अनुसार वस्तु पर हावी होकर उसे अपने रंग में रंग लेता है । इसी प्रकार यदि रचनाकारों को वस्तु-रूप के बीच परस्पर विरोध की स्थिति के संघर्ष की अवस्था तक पहुँच जाने पर पुराने रूपों को ध्वस्त कर नयी वस्तु के अनुरूप नये रूपों की सृष्टि करनी पड़ती है तो इससे भिन्न साहित्य के इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण भी हमें प्राप्त होते हैं जबकि कवियों ने नयी वस्तु के लिए पुराने रूपों का ही सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया है ।

इस संदर्भ में अंतिम बात यह है कि साहित्य में वस्तु और रूप की परस्पर अभिन्नता को स्वीकारते हुए भी आँख मूँद कर यह मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी कि किसी कृति के रचना-क्रम में वस्तु-रूप अनिवार्यत: अनायास ही संयुक्त हो जाते हैं । वास्तविकता यह है कि साहित्य सृजन के दरम्यान रचनाकार को अत्यंत जागरूक होकर " वस्तु " को उसकी प्रकृति के अनुकूल रूप प्रदान करना होता है । कहना न होगा कि इसी जागरूकता के अभाव में अनेक महत्वपूर्ण कहे जाने वाले रचनाकारों की विभिन्न कृतियों में भी " वस्तु - रूप " के बीच दरार उत्पन्न हो जाया करती है और इस कारण वे कृतियाँ रचनात्मक दृष्टि से स्खलित होकर साहित्य-सृजन के क्षेत्र में अपनी कोई पहचान नहीं बना पातीं ।

संदर्भ

1. Marx : A contribution to the critique of political Economy, Preface, Page - 20.

2. ' Political, legal, Philosophical, religious, literary and artistic development rist on the economic. But they also react on each other and on on economic basé.
जार्ज लुकाच : " राइटर एण्ड क्रिटिक ", पृ. 64 पर उद्धृत एंगेल्स का पत्र

3. Marxism and literature, Page - 75.

4. वही, पृ. 79.

5. " क्योंकि समय एक शब्द है ", पृ. 34.

6. Illusion and reality, Page -12.

7. उपन्यास का सिद्धांत, पृ. 47-48.

8. वही, पृ. 84.

9. वही, पृ. 71.

10. उपन्यास और लोकजीवन, पृ. 32.

11. मार्क्स - एंगेल्स :कम्युनिस्टपार्टी का घोषणा पत्र, पृ. 60.

12. मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. 111.

13. वही, पृ. 109.

14. वही, पृ. 107.

15. ' The artist himself can hardly begin with a subject alone. If he did, his work would almost surely suffer from artificiality '.

John DEWEY : ' Art as Experience. P. 11

16. " रस सिद्धांत और सौन्दर्यशास्त्र " पृ. 280.

17. " आस्था और सौन्दर्य " पृ. 31.

18. आर्ट, पृ. 25.

19. रा.भा.पाटणकर : सौन्दर्य मीमांसा, पृ. 357.

20. He contends that art is ' Significant form ', but he does not give a precise acconut of what he means by significanee. The significance in question, it would appear, consists of the expression of artist's emotion, but the only emotion that bill considers legitimate in art - a peculiarly ' esthetic emotion ' - is aroused by the vision of significant form. ' -

Melvin M.Rader : A modern book of exthetics P.229-230.

21. The structure of Aesthetics. P. 341.

22. A Modern book of esthetics- P. 231.

23. वही, पृ. 231.

24. रेने वेलेक : आलोचना की धारणाएँ , पृ. 208

25. वही, पृ. 32.

26. वही, पृ. 33.

27. The search for the end of art is ridiculous, when it is understood of art as art. And since to fix an end is to choose, the theory that the content of art must be Mselected is another form of the same error. Benedetto croce : Aesthetic. P. 51.

28. आलोचना की धारणाएँ, पृ. 29

29.(a) ' The aesthetic fact is form and nothing but form ' Aesthetic. P. 16.

(b) ' The poet or painter who lacks form, lacks every thing .... the expression alone, that is to say the poet '. Ibid, P. 25.

30. The very fefusal of a poet to sacrifice what he means to a perfectly correct why me, for example, can more powerfully suggest the rhyme than correctness wold, For it reveals the struggle towards the poem, which because it has direction and movement, and indeed an expression of will, projects the idea of an ideal form towards which the poem is moving, reaching even MXbeyond the form itself '. Stephen spender : world within world. P. 313-14.

31. Victor Erlich : Russian Formalism . P. 64.

32. Ibid. P. 68.

33. ' What brought togerher the initial group of formalists was the desire to liberate the poetic word from the betters of philosophical and religious tendencies, which had achieved considerable prominence

in symbalism '. Russian Formalism', P. 71 - 72.

34. साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ, पृ. 83.

35. ' Art was always free of life and it's color never reflected the color of the flag which waved over the fortress of the city.' Victor sklovsk, xod konja (Moscow - Berlin, 1923) P. 39. Quoted on ' Russian Formalism '. P. 77.

36. ' To ineriminate the poet with ideas and feelings (expressed in his work) is just as absured as the behavior of the medieval public which beast up the actor who played Judas.'

Roman Jakobson. op.cit. P.P. 16 - 17. Quoted Ibid. P. 77.

37. ' The rise and development of literature are part of the total historical social proeess.'

Georg Lukacs : writer and critic, P. 63.

38. आलोचना की धारणाएँ, पृ. 34.
~~38.~~

39. Victor erlich : Russion Formalism, P. 63.

40. ' By ignoring the class warfare waged in the domain of literature, Sklovaskij admitted sadly, Formalism has indeed comitted a grave error, as this attitude tended to bring about the ' nutralization of certain sectors of the front. Likewisi, the formalist tendency to seperate the literary process from underlying social forves was an erroneous. Procedure even though it may have served for a while a useful purpose'. P. 136.

41. रेने वेलेक : आलोचना की धारणाएँ, पृ. 36.

42. जौन लियान्स : इंट्रोडक्शन टू द थ्योरेटिकल - लिंगाग्विस्टिक्स पृ॰ 219.

43. डॉ॰निर्मला जैन : " साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन " में संकलित(अनूदित)आलेख पृ॰ 124.

44. डॉ॰मैनेजर पाण्डेय : साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ॰ 44.

45. साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ, पृ॰ 96 पर उद्धृत

46. वही, पृ॰ 104.

47. मार्क्सिस्ट एस्थेटिक्स, पृ॰ 41.

48. राइटर एण्ड क्रिटिक, पृ॰ 64.

49. उपन्यास के सिद्धांत, पृ॰ 71.

50. M.KHRAPEHENKO : The writer creative individuality and the development of literature. P. 151.

51. Ronald Taylor : Aesthetics and Politics, P. 72. (XXBrecht against Lukacs).

52. ' Literature is not revolutionary because it is written for the working class or for ' the revalution ' Literature can be called revolutionary in a meaningful sense only with reference to itself, as content having become form '.

Herbest marcuse : The Aesthetic Dimension, (Preface)

53॰ रमेश उपाध्याय द्वारा पिमारि का " अंतर्वस्तु और रूप " शीर्षक अनूदित निंबध, साक्षात्कार, नवम्बर – दिसम्बर 1985, पृ॰ 125॰

54॰ कदम – 4, पृ॰ 28॰

55. ' The destruction of corporate and organicist ideology in the Political sphere has always been a central task for revoltutionaries : the destruction of such ideologies in the aesthetic region is essential not only for a scientific knowledge of the foundation on which the materialistic acsthetic and artistic practicep of the future cn be built.'
Terry Eaglton : ' Criticism and gdeology ' P. 161.

56॰ " पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परम्परा " में संकलित ल्यूनाचार्स्की का अनूदित निबंध, पृ॰ 150

57॰ डॉ॰नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ॰ 55

58॰ कामायनी एक पुनर्विचार, पृ॰ 18

59॰ नयी कविता का आत्संघर्ष, पृ॰ 93

60॰ मुक्तिबोध रचनावली, भाग – 5, पृ॰ 111॰

61॰ आलोचना 54–55, 1980, पृ॰ 58–59 पर अर्थात्–4 से लल्लन राय द्वारा उद्धृत

62. साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक, पृ. 277

63. आधुनिक हिन्दी काव्य : रूप और संरचना, पृ. 1

64. वही, पृ. 2 – 3.

65. अंर्स्ट फिशर का " अंतर्वस्तु और रूप " शीर्षक अनूदित निबंध, साक्षात्कार, नवम्बर – दिसम्बर 1985, पृ. 121.

66. नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 48.

-=-=-=-

अध्याय चार :

प्रगतिवादी कविता में वस्तु और
रूप का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध

प्रगतिशील काव्य में वस्तु और रूप

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रसंग में " रूप " अथवा " काव्य रूप " को " काव्य के प्रकार " के अर्थ में लिया गया है जिनमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गीत काव्य आदि शामिल हैं । परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ पारम्परिक चिंताधारा से प्रासंगिक तत्वों को ग्रहण करने के साथ ही पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की " रूप " विषयक अद्यतन अवधारणाओं के मेल से निर्मित और हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन-क्रम में उत्तरोत्तर विकसित होते हुए हिन्दी के समकालीन " मूल्यांकन शास्त्र " में आज " रूप " का मतलब कविता की अन्तर्वस्तु का सम्पूर्णत: प्रतिपादित विन्यास है । हिन्दी समीक्षा में " रूप " का इस अर्थ में प्रचलन आरंभ से नहीं रहा है । वस्तुत: हिन्दी के रचनाकारों एवं साहित्यचिंतकों के बीच साहित्य की रचना-प्रक्रिया की समझ जैसे-जैसे विकसित होती गई, वैसे-वैसे जीवन-स्थिति और रचना-स्थिति का परस्पर सत्यापन भी रचनाकार और ग्रहणकर्ता के बोध में घटित होने लगा । इसके परिणामस्वरूप विचारकों के बीच कालांतर में यह बात स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली गई कि कविता की सही पहचान उस द्विखंडात्मक (डिकोटमी) अवधारणा से असंभव है जिसमें अन्तर्वस्तु और रूप को विभाजित करके दोनों की पड़ताल अलग-अलग तरीकों से किये जाने का आग्रह प्रबल होता है । आज बीसवीं सदी के अंतिम चरण में हिन्दी-अक्षर-जगत के अग्रगामी परिवेश में सक्रिय भूमिका अदा करने वाले प्राय: तमाम प्रबुद्ध काव्य-विचारक इस बात पर लगभग एकमत हो चुके हैं कि कविता अपनी समूची निर्मिति की हैसियत में एक सक्षम सोद्देश्य भाषा की आविर्भूति होती है जिसमें वस्तु और रूप एकमेकता की

स्थिति में होते हैं । कहना न होगा कि इस एकमेकता से बाहर वस्तु और रूप को तलाशना, वस्तुतः कविता को अविभाज्यता पर हमला बोलना होगा और इससे काव्य का सही मूल्यांकन प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । आज वस्तुस्थिति यह है कि कविता को अविभाज्यता को नकार कर उसकी वस्तु और उसके रूप आदि के अलग-अलग विश्लेषण के नाम पर कुछ चर्वित चर्वण करते हुए अंत में एक निर्णयात्मक टिप्पणी से कविता की जय-जयकार अथवा अनेक बार उसकी सम्पूर्ण रचनात्मक क्षमता को ध्वस्त कर देने वाला छद्म द्वन्द्ववाद ﴾ सूडो-डायलेक्टिसिज्म ﴿ समकालीन कविता के मूल्यांकन के प्रसंग में वैज्ञानिक द्वन्द्ववाद के द्वारा लगभग विस्थापित किया जा चुका है । दूसरे शब्दों में कहें तो प्रगतिशील चेतना सम्पन्न समकालीन कविता के मूल्यांकन के प्रसंग में आज वस्तु-रूप से सम्बंधित उन तालिकाबद्ध सिद्धांतों की कोई कद्र नहीं है जिसका आधार द्विखण्डात्मकता की अवधारणा है । समकालीन हिन्दी कविता की मुख्यधारा प्रगतिशील एवं जनपक्षधर कविता है, जिसके रचनात्मक प्रवाह में सारी अप्रासंगिक प्रविधियाँ अपने-अपने रूप-विवेचन के प्रतिमानों के साथ सृजनात्मक ग्रहणशीलता से बाहर हो चुकी हैं । सच तो यह है कि प्रगतिशील कवियों द्वारा रचित अधिकांश कविताएँ आरंभ से ही आचार्यों और सिद्धांतकारों और प्रवर्तकों के विचार-सम्प्रदायों की वाहिका नहीं रही हैं और आज तो वे लक्षणकारों द्वारा सुरक्षित निकायों के जंगल से बिलकुल बाहर आकर सीधे-सीधे जनता के गत्वर जीवन से जुड़ने लगी हैं । नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा के ऐसे ही कवि हैं जिनकी रचनाशीलता जीवन्त मानवीयता के गत्वर जन-साहचर्य में सक्रिय है ।

नागार्जुन काव्य का रूपविधान :-

डॉ॰नामवर सिंह ने लिखा है कि " नागार्जुन की गिनती न तो प्रयोगशील कवियों के संदर्भ में होती है न नयी कविता के प्रसंग में, फिर भी कविता में रूप सम्बन्धी जितने प्रयोग अकेले नागार्जुन ने किये हैं, उतने शायद ही किसी ने किये हों । कविता की उठान तो कोई नागार्जुन से सीखे और नाटकीयता में तो वे जैसे लाजवाब ही हैं । जैसी सिद्धि छंदों में वैसा ही अधिकार बेछंद या मुक्तछंद की कविता पर । उनके बात करने के हजार ढंग हैं । और भाषा में भी बोली के ठेठ शब्दों से लेकर संस्कृत की संस्कारी पदावली तक इतने स्तर हैं कि कोई भी अभिभूत हो सकता है । तुलसीदास और निराला के बाद कविता में हिन्दी भाषा की विविधता और समृद्धि का ऐसा सर्जनात्मक संयोग नागार्जुन में ही दिखाई पड़ता है । वैसे, नागार्जुन में ऊबड़-खाबड़पन भी कम नहीं है x x x किन्तु भाव स्थिर होने और सुर सध जाने पर ऐसी ढली-ढलाई कविता निकली है कि बड़े-से-बड़े कवि को भी ईर्ष्या हो । " [1]

यदि हम नामवर जी के उपर्युक्त मंतव्य के आलोक में नागार्जुन - काव्य पर विचारें तो स्पष्ट ही वहाँ हमें ऊबड़-खाबड़पन से ग्रस्त कविताओं के साथ-साथ अनेकानेक ऐसी कविताएँ भी मिलेंगी जिनका कलात्मक विन्यास अत्यंत सुसंगठित है । जाहिर है कि जब कोई रचनाकार " काव्य - वस्तु " की नैसर्गिक आकांक्षा के अनुरूप उसे " रूप " प्रदान नहीं कर पाता है तब कविता में कलात्मक विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। इसके विपरीत जब वह सजग होकर " काव्य-वस्तु " को उसके स्वाभाविक " रूप " में तत्वांतरित कर देता है, तो, उत्कृष्ट कला की सृष्टि होती है । नागार्जुन-काव्य में हमें दोनों ही स्थितियाँ दृष्टिगत होती हैं।

वस्तु-रूप सम्बन्धों का अन्यथाकरण :-

ऐसे तो नागार्जुन अपने समय के सामाजिक यथार्थ एवं उसके अन्त - र्विरोधों को गहराई से परखकर उसे रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कवि हैं । किन्तु अनेक बार जब वे सामाजिक यथार्थ को काव्यात्मक यथार्थ में रूपांतरित किये बिना उसे सीधे-सपाट ढंग से व्यक्त करने लग जाते हैं, तो, उनकी ऐसी कविताएँ काव्यात्मक संघटन की दृष्टि से विशृंखलित होकर अपनी रचनात्मक उर्जा खो देती हैं । विभिन्न जनान्दोलनों से जुड़ना जहाँ नागार्जुन के कवि के लिए बहुत हद तक स्फूर्तिदायक एवं फलप्रद रहा है वहीं एक हद इससे उनकी अनेकानेक कविताओं का कलात्मक विन्यास भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है । यह गड़बड़ी तब और अधिक होती है जब नागार्जुन विभिन्न राजनेताओं अथवा छोटी-बड़ी समसामयिक घटनाओं को विषयवस्तु बनाकर काव्य-रचना करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते । इस क्रम में कई बार उनका अत्यंत आवेगशील मन भी कविताओं के रचनात्मक स्खलन का कारण बनता है, विशेषत: तब जबकि वे किसी घटना अथवा व्यक्ति के अन्तर्विरोधों को द्वन्द्वात्मक तरीके से समझे बिना अपने अनुभूत विचारद्रव्य को सही-सही काव्यात्मक परिणति तक पहुँचाने के बजाय जनकवि होने की पूरी छूट लेते हुए रचना-प्रक्रिया के बीच में ही और अनेक बार तो प्रथम चरण में ही उसे जैसे-तैसे अभिव्यक्त करने लग जाते हैं। उदाहरण के लिए उनकी एक कविता की चंद पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं --

" प्रेसिडेंट के इस चुनाव को भूल न जाओ,
आओ, आओ ।

x x x x

नहीं चलेगी अगड़म् बगड़म्
नहीं चलेगी पाँच सवारों का यह तिकड़म
नहीं चलेगा चंड-मुंड का झगड़ा-झगड़म्
विफल रहा है सिंडिकेट का रगड़ा-रगड़म्
महिषमर्दिनी का त्रिशूल है तगड़ा-तगड़म्

x x x x

गिरि बाबा की करो आरती, जय बुलवाओ !!
रेड्डी जैसे छिपे घाघ को सबक सिखाओ !! - 2

इस कविता में सन् 1969 में भारतीय राष्ट्रपति पद के लिए हुए चुनाव के क्रम में कांग्रेस पार्टी के दो गुटों के बीच के मतभेद को विषयवस्तु बनाकर कवि ने जो कुछ लिखा है वह कविता कम और नारेबाजी अधिक है । इस रचना से गुजरते हुए ऐसा लगता है मानों कवि काव्य-रचना के बहाने एक पक्ष के लिए चुनाव प्रचार कर रहा हो ।

नागार्जुन काव्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ कवि निहायत तात्कालिक घटनाओं एवं छोटे-मोटे राजनेताओं को रचना की विषयवस्तु के रूप में स्वीकारा है । स्पष्ट कहूँ तो कवित्व के अभाव के कारण ऐसी रचनाओं की एकमात्र नियति है अकाल कवलित हो जाना । जहाँ तक इन कविताओं में वस्तु और रूप के परस्पर अन्त:सम्बन्ध का प्रश्न है, मेरी समझ से उनकी ऐसी कविताएँ अन्यथाकृत वस्तु-रूप रचना का ही उदाहरण हैं । उदाहरणार्थ मोरारजी देसाई एवं बिंदेश्वरी प्रसाद मंडल को लक्ष्य कर लिखित उनकी कविताओं की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं --

1· बेटा कैसा है बाप भी, भाई मोरार जी !
ख मारता है पाप भी, भाई मोरार जी ! [3]

2· वाह भई, मंडल !
वाह भई, विरोधाभासों का बंडल !
वाह भई, बिहारी कालनेमि का कमंडल । [4]

सच तो यह है कि नागार्जुन की ऐसी कविताओं में " वस्तु " के " रूप " में तत्वांतरण की बात तो दूर, इनमें काव्य के विषय का काव्य - वस्तु में रूपांतरण तक नहीं हुआ है जो किसी सफल रचना के लिए आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य है । वस्तुत: " विषय " के " वस्तु " में रूपांतरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध रचना प्रक्रिया से है, जिससे गुजरे बिना केवल " विषय " को ही लेकर लिखित कविताओं में स्वाभाविकता की जगह कृत्रिमता की ही संभावना अधिक रहती है । अत: हम कह सकते हैं कि जहाँ कहीं भी नागार्जुन ने संयम से काम नहीं लिया है वहाँ रचना - प्रक्रिया बाधित हुई है और इसके कुपरिणाम से उनकी रचनाशीलता भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी है । नागार्जुन-काव्य के संदर्भ में इसी तथ्य को दूसरे ढंग से बयान करते हुए शमशेर ने लिखा है - " उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शिल्प मैं ने उसके यहाँ देखा है । बेशक, छोड़ा शिल्प भी । पर उनकी ऐसी कविताओं को एकदम अलगाना किंचित भी कठिन नहीं जो किसी वक्ती काम के लिए रवा-रवी में लिख दी गई हैं । " [5]

किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि पूरा का पूरा नागार्जुन-काव्य अन्यथाकृत वस्तु-रूप-रचना का ही नमूना मात्र है । नागार्जुन के यहाँ ऐसी कविताएँ भी अनगिनत हैं जहाँ रचनाकार का काव्य-कौशल कविता के बड़े-से-बड़े महारथियों के लिए स्पर्धा का विषय बन सकता है । इस काव्य-

कौशल के अलावा नागार्जुन में अपने समय के यथार्थ को सही-सही परखने को जो अद्भुत दृष्टि है उसके कारण ही आज हिन्दी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण समीक्षकों ने उन्हें एक स्वर से समकालीन प्रगतिशील काव्यधारा के एक प्रतिनिधि जनकवि के रूप में उल्लेख्य माना है ।

स्वगत में मुक्त संवाद का फार्म :-

नागार्जुन-काव्य के रूप विधान पर विचार करते हुए राजेश जोशी ने ठीक ही लिखा है कि " नागार्जुन ने इतने छंद, इतने ढंग, इतनी शैलियों और रूपविधानों का उपयोग किया है कि उनकी केन्द्रीय प्रवृत्ति, उसके " की-होल " को तलाशना बहुत उलझन भरा काम है । लेकिन उनके शिल्प की कुछ खूबियों में ताक झांक करना हमारे लिए मूल्यवान हो सकता है । उनकी अभिव्यक्ति का ढंग तिर्यक भी है और कहीं बेहद ठेठ और सीधा भी । रूप के स्तर पर उनमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है । घुमक्कड़ी ने जहाँ उनके अस्तित्व को अधिक सामाजिक सक्रियता दी है वहीं उसमें तिक्तता और अकेलेपन के तीखे अहसास भी हैं । " राजेश जोशी की मान्यता है कि सामाजिक सक्रियता एवं अकेलेपन के तीक्ष्ण अहसास के कारण जो द्वैत उत्पन्न हुआ है उससे नागार्जुन की रचना का एक प्रमुख रूपविधान विकसित हुआ है और वह है - " स्वगत के फार्म में मुक्त बातचीत का फार्म । " यह एक ऐसी मुक्त बातचीत है जो स्वगत के ढंग में है । दूसरे शब्दों में कहें तो यह ऐसा स्वागत है जो दूसरों के साथ बातचीत की तरह है । इस शिल्प का इस्तेमाल ज्यादातर उनकी गद्य कविताओं में हुआ है जिनमें गद्य की लय का उठान काव्यलय तक होता है । और इसके विपरीत कई बार वहाँ काव्य लय की परिणति ठेठ गद्य के रूप में भी दृष्टिगत होती है । इस फार्म में नागार्जुन ने अपनी विवरण कला और बातूनीपन का खास

किस्म से उपयोग किया है , जो विशेष रूप से उत्तर भारत और पूर्वांचल के लोगों के बातूनीपन की तरह है । इसके अन्तर्गत वे गप्प मारने, हँसने-हँसाने, ठिठोली करने, यहाँ तक कि " शरारत " और " आब्सिनिटी " तक का बेहद सतर्क उपयोग करते हैं । इस रूपविधान के खुलेपन का भरपूर उपयोग उन्होंने किया है और भरपूर स्वतंत्रताएँ भी लीं है । राजेश जोशी के अनुसार नागार्जुन की इस रूपगत विशेषता में कर्ण जैसी आक्रामकता एवं उदारता दोनो ही है । उसमें घुमक्कड़ो जैसी मुक्तता भी है और गति भी । इस फार्म में वे चेतन और अवचेतन दोनों के अन्तर तल तक पैठते हैं । ऊपरी तौर पर वे ऐसी लापरवाही का एहसास रचते हैं जैसे उन्हें अपने " रूपक " की ज्यादा परवाह न हो । पर ऐसा है नहीं । [6]

यदि हम राजेश जोशी द्वारा सुविचारित नागार्जुन के " स्वगत में मुक्त संवाद " जैसे फार्म पर विचारें तो वहाँ हमें इनको उदाहृत करने वाली ऐसी अनेकानेक कविताएँ मिलती हैं जिनका उपयोग कवि ने अक्सर अत्यत आत्मिक स्तर पर किया है । उदाहरण के लिए उनकी एक छोटी कविता लें --

" रहा उनके बीच मैं ।
था पतित मैं, नीच मैं
दूर जाकर गिरा, बेबस उड़ा पतझड़ में
धँस गया आकंठ कीचड़ में
सड़ी लाशें मिलीं
उनके मध्य लेटा रहा आँखें मींच, मैं
उठा भी तो झाड़ आया नुक्कड़ों पर स्पीच मैं
रहा उनके बीच मैं ।
था पतित मैं, नीच मैं !! " [7]

इस कविता की व्याख्या करते हुए राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने लिखा है कि " इस रचना में यथार्थ का प्रतिबिम्बन नहीं, पारदर्शी सम्प्रेषण (ट्रांसपैरेन्ट कम्युनिकेशन) है । यहाँ जिनके बीच रहा जा चुका है उनके बीच गुजरे व्यतीत में भोक्ता की उपस्थिति का स्वीकार है । x x x कि कैसे भोक्ता अपनी जमीन से और जड़ों शाखाओं से भी पतझाड़ में उड़े बेबस पत्ते-सा दूर जा पड़ा था, शायद अंधेर में (शायद विचारधारा - हीन आंदोलन में) ; जो विचलन था, अत: व्यक्तित्व में गिरावट भी आई । विचारधारात्मक, दीर्घ मुक्ति-संघर्ष करते श्रमिक वर्ग की दृष्टि में यही पतित-नीच होना था x x x यह उस विचलन-भटकाव से छुटकारा लेकर लौटे व्यक्ति का आत्मस्वीकार है x x x कि वह गिरा जहाँ, वहीं " आकंठ कीचड़ में " (बदनीयत भरी संकीर्णताओं में) धँस गया । किनके बीच, - का उत्तर है कि वहां सामाजिक न्याय के लिए लड़ाकू और जीवंत इंसान नहीं मिले, स्वार्थचक्र और अवसरवाद को उगाहती जिनकी इन्सानियत मर चुकी थी, वे - " सड़ी लाशें मिली ", - जिनके " मध्य लेटा रहा " वह जिन्दा इन्सान, - इस विचलन, इस सड़ांध भरे अनुभव और इस अप्रत्याशित वस्तुस्थिति को आँखें मींच झेलता रहा । x x x आखिरी मुहावरे के इस्तेमाल में कविता के प्रथम पुरुष ने अपना ही मजाक उड़ाकर नुक्कड़ सभाओं की तत्सम्बन्धित भाषण-माला का खोखलापन भी संकेतित किया है । यथार्थ-भोग का परिदृश्य स्मृति में या स्वैच्छिक परिकल्पना में ही रुका रहता है, पारदर्शित साक्षात्कार में निरन्तरता सक्रियता के आवेग में चलायमान रहता है । ऐसी पारदर्शिता के द्वारा, प्रतिपाद्य अनुभव का साक्षात्कार करती-कराती रचना-प्रक्रिया में चूँकि सूक्ष्मत: वस्तुनिष्ठता और स्वनिष्ठता का द्वन्द्व होता है ; इसलिए अन्तर्वस्तु और रूप-तत्व का सम्बन्ध ऐतिहासिक परिघटना के बाहर नहीं, भीतर ही आत्मालोचन का सम्बन्ध होता है । " 8

नागार्जुन-काव्य के रूपविधान के संदर्भ में " स्वगत में मुक्त संवाद " के फार्म की जो बात पहले की जा चुकी है, उसका एक बेहतर उदाहरण उनकी " नेवला " शीर्षक कविता है । आपातकाल के दरम्यान जेल में रचित इस लम्बी कविता में कहीं प्रतिहिंसा का भाव है तो कहीं गहन मानवीय उल्लास भी व्यक्त हुआ है । जेल के ऊब भरे जीवन में माँस के टुकड़े के लिए नेवले का बार-बार छलांग लगाना और गुस्से में किर्र ... किर्र ... किर्र चीखना भी एक सहज मानवीय प्रभाव पैदा करता है --

" कौन नहीं लाड़ लड़ाना चाहता है इससे ?

x x x x x

लम्बू, नगरा, मोतिया, दुलरूआ --
जाने कितने नाम मिल गये हैं इसे ।
- हम सारे ही बंदियों का
बड़ा ही लाड़ला खिलौना है यह तरुण नेवला

x x x x x

ताजा गोश्त का लाल टुकड़ा
मजबूत सुतरी के छोर में बँधा है

x x x x

मोतिया बार-बार छलांग लगा रहा है
लपक रहा है बार-बार गोश्त के टुकड़े की ओर
पूरी ताकत लगाकर उछल रहा है
गुस्से में चीख रहा है ... किर्र ... किर्र .. किर्र ।"[9]

वस्तुत: कवि इस रचना में " स्वगत में मुक्त संवाद " के फार्म का इस्तेमाल अत्यंत आत्मिक स्तर पर किया है। फलत: इस फार्म में रचित उनकी दूसरी कविताओं की ही तरह यहां भी आत्मकथ्य के हिस्से एकाधिक बार आए हैं। इसके अलावा एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नागार्जुन जब ऐसी कविताओं उपरिकथित फार्म का इस्तेमाल करते हैं तब अनेक बार यदि वहाँ गद्य की लय का उठान काव्य लय तक होता है, तो, इसके साथ ही काव्य लय ठेठ गद्य लय में परिणत हो जाती है। उदाहरण के लिए उनकी नेवला, जोड़ा मंदिर एवं प्रेत का बयान जैसी कविताओं में यदि काव्यलय ठेठ गद्य लय में परिणत हो गई है तो इसके विपरीत " मन करता है " या " भुस का पुतला " जैसी कविताओं में गद्य की लय का उठान काव्य लय तक हुआ है। " भुस का पुतला " की आरंभिक पंक्तियों से गुजरते हुए उनमें काव्यात्मकता की जगह गद्यात्मक विवरणात्मकता की प्रवृत्ति ही पहले-पहल दृष्टिगत होती है ---

" फैला कर टांग
उठा कर बाहें
अकड़ कर खड़ा है भुस भरा पुतला
कर रहा है निगरानी
ककड़ी-तरबूज की
खीरा-खरबूज की
सो रहा होगा अपाहिज मालिक घर में निश्चिंत हो। " 10

किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि इस कविता की रचनात्मक प्रकृति एवं उद्देश्य दोनों ही " पका है यह कटहल " जैसी विवरणात्मक एवं भावो - च्छ्वासजन्य कविताओं से नितांत भिन्न है । रचनात्मक प्रकृति एवं उद्देश्य की यह भिन्नता सर्वप्रथम रचनाकार द्वारा विषय चयन एवं बाद में इस " विषय " के " वस्तु " में रूपांतरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है । फलतः आगे चलकर इस कविता का रूपविधान गद्यलय को छोड़कर काव्य लय के समीप आ जाता है । वस्तुतः नागार्जुन यहाँ जो कहना चाहते हैं उसके लिए काव्य लय को अपनाना उनकी बाध्यता है अन्यथा वस्तु की प्रकृति के अनुकूल " रूप " नहीं अपनाने से (गद्य की लय में ही कविता समाप्त कर देने से) रचना का वह विशेष प्रभाव पाठक तक सम्प्रेषित नहीं हो सकता जो कवि का अभिप्रेत है । कविता के अंतिम चरण में हमें इस " भुस के पुतले का वास्तविक परिचय मिलता है --

" स्वर्ग था ऊपर, नीचे था पाताल
अपच के मारे बुरा था हाल
दिल-दिमाग भुसे के, खद्दर की थी खाल । " 11

इन कविताओं के अलावा नागार्जुन ने अनेकानेक ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें व्याकरण के हिसाब से गद्य और पद्य का भेद मिट जाने के बावजूद कविता का अस्तित्व उसके अर्थ-संदर्भों के कारण बना रहता है । डॉ॰ विजय बहादुर सिंह के शब्दों में " ये अर्थ संदर्भ ही उसे गद्य से अलगाते हैं, जहाँ भाषा में प्रत्यक्ष विचार कथन की जगह बिम्बात्मक कथन सामने आता है । " 12 उदाहरण के लिए उनकी " सत्य " शीर्षक कविता की चंद पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं ---

" सत्य को लकवा मार गया है

x x x x

गले से ऊपर वाली मशीनरी पूरी तरह बेकार हो गयी है
सोचना बंद
समझना बंद
याद करना बंद
दिमाग की रगों में जरा भी हरकत नहीं होती
और अंदर डालकर खबरों को झटका देना पड़ता है
तब जाकर खाना गले के अन्दर उतरता है
ऊपर वाली मशीनरी पूरी तरह बेकार हो गयी है
सत्य को लकवा मार गया है । " 13

वर्तुलाकार लय :-

राजेश जोशी ने ठीक ही लिखा है कि " नागार्जुन कई बार एक पद या अर्धाली की आवृत्ति से एक किस्म की वर्तुलाकार लय निर्मित करते हैं जो पहले बाहर की ओर फैलते आवर्त्त बनाती है और बाद में अपने केन्द्र की ओर लौटते आवर्त्त । " 14 श्री जोशी के इस वक्तव्य को नागार्जुन की " अकाल और उसके बाद " शीर्षक कविता सम्पूर्णता के साथ उदाहृत करती है --

" कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त ।

दाने आये घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद । " 15

इस कविता के " रूप " की निर्मिति केन्द्राभगामी एवं केन्द्रा - भिगामी रचनात्मक शिल्पों को मिलाकर संभव हो सकी है । कविता के पहले एवं दूसरे हिस्से के बीच " कई दिनों " की आवृत्ति से एक स्वाभाविक अन्तर्बन्ध पैदा हो गया है जिसे हम इसके रूप बंध का केन्द्रीय बिन्दु मान सकते हैं । ऐसे नागार्जुन की कविता में केन्द्रीय नाभीय बिन्दु या तो अदृश्य होता है या नदारत । उसमें परत-दर-परत कई परतें हो सकती हैं । उसमें आवर्त्त-दर-आवर्त्त बाहर की ओर फैलते या बाहर से भीतर की ओर सिमटते आवत्त हो सकते हैं । पर एक बिन्दु पर खड़े होकर बाहर फैलने या बाहर की तमाम चीजों को उस बिन्दु पर समेटने वाली स्थिति वहाँ तकरीबन नहीं है । " कई दिनों के बाद " की आवृत्ति जहाँ अकाल की भयावहता को उजागर करती है वहीं वह इसे घटना से बाहर लाकर निरंतर और देश के विभिन्न हिस्सों में घटित हो रही प्रक्रिया में बदल देती है । परस्पर एक दूसरे से मुठभेड़ करते स्वरों के बीच ही एक बहुत छोटा-सा शब्दान्तराल भी है जो शब्द संघात से पैदा हुए संगीत से ऊपरी तौर पर ढँक-सा जाता है । 16

नागार्जुन ने " आकल और उसके बाद " जैसी कविताओं से रूपविधान की दृष्टि से भिन्न कई ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें किसी पद या अर्धाली की आवृत्ति से वर्तुलाकार लय तो निर्मित हुई है परन्तु बाहर की ओर एक बार प्रसरित होकर पुन: केन्द्र की ओर लौटने के बजाय उनमें रचना-यात्रा सीधे बाहर से भीतर की ही ओर सम्पन्न हुई है । उदाहरण के लिए उनकी एक कविता देखी जा सकती है, जिसमें क्रमश: पाँच की संख्या से उतरते हुए शून्य तक पहुँचा गया है --

" पाँच पूत भारतमाता के, दुश्मन था खूँखार
गोली खाकर एक मर गया, बाकी रह गये चार
चार पूत भारतमाता के, चारो चतुर - प्रवीन
देश निकाला मिला एक को, बाकी रह गये तीन
तीन पूत भारतमाता के, लड़ने लग गए वो
अलग हो गया उधर एक, अब बाकी बच गये दो
दो बेटे भारतमाता के, छोड़ पुरानी टेक
चिपक गया है एक गद्दी से, बाकी बच गया एक
एक पूत भारतमाता का, कंधे पर है झंडा
पुलिस पकड़ कर जेल ले गयी, बाकी बच गया अंडा । " 17

इस कविता में विदेशी शासन के आतंक से ग्रसित भारतवर्ष की राजनीतिक अवस्था से आरंभ कर कवि ने स्वदेशी शासन के आंतक से ग्रस्त मौजूदा स्थिति तक का बड़ा ही सहज एवं काव्यात्मक चित्रण किया है । यहाँ देश की आजादी के लिए शहादत का सेहरा पहनने वाले लोगों (गोली खाकर एक मर गया), क्रांतिकारियों के निर्वासन (देश निकाला मिला एक को), देश-विभाजन (अलग हो गया उधर एक), कांग्रेसी नेताओं

की सत्ता लोलुपता (चिपके गया है एक गद्दी से) तथा अंत में प्रगतिशील - जनवादी उभार को नेतृत्व प्रदान करने वाले लोगों पर स्वदेशी शासन के आंतक आदि को जैसी काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है वह सरल - सहज होते हुए भी सपाट नहीं है। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो नागार्जुन के कवि ने यहाँ अपनी सामाजिक सदस्यता पर टिके विवेक की समकालीनता के फलस्वरूप ही वस्तु-रूप के एकत्व में जीवंत और गत्वर एक कविता की सृष्टि की है जो अपने बोध में समकालीन से भी आगे अद्यतन समकालीन है। जाहिर है कि उनकी ऐसी कविताओं में वस्तु-रूप द्वन्द्व भी समकालीन परिबोधों के अद्यतन स्तर पर घटित हुआ है।

नागार्जुन की " चन्दू मैं ने सपना देखा " जैसी कविता भी " वस्तु-रूप " के एकत्व में जीवंत और गत्वर कविता का एक बेहतरीन उदाहरण है। रूपविधान की दृष्टि से यहाँ भी कवि ने एक अर्धाली की आवृत्ति के द्वारा एक वर्तुलाकार लय का निर्माण किया है --

" चन्दू मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चन्दू मैंने सपना देखा, भभुआ से हूँ पटना लौटा
चन्दू मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजते बद्री बाबू
चन्दू मैंने सपना देखा, खेल-कूद में हो बेकाबू

x x x x x

चन्दू मैंने सपना देखा, इम्तहान में बैठे हो तुम
चन्दू मैंने सपना देखा, पुलिस भान में बैठे हो तुम
चन्दू मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चन्दू मैंने सपना देखा, लाये हो तुम नया कलेण्डर। " 18

इस कविता में रचनाकार ने स्वप्न में जिस चन्दू को " पुलिस भान " में बैठा हुआ देखा है वह और कोई नहीं, बल्कि भारतमाता का वही " पाँचवा पूत " है जो स्वदेशी शासन के आतंक के साये में जीने को अभिशप्त है। किन्तु कवि को यह आशा है कि आज-न-कल यह आतंक भी समाप्त होगा तथा आगे आने वाला नया समय जनवादी ताकतों द्वारा परिचालित होगा। इस कविता में चन्दू द्वारा नया कलेण्डर लाया जाना इसी ओर संकेत करता है।

वक्ररेखीय छंदगत संगीत :-

नागार्जुन की कविताओं में छंदगत संगीत एक सामान्य जीवन जीने वाले रचनाकार की कविताओं की तरह समतल और सरल रेखिक होने के बजाय वक्ररेखीय है। वस्तुत: उनकी कविताओं की शिल्पगत बुनावट को उनकी जीवन शैली से अलगाकर नहीं देखा जा सकता। नागार्जुन के जीवन-क्रम की तरह ही उनके काव्य के रूपविधान में भी अत्यधिक उतार-चढ़ाव है। वे आरंभ से ही अनेकानेक जनान्दोलनों से जुड़े रहे हैं। इसलिए वैसे समय में स्वर के परस्पर संघात से आगे की ओर बढ़ती उनकी कविता की लय भी तीव्र से तीव्रतर होती चली गयी है। ऐसी कविताओं में प्रयुक्त शब्दों के परस्पर संघात में हमें उनके रचनाकाल में चलाये जा रहे जनान्दोलन और दमन की मुठभेड़ का स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ता है। उदाहरण के लिए बिहार प्रांत के पूर्णिया शहर में हुए छात्र-आन्दोलन को लेकर रचित उनकी एक कविता की चंद पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं --

" बस सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात
लगता था, जन-जन को
हृदय गति मंद थी
तीन दिन, तीन रात

x x x x

विकल थी हकूमत
चिंतित थे अधिकारी
तीन दिन, तीन रात
पूर्णिया टाउन में
कर्फ्यू था जारी
तीन दिन, तीन रात "[19]

नयी वस्तु एवं पुराना रूप :-

साहित्य के " रूप " पक्ष पर विचारते हुए विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि " रूप " की तुलना में " अन्तर्वस्तु " प्राय: ज्यादा परिवर्तन - शील होती है और " अन्तर्वस्तु " की तुलना में " रूप " में बदलाव बहुत धीमी गति से होता है । इसी कारण रचना में वस्तु और रूप के बीच प्राय: एक विरोध की स्थिति पैदा हो जाया करती है । जब यह विरोध बढ़ते - बढ़ते चरम संघर्ष की अवस्था में पहुँच जाता है तो रचनाकार पुराने रूपों को ध्वस्त कर नयी वस्तु के अनुकूल नये रूपों की सृष्टि करके इस संघर्ष का निदान

करता है । लेकिन साहित्य में हमें ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि प्रातिभ रचनाकारों ने नयी अन्तर्वस्तु को भी कुशलतापूर्वक पुराने रूपों में ढालकर अभिव्यक्त किया है ।

यदि उपर्युक्त तथ्य पर हम हिन्दी कविता के संदर्भ में विचारें तो स्पष्ट होगा कि नागार्जुन द्वारा अपने समय की यथार्थजन्य नवीन अन्तर्वस्तु के लिए " दोहा " जैसे पुराने " रूप " का इस्तेमाल कितनी सफलता के साथ किया गया है, जबकि इस रूप की तमाम रचनात्मक संभावनाएँ मध्ययुग के अवसान के साथ ही लगभग समाप्त सी हो गई थीं । उदाहरण के लिए कवि द्वारा " शासन की बन्दूक " शीर्षक से रचित कुछ दोहे देखे जा सकते हैं जिनमें व्यंग्य का स्वर बिलकुल बदला हुआ है और नागार्जुन की चिर परिचित परिहास वृत्ति की जगह स्नेहाकुल करुणा ही वक्रोक्ति बन गयी है --

खड़ी हो गयी चाँप कर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बन्दूक

x x x x

जली ठूँठ पर बैठकर गयी कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बन्दूक । " 20

कहना न होगा कि नागार्जुन की चेतना अदृश्य सूत्रों से जनता की विराट देह से जुड़ी है। इसलिए वे जनता पर यहाँ-वहाँ दगती शासन की बन्दूकों को बहुवचन में उपयोग न कर, सबको जोड़कर " नभ में विपुल विराट की शासन की बन्दूक " में बदल देते हैं। डॉ॰रामविलास शर्मा के शब्दों में " ठूँठ जल गया है लेकिन उस पर भी कोयल बैठकर कूक जाती है। " बाल न बाँका कर सके " का परिचित मुहावरा पूरी हेकड़ी से बन्दूक को अंगूठा दिखाता है। " 21

इसी प्रकार नागार्जुन जब जनता की शक्ति में अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करते हुए " अन्न पचीसी के दोहे " में साफ लिखते हैं --

" कबिरा खड़ा बजार में, लिया लुकाठी हाथ
बन्दा क्या घबरायेगा, जनता देगी साथ
छीन सके तो छीन ले, लूट सके तो लूट
मिल सकती कैसे भला, अन्नचोर को छूट " 22

तो उनके रचना-कौशल का लोहा मानने के लिए हम बाध्य हो जाते हैं। वस्तुत: कवि ने अपने समय के सामाजिक-राजनीतिक तापमान को आत्मसातीकरण से निर्मित क्रांतिकारी अन्तर्वस्तु को " दोहा " जैसे पुराने काव्य-रूप में जिस कौशल के साथ विन्यस्त किया है उससे ये दोहे प्रभावान्विति की दृष्टि से बेहद सशक्त बन पड़े हैं।

जहाँ तक पुराने रूपों में नयी अन्तर्वस्तु के कुशल विन्यास का प्रश्न है, नागार्जुन ने दोहा के अलावा दूसरे भी कई ऐसे प्रयोग सफलतापूर्वक किये हैं। उदाहरण के लिए रैदास के सुप्रसिद्ध भजन " प्रभुजी ! तुम चन्दन

हम पानी " तथा " प्रभुजी ! तुम दीपक हम बाती " की तर्ज पर रचित उनकी अंग्रेजी साम्राज्यवाद विरोधी व्यंग्य कविताएँ द्रष्टव्य हैं —

प्रभुजी ! तुम चन्दन हम पानी
हम काहिल हैं हम भिखमंगे तुम हो औधरदानी
अबकी पता चला है प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी ।
प्रभुजी ! तुम दीपक हम बाती
हम निघाट धरती निदाघ के तुम बादल बरसाती
अबकी पता चला है प्रभु जी तुम दीपक हम बाती

जो लोग प्रगतिशील कविता पर विषयवस्तु एवं रूप की जड़ता का आरोप लगाते रहे हैं । उनके लिए नागार्जुन की कविताएँ एक रचनात्मक उत्तर की तरह हैं । सच तो यह है कि अकेले नागार्जुन ने अपनी काव्य - यात्रा के दरम्यान जितने रूप सम्बन्धी प्रयोग किये हैं उतने किसी दूसरे कवि ने नहीं । इन प्रयोगों में यदि एक ओर कवि द्वारा अन्तर्वस्तु की नैसर्गिक आकांक्षा के अनुरूप आवश्यकतानुसार अनेक पारम्परिक रूपों का सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया गया है तो कई बार पुरातन को ध्वस्त कर नवीन रूपों की भी सृष्टि की गई है । प्रगतिशील साहित्य-रचना के क्रम में आवश्यकतानुसार नये-पुराने रूपों के सार्थक उपयोग के संदर्भ में डॉ॰नन्दकिशोर नवल की उक्ति बिलकुल ठीक जान पड़ती है कि " नयी वस्तु नये रूपों में भी प्रकट होती है और पुराने रूपों में भी, क्योंकि किसी भी साहित्य का उसके पुराने रूपों से पूर्णत: विच्छिन्न हो जाना असंभव है । ऐसी स्थिति में प्रगतिशील साहित्यकार नये रूपों का प्रयोग तो करता ही है, वह पुराने रूपों को भी पुनर्जीवित करता है और नये तथा पुराने रूपों के सामंजस्य से विविध प्रकार के रूपों की सृष्टि करता है । पुराने रूपों के उपयोग का मतलब पुरानेपन

को अधीनता स्वीकार कर लेना नहीं है, बल्कि पुराने रूपों में जो शक्तिशाली और प्रभावशाली रूप हैं, उन्हें श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण में लगाना है। " 23

संरचनात्मक संश्लिष्टता :-

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में हुए अद्यतन चिंतन के अनुसार सम्पूर्ण मानव-क्रिया व्यापार कविता का विषय है बशर्ते उसमें रचनाकार मानव हित का नियोजन करता हो। इस नव्य मार्क्सवादी दृष्टि से यदि हम विचारें तो स्पष्ट होगा कि प्रगतिशील कवियों द्वारा रचित स्वस्थ मानवीय प्रेम की कविताएँ भी कहीं से प्रतिबद्धता के विरुद्ध नहीं हैं। नागार्जुन की " यह तुम थीं " शीर्षक कविता इसका बेहतर उदाहरण है ---

" कर गयी चाक
तिमिर का सीना
जोत की फाँक
यह तुम थीं
सिकुड़ गयी रग-रग
झुलस गया अंग-अंग
बना कर ठूँठ छोड़ गया पतझार
उलंग असगुन-सा खड़ा रहा कचनार
अचानक उमगी डालों की सन्धि में
छरहरी टहनी
पोर-पोर में गसे थे टूसे
यह तुम थीं

झुका रहा डालें फैलाकर
कगार पर खड़ा कोढ़ी गूलर
उमर उठ आयी भादों की तलैया
जुड़ गया बौने की डाल का रेशा-रेशा
यह तुम थीं । " 24

वस्तु रूप की एकोकता एवं संरचनात्मक संश्लिष्टता की दृष्टि से नागार्जुन की यह प्रेम कविता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । यहाँ जिस सहजता एवं मार्मिकता के साथ प्रिया की रूप सत्ता को प्रतिष्ठित किया गया है वह कवि के रचनात्मक कौशल का परिचायक है । " कविता की दूसरी पंक्ति में " सीना " के माध्यम से " तिमिर " के ठोस तथा अविच्छेद्य और " तिमिर " के माध्यम से " सीना " की निष्क्रिय तथा अनुर्वक जैसी अनेक व्यंजनाओं को समाहित किया गया है । इस तरह का " सीना " भी " जोत को फाँक " चाक कर देती है, तब सहज ही " जोत की फाँक " का तेज, पैनापन और बेधक शक्ति खुलने लगती है । पहली पंक्ति में " चाक " शब्द का संयोजन भी कमजोर कवि के बूते के बाहर की बात थी । यह एक शब्द पूरे काव्य-व्यापार का क्रियात्मक एहसास और तीक्ष्णता भी पूरी तरह प्रकट कर देता है । चौथी पंक्ति में इस घटना व्यापार को कर्त्ता - " यह तुम थीं " से जोड़कर कवि ने न केवल यह कि पहली तीन पंक्तियों में बन रहे सोम दृश्य को जीवंतता प्रदान किया है बल्कि साथ ही प्रिया की रूप-सत्ता की प्रबल सृष्टि भी की है जो पूरे अनुभव को एक आत्मीय विवशता तक ले जाती है ।

इस कविता में कुल जमा तीन छंद हैं । तीनों छंदों के अंत में " यह तुम थीं " की टेक आती है । यह टेक किसी रिक्तता को भरने की चतुराई के रूप में नहीं बल्कि मूल अनुभव को अधिक प्रगाढ़ तथा प्रभावी बनाने के हिसाब से ही आती है । और यह कि वह बाहर से नहीं रचना के भीतर से रचाव की अनिवार्यता बनकर जन्म लेती है । इसलिए यह टेक अलग-थलग न पड़कर पूरी कविता के अवयवों को अपने में समेटती हुई उत्तरोत्तर अपनी गूँज को गहराती चली जाती है और अंतत: पूरे काव्य-व्यापार में अपनी केन्द्रीय स्थिति बना लेती है । पूरी कविता, जिसमें कुल सत्रह पंक्तियाँ हैं, एक गहरी शांत एवं सात्विक लय में अपने को डुबोये हुए है । इस लय की धीमे-धीमे प्रवाहित लहरों पर प्रकाश पुंज की भाँति प्रिया का चेहरा प्रकट होता है और उसी रोशनी में प्रेम पाया व्यक्ति भी झलकता है - तृप्त, निखरा और प्रसन्न । " 25

नाटकीय संरचना :-

रूपविधान की दृष्टि से नागार्जुन - काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी नाटकीय संरचना । जाहिर है कि नागार्जुन की कविताओं की नाटकीय संरचना मुक्तिबोध की कविताओं में आयी फैण्टसी की संरचना से नितांत भिन्न है । वस्तुत: नागार्जुन की नाटकीय संरचना वाली कविताएँ बहुत हद तक नुक्कड़ नाटक के समानान्तर काव्य-रचना का अप्रतिम उदाहरण हैं । राजेश जोशी के शब्दों में यदि कहें तो इन कविताओं में " उनका अंदाज नजीर की तरह है और विवेक भारतेन्दु की तरह । ये गहरे और सजग दायित्व बोध की कविताएँ हैं, मात्र छंदों का जिम्नास्टिक नहीं । उसमें किसी सस्ती लोकप्रियता का आग्रह

भी नहीं है, इन कविताओं में भी नागार्जुन की अपनी सारी विशिष्टताएँ मौजूद हैं। यह उनकी काव्य साधना की ऐसी सफलता है जो भारतेन्दु के बाद संभवत: पहली बार और भारतेन्दु से गुणात्मक रूप से आगे बढ़कर प्रकट हुई है।"[26] इसके साथ ही नागार्जुन की अनेकानेक कविताओं में हमें एकाधिक छंदों के दर्शन होते हैं। एक छंद विशेष से रचना प्रारंभ करके उसी छंद में पूरी कविता प्राय: वे समाप्त नहीं करते। उनकी "हरिजन गाथा" शीर्षक कविता नाटकीय संरचना के साथ-साथ मिश्रित छंद समाहार का एक बेहतर उदाहरण है।

तीन खण्डों में रचित इस कविता का प्रथम खण्ड उस अमानुषिक घटना के सूचनात्मक विवरण से सम्बंधित है जिसके अनुसार "साधन सम्पन्न उँची जातियों वाले सौ-सौ मनु पुत्रों द्वारा" तेरह हरिजनों को जिन्दा जला दिया गया है। यह पूरी कविता इस घोर अमानवीय घटना के लिए जिम्मेदार लोगों के प्रति क्रोध एवं पीड़ितों के प्रति करुणा के तनाव का रचनात्मक प्रतिफलन है। दूसरे खण्ड में इस जघन्य हत्याकांड के बाद एक अद्भुत-अनोखे शिशु का जन्म, उसके परिवार एवं समाज के लोगों की चिन्ता, रैदासी संत गरीब दास का आगमन तथा उनके द्वारा उस शिशु का भविष्य वाचन आदि बातें वर्णित हैं। अंतिम खण्ड में हरिजन बंधुओं द्वारा उस नवजात शिशु को झरिया, बोकारों जैसे किसी स्थान पर भेजने की योजना आदि के बारे में बताया गया है। जिस समय हरिजनों को उनकी ही गर्भवती स्त्रियों के सामने जिन्दा जलाया जा रहा था तब कवि के शब्दों में ---

" उनकी गर्भकुक्षियों के अन्दर
बार-बार उठने लगीं टीसें
लगाने लगे दौर उनके भ्रूण
अन्दर ही अन्दर "

जब इस नृशंस हत्याकांड के बाद कविता के दूसरे खण्ड में एक अदभुत-अनोखा बच्चा जन्मता है तो उसके बारे में परिवार-समाज के लोगों की टिप्पणी है कि ---

" राम जी के आसरे से जो गया अगर यह
कौन-सी माटी गोड़ेगा ? "
कौन सा ढेला फोड़ेगा ? "

इसके बाद चमारों के उस टोले में बाबा गरीबदास का आगमन होता है, जिनका चित्र कवि ने इस प्रकार खींचा है --

" अगले नहीं
उससे अगले रोज
पधारे गुरु महाराज
रैदासी कुटिया के अधेरे संत गरीबदास
बकरी वाली गंगाजमनी दाढ़ी थी

x x x x x

चेहरा था गोलमटोल, आँखें थी घुच्ची
बदन कठमस्त था
ऐसे आप अधेर संत पधारे
चमरटोली में,

रैदासी कुटिया के ये और संत वस्तुत: चमरटोली के ओझा, फकीर और भविष्यवक्ता सब कुछ हैं। नागार्जुन-काव्य के रूपविधान की दृष्टि से यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि जब संत गरीबदास नवागत शिशु का भविष्य बयान करने लगते हैं तो कविता का छंद बदल जाता है जो संवाद-योजना को चरित्र के अनुरूप बना देता है ---

अरे भगाओ इस बालक को
होगा यह भारी उत्पाती
जुलुम मिटाएँगे धरती से
इसके साथी और संघाती
यह उन सब का लीडर होगा
नाम छपेगा अखबारों में
बड़े-बड़े मिलने आएँगे
लद-लद कर मोटरकारों में
धनबल जनबल सभी जुटेगा
हथियारों की कमी न होगी
लेकिन अपने लेखे इसको
हर्ष न होगा गमी न होगी
सबके दुख में दुखी रहेगा
सबके सुख में सुख मानेगा
समझ-बूझ कर ही समता का
असली मुद्दा पहचानेगा। " 27

इस कविता में जो घटनाक्रम शुरू होता है, वह पाठक की जिज्ञासा के साथ-साथ काव्य-प्रवाह को बनाये रखता है। अपने अंत तक पहुँचने पर कविता हरिजनों के कष्टकर जीवन एवं उनमें पनप रही अन्याय-विरोधी सामाजिक चेतना की ऐसी महागाथा बन जाती है जो हमारे मन: मस्तिष्क को मथ कर रख देती है। वस्तुत: " हरिजन गाथा " प्रभावशाली वातावरण की सृष्टि, चरित्र-चित्रण एवं अपने कथात्मक प्रवाह की दृष्टि से हिन्दी में बेमिशाल है। सच तो यह है कि नागार्जुन की कविता रूपविधान की दृष्टि से मात्र काव्यात्मक उप - करणों तक सीमित न रहकर तमाम साहित्य विधाओं से सार तत्व ग्रहण करके निर्मित होती है।

बिम्ब विधान :-

डॉ॰नगेन्द्र ने लिखा है कि " काव्यबिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।" [28] इस दृष्टि से यदि हम नागार्जुन के बिम्ब विधान पर विचारें तो स्पष्ट ही वहाँ हमें ऐसे अनेकानेक ऐन्द्रिय शब्द-चित्र मिलते हैं जो किसी भी सहृदय पाठक के मन में भावोत्तेजन पैदा करने में सक्षम हैं। किन्तु नागार्जुन-काव्य के प्रसंग में बिम्ब कविता का सहकारी मूल्य ही सिद्ध होता है, प्राथमिक मूल्य नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो वहाँ बिम्ब माध्यम या साधन है, कविता का प्राणतत्व नहीं।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाव ग्रहण कर हिन्दी के काव्य - शास्त्रियों एवं सौन्दर्यशास्त्रियों ने काव्य बिम्ब के जितने भेद किये हैं उनमें दृश्य बिम्ब या चाक्षुष बिम्ब का स्वरूप सर्वाधिक स्पष्ट होता है।

नागार्जुन की कविता में हमें अनेकानेक ऐसे अछूते चाक्षुष बिम्बों के संदर्भ मिलते हैं जो उनके पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियों की कविताओं में दुर्लभ हैं —

दुर्गम बर्फानी घाटी में
शत-सहस्त्र फुट ऊँचाई पर
अलख नाभि से उठने वाले
निज के ही उन्मादक परिमल
के पीछे-धावित हो होकर
तरल तरुण कस्तूरी मृग को
अपने पर चिढ़ते देखा है :
बादल को घिरते देखा है । 29

नागार्जुन बंद कमरे में बैठ कर शब्दों से खेलने वाले कवि नहीं हैं। उन्होंने हिमालय की उपत्यकाओं को अपनी नंगी-खुली आँखों से देखा है । इसी कारण उनकी इस पूरी कविता में जितने चित्र आए हैं, सब के सब जीवंत हैं । चाहे शैवालों की हरी दरी पर प्रणय कलह करने वाले चकवा - चकई का चित्र हो या प्रकृति के सुरम्य प्रांगण में स्थित झीलों के नीले जल में तिरते हंसों का चित्र, वहाँ इनके चित्रण में एक प्रकार की स्वाभाविकता है ।

नागार्जुन का कवि मन भले ही हिमालय की उपत्यकाओं में रचा-बसा हो या इन्द्रप्रस्थ, पाटलिपुत्र की पण्यवीथि में या श्रीलंका, तिब्बत के संघाराम में हो, वह अपनी जन्म भूमि मिथिला को कभी भूल नहीं पाता । ऐसे में कवि को अतीत की स्मृति के द्वारा जिन स्मृति बिम्बों की सृष्टि हुई है उनमें भावावेग की प्रबलता देखते ही बनती है —

" घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल !
याद आता तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल !

x x x x x

याद आता मुझे अपना वह " तरउनी " ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनी और तालमखान

x x x x x

याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय, अति अभिराम " 30

नागार्जुन के यहाँ स्पृश्यजन्य संवेदनों के समन्वय से निर्मित स्पृश्य बिम्ब को उदाहृत करने वाली पंक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं —

" महसूस हुई कन्धों को
पीछे से
किसी की नाक की सहज उष्ण निराकुल साँसें
तन गयी रीढ़ " 31

<u>घ्राण बिम्ब</u> :-

" आगे से आया
अलकों के तैलाक्त परिमल का झोंका
रग-रग में दौड़ गयी बिजली " 32

इसी तरह नागार्जुन-काव्य में हमें अन्य बिम्ब प्रकारों को भी उदाहृत करने वाली अनेकानेक जीवंत पंक्तियाँ मिलती हैं ।

डॉ॰नामवर सिंह ने लिखा है कि " कविता में बिम्ब-रचना सदैव वास्तविकता को मूर्त ही नहीं करती, कभी-कभी वह वास्तविकता का अमूर्तन भी करती है । कविता में बिम्ब वास्तविकता के साक्षात्कार का ही सूचक नहीं होता, प्राय: वह वास्तविकता से बचने का एक ढंग भी रहा है । काव्य-भाषा के लिए भी प्राय: बिम्ब-योजना हानिकर सिद्ध हुई है । x x x x जहाँ तक मूर्तिमत्ता का प्रश्न है, वह तथाकथित बिम्बवादी काव्य सिद्धांत को अपनाये बिना भी संभव है । "[33] अपनी इसी मान्यता के तहत नामवर जी ने नागार्जुन की " अकाल और उसके बाद " शीर्षक कविता की मूर्तिमत्ता पर विचारते हुए बताया है कि वहाँ दैनंदिन जीवन की जानी-पहचानी जिन दो विरोधी स्थितियों को जिस प्रकार मूर्त्त किया गया है वह सामान्य वर्णन के बजाय मर्मस्पर्शी क्रिया-व्यापार को दर्शाता है जिसके चयन में एक दृष्टि है । उनके अनुसार इस कविता में जो मूर्तिमत्ता दृष्टिगत होती है वह तथाकथित बिम्बवादी मूर्तिमत्ता से बिलकुल अलग है ।

प्रतीक विधान :-

जब एक लम्बे समय तक किसी वस्तु विशेष के लिए कोई बिम्ब प्रयुक्त होते-होते एक खास अर्थ में रूढ़ हो जाता है तो उसे प्रतीक कहा जाता है । उदाहरण के लिए व्यावहारिक जीवन में पुष्प सुख का प्रतीक है तो काँटा दुख का । किन्तु नागार्जुन जैसे प्रातिभ कवि ने यदि इन परम्परागत प्रतीकों

के अलावा कई नये काव्य-प्रतीकों का सृजन किया है, तो, वह कतई आश्चर्यजनक नहीं है। उदाहरण के लिए नागार्जुन-काव्य में " भुस का पुतला " दिमागी रूप से दिवालियों खद्दरधारी नेताओं के लिए बड़ी ही कुशलता के साथ प्रतीकवत् इस्तेमाल हुआ है --

" स्वर्ग था ऊपर नीचे था पाताल
अपच के मारे बुरा था हाल
दिल दिमाग भुस के, खद्दर की थी खाल। " 34

नागार्जुन ने सन् 1985 के संसदीय आम चुनाव में भारी बहुमत से काँग्रेस पार्टी की विजय एवं उसके तत्कालीन नेता की संभावित कारगुजारियों को विषयवस्तु बना कर एक नाटकीय संरचना वाली कविता लिखी थी जिसमें वर्णित वृद्धा जब डॉक्टर से अपने बच्चे का सिर गुब्बारे की तरह फूलने का कारण पूछती है, तो, डॉक्टर (कवि) कहता है ---

" यह प्रचण्ड बहुमत ही सचमुच
तेरे शिशु का महारोग है
ये ही इसको ले डूबेगा
नहीं काम का रहने देगा

x x x x

इस गुब्बारे की छाया में
तस्कर मेला जमा करेगा
मतपत्रों का यह अतिवर्षण
प्रजातंत्र की पीर हरेगा

कौन करेगा, कौन भरेगा
अगला युग ही बतलायेगा " 35

यहाँ जिस " गुब्बारे की छाया " की बात की गई है वह किसका प्रतीक है यह अलग से बताना अनावश्यक है ।

मिथक :-

नागार्जुन काव्य के प्रसंग में " मिथक " की भूमिका विशेष रूप से रेखांकन के योग्य है । इस संदर्भ में उनका रत्नगर्भ नामक काव्य संग्रह अत्यंत महत्वपूर्ण है जो कवि के मिथकीय ट्रीटमेंट को रेखांकित करता है । मिथक संस्कृति की कथा है और कहना न होगा कि विभिन्न युगों में काव्य-रचना के प्रसंग में अन्य उपादानों की ही तरह मिथक की भूमिका भी बदलती रही है । उदहारण के लिए द्विवेदी युगीन कविता में मिथक यदि कथन के रूप में आया है तो छायावादी कवियों ने उसका प्रतीकवत इस्तेमाल किया है । इसी प्रकार प्रगतिवादी कविता में मिथक जहाँ उत्प्रेरक के रूप में आते रहे हैं जिनसे कविता में विशेष अर्थसंगति पैदा हुई है तो नई कविता के कवियों ने सादृश्यमूलक बात पैदा करने के लिए मिथक का साधन रूप में सहारा लिया है । आज जबकि प्रगतिशीलता का अदयतन समकालीन रूप जनवाद है तब जनवादी कवियों की कविताओं में मिथक कथ्य के अनुमोदन एवं शैली के अवयव के रूप में अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं । नागार्जुन की रचना-यात्रा चूँकि प्रगतिवाद से लेकर उसके अदयतन समकालीन रूप जनवाद तक प्रसरित है इसलिए मिथक वहाँ अपने उत्प्रेरक रूप के साथ ही अनेक बार कथ्य का अनुमोदन करते हुए शैली के अवयव के रूप में भी सक्रिय भूमिका में देखे जा सकते हैं । उदाहरण के लिए जब कवि रिक्सा चालक के " खुरदुरे

पैर " का चित्रण करता हुए उसकी तुलना " त्रिविक्रम वामन " के पुराने पैरों से करता है तो मिथक वहाँ उत्प्रेरक की भूमिका में है --

" दे रहे थे गति
रबड़ विहीन ठूँठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला " 36

परन्तु " महाभिनिष्क्रमण से पूर्व " शीर्षक कविता में जब युवा बुद्ध अपने एक वृद्ध परिचर से कहते हैं --

" सुखी है तुमसे कीट पतंग
राख की कीमत तुमसे अधिक
तुम्हारे लिए देव ही वधिक "

तो यहाँ प्रयुक्त मिथकीय चरित्र कविता के कथ्य का अनुमोदन करता हुआ प्रतीत होता है । वस्तुत: कवि ने यहाँ अपने समय की यथार्थ - मूलक चेतना को रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए मिथक का माध्यम चुना है । नागार्जुन का कवि जिस " बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त प्रतिबद्ध है, स्वाभाविक रूप से उसकी मिथकीय कविताएँ भी उसी शोषित पीड़ित वर्ग की व्यथा-कथा हैं । डॉ॰वीरेन्द्र सिंह के शब्दों में " नागार्जुन की समस्त मिथकीय रचनाओं को एक साथ लेने पर दो स्तत्व उभरकर सामने आते हैं । एक, उनके मिथकीय चरित्र और आद्यरूप मात्र चरित्र न होकर विचार हैं जो द्वन्द्व की प्रक्रिया से गुजरते हैं और दूसरे,

ये रचनाएँ किसी-न-किसी रूप में आज के यथार्थ और समस्याओं से टकराती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मिथक कभी यथार्थ हो जाते हैं यथार्थ कभी मिथक जैसे गाँधी, लेनिन, प्रेमचन्द का " होरी " आदि। समकालीन कविता में मिथक का संदर्भ इसी तथ्य को रेखांकित करता है और नागार्जुन की कविताएँ इसका अपवाद नहीं है। " 37

भाषा-शैली :-

नागार्जुन काव्य में हमें वर्णनात्मक, उदबोधनात्मक एवं व्यंग्यात्मक आदि शैलियाँ दृष्टिगत होती हैं। वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत जहाँ " नेवला ", " तीन दिन तीन रात ", " जोड़ा मंदिर " एवं " जयति जयति सर्वमंगला " जैसी कविताएँ आती हैं वहीं " मैं तुम्हें अपना चुम्बन दूँगा " तथा " भोजपुर " शीर्षक से लिखित कविताओं का स्वर उद्‌बोधनात्मक है। इनके अलावा व्यंग्यात्मक शैली में भी नागार्जुन ने अनेकानेक कविताएँ लिखी हैं।, जिनमें व्यंग्य की धार शोषक शक्तियों की ओर है। शोध प्रबंध के दूसरे अध्याय में नागार्जुन पर चर्चा करते हुए उनकी ऐसी कई कविताओं का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

काव्य-भाषा की दृष्टि से नागार्जुन-काव्य के अनेक स्तर हैं। यदि एक ओर वहाँ हमें संस्कृतनिष्ठ तत्सम पदावली के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर लोकभाषा के शब्दों का भी वहाँ प्रचुर प्रयोग दृष्टिगत होता है। इसके साथ ही वहाँ काव्यवस्तु की रचनात्मक आवश्यकता के अनुरूप अनेक बार उर्दू एवं अंग्रेजी शब्दों का भी बेहिचक प्रयोग भी किया गया है। कभी-कभी तो पूरा वाक्य भी जैसे - " प्लीज एक्सक्यूज मी "। नागार्जुन की कविता में कुछ ऐसे आद्यरूप (नये-पुराने) शब्द हैं

जिनकी आवृत्ति वहाँ बार-बार देखी जा सकती है जैसे-अँधेरा, कोहरा, अमलताश, गुलमुहर, धुँआ, बेताल, वृक्ष, चोड़, आकाश, बारूद गोश्त, माता, तुम, वह, चील आदि । वस्तुत: इन शब्दों का बारम्बार प्रयोग कवि के सोच-संवेदन को तथा साथ ही उसके अध्ययन मनन को भी संकेतित करता है । इनके प्रयोग द्वारा उसने यथार्थ के भिन्न रूपों को संकेतित किया है । नागार्जुन जन के कवि हैं, अत: उनकी भाषिक संरचना में आम शब्दों की सर्जनात्मक भूमिका उल्लेखनीय है । जहाँ कवि ने संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दों का इस्तेमाल किया है उसे उसके पांडित्य से जोड़कर देखने के बजाय यदि उन पंक्तियों के संदर्भ पर हम विचारें तो उनके प्रयोग के औचित्य-अनौचित्य की सही समझ विकसित हो सकती है । उदाहरण के लिए उनकी एक कविता की चंद पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं —

" पाकर निसर्ग सुलभ पुष्प सम्पर्क
पहुँचता है सज्जनों के शिर तक
तुच्छातितुच्छ सर्षप सदृश कीट
मुझ जैसे ग्रंथकीट ठीक उसी प्रकार
आ पहुँचा है आप तक आज
कृतकृत्य हो गई हमारी यह मकरंद
अस्तु मैं धन्यवाद क्या दूं, और किसको दूं । " 38

ऊपर उद्धृत काव्यपंक्तियों से गुजरते हुए यदि किसी पाठक या आलोचक के मानसपटल पर नागार्जुन का संस्कृत पंडित रूप उभर जाए तो यह अस्वाभाविक नहीं होगा । किन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि नागार्जुन अपनी कविता में बेजरूरत पांडित्य की खूँटी ठोकने के आदी नहीं हैं। यहाँ काव्य नायक अमलेन्दु एम॰एल॰ए॰ की सभा के अध्यक्ष

प्रोफेसर प्रज्ञाकर के वक्तव्य के माध्यम से कवि को यह दिखाना अभिप्रेत है कि मौजूदा समाज में " मैन ऑफ लेटर्स " कहे जाने वाले तथा - कथित बुद्धिजीवियों के वक्तव्य भारी-भड़कम शब्दों के प्रयोग के बावजूद कितने खोखले होते हैं । वे किस प्रकार दबंग राजनेताओं के आगे कुत्ते की तरह दुम हिलाते हुए हर पल अपनी शब्द शक्ति से उनका अभिनंदन व अभिवन्दन करने को तत्पर रहते हैं । अतः संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दों से निर्मित नागार्जुन की ये काव्यपंक्तियाँ वस्तु-रूप की एकमेकता एवं संतुलित स्थिति का ही उदाहरण हैं, न कि वस्तु-रूप सम्बन्धों के अन्यथाकरण का । मेरे उपर्युक्त मंतव्य की पुष्टि इसी कविता की उन पंक्तियों से होती है जिनमें कवि ने देसी मुहावरे का प्रयोग करते हुए बिलकुल जनभाषा में काव्यनायक की खबर ली है --

" दिखाने के और दांत, खाने के और
आप तो अमलेन्दु जी ठहरे खैर समाज के सिरमौर
जातिवाद डण्डा है, राजनीति मथनी !
करनी अलग है, अलग है कथनी ! " 39

नागार्जुन की काव्य-भाषा में क्रियापदों और संज्ञापदों की बहुलता है । समकालीन कविता घटना प्रधान कविता है और इसके कारण उसमें क्रियापदों का गत्यात्मक रूप अधिक मिलता है । इसी संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि जब पूरी व्यवस्था तथा मूल्य उल्टे हो गए हैं, तब उनको व्यक्त करने वाले रूपाकारों (संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण) का प्रयोग भी उल्टा होगा ही । साफ शब्दों में कहें तो सामाजिक संरचना का जैसा वितान होगा, भाषिक संरचना का वैसा ही वितान होगा । नागार्जुन ही नहीं, वरन् समकालीन कविता में इन

संज्ञा पदों (प्रजातंत्र, संसद, गणतंत्र), सर्वनामों (मैं, तुम, वह) तथा विशेषणों का यदि अध्ययन किया जाए, तो इन रूपाकारों का नकारात्मक संयोजन ही अधिक मिलेगा। इसका कारण विडम्बना, अपसंस्कृति और अमानवीयकरण है जो भारतीय और तीसरी दुनिया के समाजों में एक "घुन" की तरह लगे हुए हैं जिनसे वहाँ के कवि लगातार संघर्ष कर रहे हैं क्योंकि रचनाकार एक संवेदनशील प्राणी होने के कारण दैन्य, दुख और शोषण से, संवेदना के स्तर पर टकराता है। 40

निष्कर्ष :-

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हम कह सकते हैं कि नागार्जुन-काव्य में वस्तु और रूप की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया अपनी गत्वरता के साथ दृष्टिगत होती है। ऐसे तो वहाँ प्रायः वस्तु तत्व की रचनात्मक आवश्यकता एवं नैसर्गिक आकांक्षा के अनुरूप ही उसे फार्म प्रदान किया गया है पर कई बार कवि ने हड़बड़ी से भी काम लिया है जिससे कविता को भारी नुकसान पहुँचा है। यह रचनाजन्य दुर्घटना प्रायः राजनीतिक कविताओं के संदर्भ में ज्यादा हुई है। ऐसे भी, सफल राजनीतिक कविता लिखना एक जोखिम भरा काम है। किन्तु नागार्जुन ने जहाँ धैर्य के साथ सजग होकर इस खतरे का सामना किया है वहाँ हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक कविताओं का सृजन संभव हुआ है।

केदार काव्य में कलात्मकता :-

केदारनाथ अग्रवाल हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा के एक मान्य स्तंभ हैं। उनकी कविताएँ जीवनानुभवों की तीव्रता एवं व्यापकता से भरपूर हैं। उनका अनुभव लोक भी अत्यंत व्यापक है। इसी कारण केदार की काव्यवस्तु विविधवर्णी है। ग्रामीण आंचलिक परिवेश से लेकर शहरी जीवन तक तथा शाश्वत कहे जाने वाले काव्यमूल्यों से लेकर तात्कालिक घटनाओं तक उनका रचना संसार प्रसरित है। वह गांव के किसान तथा खेत मजूर के साथ-साथ कारखानियाँ मजूर के भी जुझारू जीवन संघर्ष की महागाथा है और कहना न होगा कि श्रमिक वर्ग के इस मुक्तिकामी संघर्ष में कवि की सहानुभूति हमेशा शोषितों के साथ है। उसे इस वर्ग के साथ एक प्रकार का आत्मीय लगाव है इसलिए जरूरत पड़ने पर कवि इस वर्ग के लोगों को दुलारने के साथ-साथ ललकारने एवं डाँटने से भी बाज नहीं आता। किन्तु यह सब वह कविता की शर्त पर ही करता है। रचना में काव्यात्मकता की इसी शर्त का निर्वाह न कर पाने के कारण प्रगतिशील कवियों की अनेकानेक रचनाएँ कविता के आसान से च्युत होकर नारेबाजी का शक्ल अख्तियार कर लेती हैं। केदार के कवि को अच्छी तरह मालूम है कि प्रगतिशील काव्यवस्तु को कैसे अभिव्यक्त किया जाय जिससे पक्षधरता के साथ-साथ काव्यात्मकता की शर्त का निर्वाह भी संभव हो सके।

केदार की कला दृष्टि :-

केदार हमेशा कविता में कलात्मकता को अक्षुण्ण रखने के हिमायती रहे हैं। उनका साफ कहना है कि कवि को कलात्मक परिपक्वता अर्जित करनी चाहिए। उनके ही शब्दों में " ये कलात्मकता बुरी चीज नहीं है,

केदार काव्य में कलात्मकता :-

केदारनाथ अग्रवाल हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा के एक मान्य स्तंभ हैं। उनकी कविताएँ जीवनानुभवों की तीव्रता एवं व्यापकता से भरपूर हैं। उनका अनुभव लोक भी अत्यंत व्यापक है। इसी कारण केदार की काव्यवस्तु विविधवर्णी है। ग्रामीण आंचलिक परिवेश से लेकर शहरी जीवन तक तथा शाश्वत कहे जाने वाले काव्यमूल्यों से लेकर तात्कालिक घटनाओं तक उनका रचना संसार प्रसरित है। वह गांव के किसान तथा खेत मजूर के साथ-साथ कारखानियाँ मजूर के भी जुझारु जीवन संघर्ष की महागाथा है और कहना न होगा कि श्रमिक वर्ग के इस मुक्तिकामी संघर्ष में कवि की सहानुभूति हमेशा शोषितों के साथ है। उसे इस वर्ग के साथ एक प्रकार का आत्मीय लगाव है इसलिए जरूरत पड़ने पर कवि इस वर्ग के लोगों को दुलारने के साथ-साथ ललकारने एवं डाँटने से भी बाज नहीं आता। किन्तु यह सब वह कविता की शर्त पर ही करता है। रचना में काव्यात्मकता की इसी शर्त का निर्वाह न कर पाने के कारण प्रगतिशील कवियों की अनेकानेक रचनाएँ कविता के आसान से च्युत होकर नारेबाजी का शक्ल अख्तियार कर लेती हैं। केदार के कवि को अच्छी तरह मालूम है कि प्रगतिशील काव्यवस्तु को कैसे अभिव्यक्त किया जाय जिससे पक्षधरता के साथ-साथ काव्यात्मकता की शर्त का निर्वाह भी संभव हो सके।

केदार की कला दृष्टि :-

केदार हमेशा कविता में कलात्मकता को अक्षुण्ण रखने के हिमायती रहे हैं। उनका साफ कहना है कि कवि को कलात्मक परिपक्वता अर्जित करनी चाहिए। उनके ही शब्दों में " ये कलात्मकता बुरी चीज नहीं है,

ये कलात्मकता चिरजीवी कलात्मकता है । "41 अपने समय में लिखी जा रही हिन्दी कविता में जब वे कलात्मकता का अभाव पाते हैं तो उसे बेबाक ढंग से खारिज करने से नहीं हिचकते । अपनी काव्य पुस्तक "पंख और पतवार" की भूमिका में उन्होंने जो बातें कही हैं उनसे साफ जाहिर होता है कि काव्यकला की दृष्टि से हीन रचनाएं उन्हें सख्त नापसंद हैं, चाहे वे काव्यवस्तु की दृष्टि से कितनी भी प्रगतिशील क्यों न हों । यहाँ उनके एतदविषयक कुछ मंतव्यों को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा - "इधर अपने यहाँ हिन्दी की लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित होने - वाली तमाम छोटी-बड़ी और लम्बी कविताएँ देखने को मिली हैं। इनके कथ्य यथार्थ से लिए गए होते हैं और इनका शिल्प भी वैसे ही वस्तुनिष्ठता से विरचित होता है । इनमें व्यक्त आत्मनिष्ठता में वह कलात्मक गठन नहीं होता जो कृति को सहज साधारण से अधिक प्रियतर बनाये । इसका मूल कारण संभवत: यही है कि कवि कविता का भी जनतंत्रीकरण कर रहे हैं और इनकी अवधारणा भी यही है कि कविता को भी अपने वे सब, पहिले से प्राप्त और उपलब्ध किये हुए, कलात्मक गुणों को छोड़ना पड़ेगा और भाषा और शिल्प के धरातल पर भी केवल तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करना पड़ेगा और अगर ऐसा नहीं होता तो कविता जनसाधारण के पल्ले नहीं पड़ सकती । " इस अवधारणा का जोरदार विरोध करते हुए वे आगे लिखते हैं कि "ऐसी अवधारणा निश्चय ही सही नहीं है । कविता को जनतांत्रिक बनाने के लिए उसे न तो अखबारी वक्तव्य बनाया जा सकता है, न ही उसकी भाषा को मात्र सड़क और बाजार में प्रयुक्त होनेवाली बोली से निरूपित किया जा सकता है । कविता ऐसे जनतंत्री - करण से कविता नहीं रह जाती । कविता की अपनी कलात्मक विशिष्टता एवं भाषायी संवेदनशीलता होती है जिसे कवि को अर्जित करना पड़ता है । जनतंत्र कविता में आये लेकिन वह भी आत्म निष्ठता से अपना रूप बदलकर,

सविशेष होकर, आये। सम्प्रेषणीयता के नामपर और जनतंत्र की अभिव्यक्ति के कविता को वही कलात्मक कथ्यात्मकता अपनानी पड़ेगी जो जनतंत्र के कथ्य को गुणात्मक रूप से हृदयग्राही बना सके। कविता का स्तर, बजाय नीचे गिराने के, ऊपर उठाया जाना चाहिए और इसके लिए कवि को अपने सामने उन महान कवियों की समाजवादी रचनाओं को रखकर उनसे अच्छे लिखने के वे आयाम लेने चाहिए जो उनकी मौलिक क्षमता के अनुरूप और अनुकूल हों। x x x x होता यह है, कि आज की गर्मागर्म राजनीति कवियों को भी अपने लक्ष्य से भटका देती है और वे लोग अपने कवि कर्म को कम महत्त्व देते हुए राजनीतिक वक्तव्य देने लगते हैं। इसीलिए उनकी कविताओं की भाषा कलात्मक नहीं हो पाती। x x x x इसलिए कविता को उसके तमाम, उपलब्ध किये हुए, गुणधर्मों, से वंचित न करना चाहिए, अपितु उसके उन गुणधर्मों को अपनाए रहना चाहिए जो उसे चमकाते और निखारते रहते हैं और जो उसे आदमी को सही सार्थक मानसिकता देते हैं।" 42

केदारनाथ अग्रवाल का काव्य विषयक उपर्युक्त मत मुक्तिबोध के इस कथन से लगभग मेल खाता है जब वे लिखते हैं कि "जनता का साहित्य का अर्थ जनता को तुरंत ही समझ में आनेवाले साहित्य से हरगिज नहीं है। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता मैना और नाटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते। साहित्य के अन्दर सांस्कृतिक भाव होते हैं। सांस्कृतिक भावों को ग्रहण करने के लिए, बुलंदी, बारीकी और खूबसूरती को पहचानने के लिए, उस असलियत को पाने के लिए जिसका नक्शा साहित्य में रहता है, सुनने और पढ़नेवाले की कुछ स्थिति अपेक्षित होती है। वह स्थिति है उसकी शिक्षा, उसके मन का सांस्कृतिक परिष्कार। x x x जनता के

साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को, प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है। अतः इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे।" 43

इस संदर्भ में गंभीरतापूर्वक विचारने से स्पष्ट होता है कि न केवल साहित्यकारों ने ही, अपितु अनेकानेक वामपंथी चिंतकों ने भी साम्यवाद समाजवाद के प्रचार के नाम पर लिखी जानेवाली फार्मूलाबद्ध रचनाओं का जमकर विरोध किया है। 8 फरवरी 1942 ई० को, येनान के कार्यकर्त्ताओं के बीच दिये गये भाषण " घिसेपिटे पार्टी-लेखन का विरोध करो " में माओ त्से-तुंग में इस संकल्प की ओर प्रख्यात चीनी कथाकार लू शुन के कार्य का स्मरण किया था जो उनके अनेक निबंधों में 14 मई आन्दोलन के बाद किया गया था, जो विदेशी घिसे-पिटे लेखन की किस्म के पार्टी-लेखन पर प्रहार था। ऐसे लेखन पर दूसरे आरोप के तहत वहाँ जनता को दहशत में डालने वाले लेखकों की आलोचना करते हुए लू शुन को उद्धृत किया गया था - " गाली-गलौज करने और धमकियाँ देने को संघर्ष करना हरगिज नहीं कहा जा सकता।" 44

उपर्युक्त मंतव्यों के आलोक में हम कह सकते हैं कि यदि कवि केदारनाथ अग्रवाल अपनी कविताओं के " रूप " पक्ष पर ध्यान देते हैं, उसे काव्यवस्तु की नैसर्गिक आकांक्षा के अनुरूप ढालते हैं तथा कविता की रचनात्मक शर्तों का निर्वाह करते हुए उसकी विधागत स्वाभाविकता को यांत्रिकता की गिरफ्त से बचाये रखने की पुरजोर वकालत करते हैं तो यह

प्रगतिशील कविता के स्वास्थ्य के लिए कोई बुरी बात नहीं है और इसके कारण उन्हें " रूपवादी " या फार्मलिस्ट कवि कहना कहीं से भी उचित नहीं जान पड़ता ।

फार्मलिज्म का आरोप एवं निराकरण :-

हिन्दी के कुछ आलोचकों द्वारा केदार की कविता पर जो " फार्मलिज्म " का आरोप लगाया गया है, उसके बारे में शमशेर बहादुर सिंह का कहना है कि " बहुत ऊपरी अर्थ में इनको फार्मलिस्ट कह सकते हैं, वास्तविक अर्थ में नहीं । " 45 शमशेर की मान्यता है कि केदार के कवि का उद्देश्य कभी भी किसी विशिष्ट " रूप " को अपने में एक उद्देश्य बनाना नहीं रहा है । इसके बजाय कवि ने अनेक बार किसी खास " रूप " की बुनियाद में जो प्राथमिक अनुभूति का तथ्य होता है, उसके सहारे अपनी विशिष्ट अनुभूति को जोड़कर उसे रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान किया है । दूसरे शब्दों में कहें तो केदार जब जटिल रचना-प्रक्रिया से गुजरकर रूप तत्व को अपने व्यक्तित्व का अपरिहार्य अंग बना लेते हैं तभी वे अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होते हैं । यह कला के फार्म के लिए जीने वाले उन कवियों से बिलकुल भिन्न स्थिति है जो रूप की उपलब्धि को ही अपने व्यक्तित्व की उपलब्धि मानते हैं । शमशेर के शब्दों में " केदार के कवि की आत्मोपलब्धि जहाँ हो चुकती है वहाँ वह सहज ही उस अधिकृत रूपप्रकार को लाते हैं, ताकि उसमें उसे ढाल सकें । x x x x रूपप्रकार के अन्दर जिस " रूप " में वह अपने-आपको कसते हैं वह रूप उनके सृजन-क्षण में तेजी से बदलते हुए आगे आते नव-उपलब्ध व्यक्तित्व का ही होता है । जो कुछ वह खोजते हैं

वह और चीज है : वह है अपने व्यक्तित्व का सामाजिक व्यक्तित्व से (जैसा कि वे उसे अपने जीवन के सचेत अनुभवों से प्रत्यक्ष जानते हैं,) सार्थक रचनात्मक सामंजस्य और उस सामंजस्य का अपने कवि मानस के लिए कलात्मक रचनात्मक मूल्यांकन और फिर उनका यह व्यक्तित्व उस अन्दर के " रूप " को तो तोड़ता हुआ सा लगता है, उसमें बंध न पाता, समा न पाता हुआ । "[46] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि केदार अपनी कविता में जब किसी " रूप " का प्रयोग करते हैं तो यदि एक ओर वे उसके आंतरिक गुणों से प्रभावित होते हैं, तो, दूसरी ओर रचना-क्रम में वह रूप विशेष भी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता । उदाहरण के लिए केदार रचित " धूप का गीत " द्रष्टव्य है ---

" धूप धरा पर उतरी
जैसे शिव के जटाजूट पर
नभ से गंगा उतरी ।
धरती भी कोलाहल करती
तम के ऊपर उभरी !!
धूप धरा पर बिखरी !!
बरसी रवि की गगरी
जैसे ब्रज की बीच गली में
बरसी गोरस गगरी ।
फूल-कटोरों-सी मुसकाती
रूप-भरी है नगरी !!
धूप धरा पर निखरी !! "[47]

डॉ॰रामविलास शर्मा ने इस गीत पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है कि " यहाँ लोकगीतों की कला नया रूप पाकर निखर उठी है । कोई " सहस्त्रार " इस गीत के " फूल कटोरों " की बराबरी नहीं कर सकता । " 48 केदार के काव्य में लोकगीत के तत्वों का सफलतम उपयोग उनकी गीत कविताओं में दिखाई पड़ता है । ऐसे, लोकगीतों की तर्ज पर जो साहित्यिक गीत हिन्दी में लिखे गये हैं उनमें से अधिकांश लोकगीतों की पैरोडी मात्र बनकर रह गये हैं । किन्तु केदार के गीतों में एक प्रकार का कलात्मक निखार सहज ही देखा जा सकता है —

" धरती उठाओं मेरी पालकी
मैं हूँ सुहागिन गोपाल की
बेला है फूलों के माल की
फूलों के माल की ---

धरती उठाओं मेरी पालकी । " 49

या

" माँझी ! न बजाओं बंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल-पल डोलता
माँझी ! न बजाओं बंशी मेरा प्रण टूटता
मेरा प्रण टूटता जैसे तृण टूटता
तृन का निवास जैसे बन-बन टूटता

माँझी ! न बजाओ बंशी मेरा तन झूमता
मेरा तन झूमता है तेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता । " 50

वस्तु-रूप सम्बन्धों में विच्छत्ति :-

किन्तु जब कभी कवि ने रचना की " अन्तर्वस्तु " की नैसर्गिक आकांक्षा के विपरीत " रूप " तत्व को आजमाने की जहमत उठाई है, उसे असफलता ही हाथ लगी है । सम्पूर्ण " रूप तत्व " की बात तो दूर, केवल चंद शब्दों के परिवर्तन से ही रचना की प्रभावान्विति में कितना अंतर आ जाता है, इसे नीचे उद्धृत एक ही कविता के दो रूपों के देखकर भलिभाँति समझा जा सकता है --

1· " चोली फटी सरस सरसो की
लहँगा गिरा फागुनी नीचे
चूनर उड़ी अकासी नीली
नंगी हुई पहाड़ी देखो । " 51

{ रचना काल 13 अक्तूबर 1960 }

2· " चोली फटी सरस सरसों की
नीचे गिरा फागुनी लहँगा,
ऊपर उड़ी चुनरिया नीली,
देखो हुई पहाड़ी विवसन
आतप-तप्ता । " 52

{ रचनाकाल 13 अक्तूबर 1961 }

आलोचकीय दृष्टि से विचारने पर स्पष्ट होता है कि इन दोनों ही कविताओं की " अन्तर्वस्तु " एक ही है। किन्तु दूसरी बार कवि ने पुनर्लेखन के क्रम में इसकी शब्द योजना में थोड़ा-सा परिवर्तन किया है। पहली पंक्ति हू-ब-हू है तथा दूसरी पंक्ति में केवल एक शब्द को स्थाना - न्तरित किया गया है। दूसरी पंक्ति में हुए इस स्थानांतरण से काव्य - प्रवाह एवं प्रभाव मुझे कहीं से भी बाधित होता हुआ प्रतीत नहीं होता, हालांकि डॉ॰रामविलास शर्मा को यह पंक्ति भी कमजोर हो गई-सी लगती है। तीसरी पंक्ति - " चूनर उड़ी अकासी नीली " - की जगह -- " ऊपर उड़ी चुनरिया नीली " - थोड़ी कमजोर अवश्य हो गई है पर इसका कारण वह नहीं है जो डॉ॰शर्मा ने बताया है। पहले तो वे " चूनर " और " चुनरिया " के बीच बड़े-छोटे आकार के अन्तर पर बारीकी से विचारते हुए " चूनर " के मुकाबले चुनरिया को बेरहमी से खारिज करते हैं (जबकि चुनरिया शब्द ही लोक काव्य के ज्यादा करीब है जैसे बँसुरिया, साँवरिया आदि) तथा इसके बाद वे पहले पाठ में कवि द्वारा प्रयुक्त अकासी शब्द की विशिष्ट अर्थवत्ता का प्रतिपादन करते हुए इसके द्वारा चूनर के रंग के साथ-साथ उसका आकाश में उड़ना भी व्यंजित होता हुआ मानते हैं। पहली बात तो यह है कि " चूनर " के मुकाबले " चुनरिया " शब्द लोकभाषा के अधिक नजदीक है। दूसरी बात यह कि " अकासी " शब्द यहाँ " चूनर " के नीले रंग के साथ-साथ उसके आकाश की ओर उड़ने का अर्थ व्यंजित करने के बजाय कुल मिलाकर चूनर के आसमानी रंग को ही द्योतित करता प्रतीत होता है। फिर चूनर कोई पतंग की तरह आकाश में उड़ने वाली चीज भी तो नहीं है। किन्तु इस अर्थ सीमा के बावजूद पंक्ति की काव्यात्मकता पर कहीं से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरे पाठ में उड़ने की दिशा निर्धारित करने के लिए " ऊपर " शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उसकी भी कोई खास

सार्थकता मुझे नजर नहीं आती । क्योंकि चूनर हो या चुनरिया, वह नीचे की ओर गिर तो सकती है, पर उड़ नहीं सकती । इस प्रकार पहले पाठ की पंक्ति ही ज्यादा सही जान पड़ती है । तीसरी और चौथी पंक्ति में आए परिवर्तन के बारे में डॉ॰शर्मा की मान्यता से किसी भी तरह असहमत नहीं हुआ जा सकता है जब कि वे लिखते हैं - " नंगी " की जगह " विवसन ", लोकगीत का रस फीका हो गया, " आतपत्प्ता " ने तो बंटाढार ही कर दिया । " 53

लोक काव्य रूपों का प्रभाव :-

लोक काव्य रूपों का सफलतम इस्तेमाल केदार की उन राजनीतिक कविताओं में देखा जा सकता है जिनमें अपने समय के तापमान से उद्वेलित नयी काव्यवस्तु के लिए पुराने काव्य-रूपों का उपयोग किया गया है । सन् 1946 में दिल्ली की अंतरिम सरकार की भारत विरोधी नीयत का पर्दाफाश करते हुए उन्होंने लोक काव्य की शैली में लिखा था ---

" हमका न मारो नजरिया
ऊँची अटारिया माँ बैठी रहै । तुम,
राजा की ओढ़े चुनरिया ।

x x x x

राजा के हिरदय से हिरदय मिलावै ।
करती रहौ रंगरैलियाँ ।
हमका पियारा है भारत हमारा,
तुमका पियारा फिरंगिया !! " 54

खुसरो एवं भारतेन्दु की परम्परा का विकास :-

रूपविधान की दृष्टि से केदार-काव्य के वे पहलू विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं जहाँ हमें अमीर खुसरो एवं भारतेन्दु की परम्परा का विकास दृष्टिगत होता है । केदार ने अपनी जिन कविताओं में पुराने कवियों की शब्द योजना को सफलता के साथ अपनाया है वहाँ व्यंग्य और भी धारदार बन पड़ा है --

1· " दुख ना गयो
दरिद न छूटै,
चोर-बजारी दिन-दिन लूटै
धीरज-धनुही पुस-पुस टूटै,
ऐसो राज का भंडा फूटै !

x x x x

धन ना जुरै
गरीबी आवै,
हाथन का श्रम चोर चुरावै,
ऊँचे महलन माँ मुसकावै
ऐसो राज का हमका भावै । " 55

2· " काँग्रेस के राज में
आयो नहीं वसंत
अपत कटीली डार के,
गावत हैं गुन पंत ।

x x x x

यश अपयश विधि हाथ है
नहिं नेतन को जोर ।
चहै देख बाढ़े बड़े
सेठ महाजन चोर ।
रचना ऐसी रचि रहै
राम राज के वीर ।
सुख धरती व्यापै नहीं
दिन दिन बाढ़ै पीड़ । " 56

ऐसी विडम्बनापूर्ण परिस्थिति से त्रस्त होकर जब कवि इस तथाकथित रामराज्य के लिए बद्दुआ मनाते हुए लिखता है --

" आग लगे इस राम राज में
ढोलक मढ़ती है अमीर की
चमड़ी बजती है गरीब की
खून बहा है रामराज में
आग लगे इस रामराज में " 57

- तो काव्यवस्तु एवं रूप तत्व दोनों ही लोक संवेदना एवं लोकाभि - व्यक्ति के इतने करीब हो जाते हैं कि यहाँ मौखिक और लिखित साहित्य की धाराओं का भेद मिट गया-सा प्रतीत होने लगता है । डॉ॰रामविलास शर्मा के शब्दों में यदि कहें तो " यहाँ आकर दोनों एक ही विशद लोक साहित्य की धरा में घुल-मिल जाती हैं । " 58

केदार की प्रयोग धर्मिता :-

जाहिर है कि केदारनाथ अग्रवाल प्रयोगवादी काव्यान्दोलन के दरम्यान भी सतत रचनारत थे। उन्हें अज्ञेय द्वारा सम्पादित सप्तकों में अपनी कविताओं का शुमार किया जाना स्वीकार्य नहीं हुआ था जिन्हें आज प्रयोगवादी काव्यान्दोलन का प्रामाणिक संकलन माना जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने कविता में नवीन प्रयोग नहीं किये हैं। हाँ, (उन्होंने केवल " प्रयोग " के लिए प्रयोग न करते हुए अपनी रचना-दृष्टि को सीमित होने से अवश्य बचाये रखा है। सच तो यह है कि कविता में सार्थक नवीन प्रयोगों के बेहतर उदाहरण हमें नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन जैसे सप्तकेतर प्रगतिशील कवियों की रचनाओं में ही प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए केदार की एक छोटी कविता देखी जा सकती है ---

" मैं ने उसको
जब-जब देखा,
लोहा देखा
लोहा जैसा
तपते देखा
गलते देखा
ढलते देखा
मैंने उसको
गोली जैसा
चलते देखा। " 59

इस कविता पर टिप्पणी करते हुए शमशेर ने ठीक ही लिखा है कि " यह पार्मीलिस्ट कविता नहीं है। यह प्रगतिशील कविता है और प्रयोगवादी (प्रचलित अर्थ में नहीं) कविता है। अंतिम दो पंक्तियों में एक विस्फोट जैसा है। स्थिति जो क्रम से परिवर्तित होती आगे बढ़ रही है सहसा अपने निशाने पर आकर बिजली की तरह स्पष्ट हो उठती है। यह किसी क्रांतिकारी का संक्षिप्त जीवन-चरित्र है। भगत सिंह ? आजाद ? पाठक जिसको चाहें इस चित्र में रखकर देखें। प्रखर बौद्धिक विकास के सार्थकतम जीवन का भी प्रतीक यह चित्र हो सकता है। " 60

सदोष प्रतिभा :-

यह ठीक ही कहा गया है कि महान प्रतिभा प्राय: निर्दोष नहीं हुआ करती। केदार-काव्य के संदर्भ में भी यह उक्ति पूरी तरह चरितार्थ होती है। वहाँ भी जब कभी " काव्यवस्तु " को उसके अनुकूल " रूप " से भिन्न किसी दूसरे फार्म में ढालने की कोशिश की गई है, कवि को प्राय: असफलता ही हाथ लगी है। केदार के यहाँ यह दुर्घटना कई बार किसी एक ही कविता के भिन्न अंशों में भी घटित होती हुई देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए उनकी " सोन - अगिन घाम " शीर्षक कविता द्रष्टव्य है जिसका आरंभिक हिस्सा तो रचनात्मक दृष्टि से काफी उत्कृष्ट बन पड़ा है पर अंतिम भाग को कमजोर होने से कवि बचा नहीं पाया है ---

" अंगारों की
सोन-अगिन निर्धूम शाम वह,
डूब गये रवि के उपरांत, अकेली,
उत्तर से दक्षिण तक,
क्षितिज पटल पर,
दारुण दुख से दह-दह दहकी,
नदी पार, फिर
जैसे कोई
इस युग का लाक्षागृह दहका,
कुरुक्षेत्र का महासमर फिर
रक्तपात कर गया अचानक
मेरे दिल में
दहल मच गयी ऐसी
रक्त-रक्त आरक्त हो गया मेरा चिंतन ।

x x x x x x x

तभी रात ने
केश खोल कर ढँक ली धरती,
दग्ध देश की देह केश के नाग-पाश में कैद हो गयी,
मेरे मन में
आग-अंधेरा एक हो गये,
सोन-अगिन निर्धूम शाम के
रक्तपात के बाद । " 61

इस कविता के अंतिम हिस्से को काव्यात्मक दृष्टि से कमजोर तथा पूरी कविता की मूल रचनात्मक प्रकृति के विरूद्ध बताते हुए डॉ॰रामविलास शर्मा ने लिखा है कि " यहाँ केदार संध्या, उसके बाद रात की तस्वीरों में देश दशा के चित्र को फिट कर रहे हैं । आरंभिक हिस्से का दृश्य - चित्रकारों के लैन्डस्केप की तरह-अपने में पूर्ण है, उस पर दूसरी तस्वीर चिपकाई जाये तो मूल चित्र का सौन्दर्य धुँधला हो जायेगा । "[62] इसके अलावा भी केदार की ऐसी कई कविताएँ देखी जा सकती हैं जिनमें से " कविता " लगभग गायब है । कहीं तो कविता के नाम पर सिर्फ कथन या सपाटबयानी है तो कहीं केवल स्थिति विशेष का चित्रण करके छोड़ दिया गया है । उदाहरण के लिए " पंख और पतवार " संग्रह की " शिकायत ", " आज का लेखन ", " सिनेमाई संसार " तथा " हिन्दी " आदि कविताएँ देखी जा सकती हैं जिनमें प्राय: रचनात्मकता का अभाव है । कई जगहों पर तो कविता केवल काव्यमय-गद्य होकर रह गई है । दूसरे शब्दों में कहें तो इन कविताओं के विषय चयन में ही कवि से भूल हुई है । और यदि ऐसा नहीं है तो निश्चय ही कवि कविता के विषय को काव्यवस्तु में तत्वांतरित करने में विफल रहा है जिसके बाद ही उसके सामने " रूप " चयन की समस्या आती है ।

तुकविधान :-

ऐसे तो काव्य में छंदविधान एवं तुकविधान आदि पर केदार की अच्छी-खासी पकड़ है जिससे उनकी कविता में एक हद तक प्रवाह हरदम बना रहता है पर कई बार वहाँ तुक मिलाने के आत्यंतिक आग्रह से बेतुकापन पैदा होते भी देखा जा सकता है । उदाहरणार्थ उनकी एक कविता की चंद पंक्तियाँ द्रष्टव्य है --

" यह धरती है उस किसान की

x x x x x

नहीं कृष्ण की
नहीं राम की
नहीं भीम, सहदेव, नकुल की,
नहीं पार्थ की
नहीं राव की, नहीं रंक की
नहीं तेग, तलवार धर्म की
नहीं किसी की, नहीं किसी की
धरती है केवल किसान की । " 63

यहाँ यदि " नहीं रंक की " पंक्ति को " धरती है केवल किसान की " पंक्ति से जोड़कर पढ़ा जाय तो तुकबंदी के व्यामोह के कारण कविता को हुई क्षति का अंदाजा लगाया जा सकता है । किन्तु कवि ने जहाँ छोटी तुकांत कविताओं की रचना की है वहाँ उसे एक हद तक सफलता मिली है —

" कैसे जिये कठिन है चक्कर
निर्बल हम बलीन है मक्कर
तिलइन ताबड़तोड़ कटाकट
हड्डी की लोहे से टक्कर । " 64

बिम्ब एवं प्रतीक विधान :-

केदार की कविता में अनेकानेक बिम्बों का सार्थक एवं सटीक प्रयोग हुआ है। इसका एक कारण यह भी है कि वे आरंभ से ही रचना में हर प्रकार के अमूर्तन के विरोधी रहे हैं। इसीलिए केदार के काव्य में यथार्थ के मर्म को उसी के बीच सिरजती दृश्यमयी भाषा में पकड़ने की प्रवृत्ति प्रधानता के साथ परिलक्षित होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो केदार-काव्य में जो बिम्ब दृष्टिगत होते हैं उनकी प्रकृति रोमांटिक कवियों की कविताओं में आए बिम्बों से भिन्न है। वहाँ हमें रूमानी वायवीयता एवं कल्पनाशीलता के अतिरेक की जगह एक प्रकार की स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए केदार की कुछ काव्यपंक्तियाँ देखी जा सकती हैं ---

1. " देख आया चन्द्रगहना
देखता हूँ दृश्य अब मैं
मेड़ पर इस खेत की बैठा अकेला
एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सज कर खड़ा है। " 65

2· " आर पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डँटा खड़ा है ।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है ;
नोकीले भाले ताने है ;
हिम्मत वाली लाल फौज-सा
मर मिटने को झूम रहा है । " 66

किन्तु इसी के साथ यह भी सच है कि केदार-काव्य में कुछ बिम्ब बेहद उलझे हुए हैं । अनुभव एवं अभिव्यक्ति के बीच संतुलन बरकरार न रखते हुए रचनाकार ने जहाँ कहीं भी अनुभव पर ज्यादा बल देते हुए अभि - व्यक्ति पक्ष को दरगुजर कर दिया है अथवा इसके विपरीत अभिव्यक्ति का जहाँ अनुभव से ठीक-ठीक तालमेल बैठा पाने में वह अक्षम रहा है, वहाँ अभिव्यक्ति का चमत्कार तो उत्पन्न हो गया है पर कविता में कवि का अनुभवलोक तल तक साफ नहीं दीख पाता । उदाहरण के लिए केदार की एक कविता ले जिसमें अनुभव एवं अभिव्यक्ति के बीच संतुलित स्थिति का अभाव दृष्टिगत होता है ---

" आज
अभी आँखों से
पर्वतीय निर्जन के
धुन्ध भरे घेरे में,
कैद खड़े पेड़ों के
मौन पड़े डेरे में,
पातहीन डालों के

आखिरी किनारों पर
पीत पगे फूलों के
आरसी कपोलों पर
दिन में ही
जगर-मगर
दीप जले देखे हैं ।" 67

केदार की यह कविता व्याख्या-विश्लेषण की दृष्टि से हमारे लिए इसलिए भी विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि कवि ने 13 सितम्बर 1981 को भोपाल में आयोजित " महत्व : केदारनाथ अग्रवाल " के नाम से आयोजित अपने सम्मान समारोह में व्याख्यान देते हुए खुद इसकी विस्तार से व्याख्या की है । इस अवसर पर उन्होंने कहा कि " इस शब्दावली का प्रयोग मैं ने इसलिए नहीं किया है कि आप मुझे सौन्दर्यवादी कहें या इन कविताओं को आप छोड़ दें, कि यह तो केदार की लिखी सौन्दर्यवादी-रूपवादी कविताएँ हैं, फार्मलिस्ट कविताएँ हैं । यह आपको जीवन जीने के लिए प्रेरित करेंगी । x x x x

x x x यहां आप भी देखिए, कैद क्यों कहा - यहां कोई जेल तो है नहीं । कुछ बोल नहीं पाते हम, हमारी स्थिति दयनीय हो गई है । हम अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पाते । क्या कहें ? किससे कहें ? कोई सुनने वाला नहीं है दुख दर्द ।

पातहीन डालों के
आखिरी किनारों पर,

यहाँ मैंने पातहीन लिख दिया, तो कोई गुनाह नहीं किया, मैंने नहीं उसके पत्ते तोड़े । यह प्रकृति जो है, प्रकृति है, पेड़ है, सबको वही स्थिति है, जो आज के मनुष्य की है ।

x x x x

पीत पगे फूलों के
आरसी कपोलों पर
दिन में ही जगर-मगर
दीप जले देखे हैं ।

धूप है, यात्रा करते समय का दृश्य है । सूरज है । और बड़े-बड़े बँगले हैं । रेल दौड़ती है । यह बेचारे पथरीली जमीन पर खड़े पेड़, अपनी जीवन शक्ति को वहाँ से खींच कर आपको फल दे रहे हैं । इसे स्वीकार तो कीजिए । यह कहाँ की बौद्धिकता होगी, यह कहाँ का दार्शनिक विचार होगा कि आप उनको अस्वीकार करें । तो मैंने इसी दृष्टिकोण से इस कविता को पाया है ।" 68

इस रचना में अनुभव और अभिव्यक्ति की बीच का अंतराल स्वतः स्पष्ट है । कवि जो बिम्ब खड़ा करना चाह रहा है, उसमें उलझाव है । इसीलिए इसको डिफेन्ड करने के लिए जो व्याख्या उसने प्रस्तुत की है वह भी उलझी हुईहै । निर्जन पर्वतीय प्रदेश में विरोधी स्थितियों से लड़ते-भिड़ते पेड़, जो पत्र विहीन हैं, वे पुष्पों से लदे हुए कैसे हो सकते हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता । अपनी व्याख्या में तो कवि ने फल की भी

बात की है । फिर उनके आरसी कपोलों पर कवि ने रेल-यात्रा के दौरान जगमगाते हुए दीपों को कैसे और कहाँ से देखा और इसके द्वारा वह कहना क्या चाहता है, मेरी समझ से यहाँ स्पष्ट नहीं हो पाया है ।

इसी प्रकार जब कवि धूप को खरगोश बनाकर अपनी एक कविता में उसे पलंग पर बिठाते है तो वहाँ धूप गायब हो जाती है और उसकी जगह केवल खरगोश ही दृष्टिगत होता है --

> " धूप नहीं, यह
> बैठा है खरगोश पलंग पर
> उजला
>   रोएँदार, मुलायम --
> इसको छूकर
> ज्ञान हो गया है जीने का
> फिर से मुझको । " 69

प्रतीक विधान की दृष्टि से केदार के काव्य में प्रयुक्त स्वतंत्र प्रतीकों से भिन्न वहाँ हमें अनेकानेक ऐसे उदाहरण भी देखने को मिलते है जबकि कवि ने बिम्बों को प्रतीक में ढालने की सफल चेष्टा की है । कहना न होगा कि कविता में प्रतीकों के स्वतंत्र प्रयोग के मुकाबले यह दूसरा कार्य केवल केदार जैसे कुछ सधे हुए कवियों के ही वश की बात है । उदाहरण के लिए उनकी एक रचना देखी जा सकती है ---

समुद्र वह है
जिसका धैर्य टूट गया है
दिक्काल में रहे-रहे ।
समुद्र वह है
जिसका मौन टूट गया है
चोट पर चोट सहे-सहे ।

यहाँ कवि ने पहले बिम्ब निर्मित कर फिर उसे प्रतीक में ढालने की जो सफल कोशिश की है उसका बारीक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए डॉ॰राजकुमार शर्मा लिखते हैं कि " पहले अर्थस्तर पर " समुद्र " मद्धिम स्तर से धीरे - धीरे तीव्र होते संवेग का असर देने वाले बिम्ब को सामने लाता है । धीरे-धीरे इस मूर्त प्रभाव का विलयन एक विचार में होता है । पर बिम्ब के घुलते मूर्त प्रभाव की अनुगूँज बनी भाव-संवेदना विचार के नये स्तर को धीरे-धीरे उकसाती है । " समुद्र " कवि को " मुक्तिकामी चेतना " का प्रतीक बनता है । पहले वैयक्तिक स्तर पर वह दिक्काल के अक्ष से मुक्त होना चाहती है । यहाँ तक यह व्यक्ति की दार्शनिक समस्या-सी लगती है । दूसरे स्तर पर वह दमन और शोषण से मुक्ति की सामूहिक कामना में रूपांतरित होती है । " 70

काव्य भाषा :-

किन्तु ऊपर विवेचित कविता की भाषिक संरचना पर यदि हम गौर करें तो स्पष्ट होगा कि यहाँ " दिक्काल में रहे रहे " की तुक मिलाने के लिए कवि ने " चोट पर चोट सहे-सहे " का जो इस्तेमाल किया है वह एक हद तक भाषिक अनगढ़ता का नमूना है । जिसकी ओर

शमशेर ने भी अंगुली उठाई है । जाहिर है कि यहाँ " चोट पर चोट सहते-सहते " प्रयोग ज्यादा सही होता । इसी प्रकार शमशेर ने " हथौड़े का गीत " के कुछ अंशों की भाषिक संरचना पर जो प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है उसमें भी दम-खम है । इस रचना के प्रारंभिक अंश में एक अद्‌भुत प्रवाह है —

" मार हथौड़ा
कर कर चोट
लाल हुए काले लोहे को
जैसा चाहे वैसा मोड़ । "

परन्तु दूसरे एवं चौथे हिस्से के भाषिक विन्यास में एक हद तक अनगढ़ता के दर्शन होते हैं ‡ ---

" मार हथौड़ा
कर कर चोट
थोड़े नहीं अनेकों गढ़ ले
फौलादी नरसिंह करोड़ ।

x x x x x

दुनिया की जाती ताकत हो
जल्दी छवि से नाता जोड़ । " 7।

यहाँ शमशेर " अनेकों " और " करोड़ " को मद्देनजर रखते हुए लिखते हैं कि " करोड़ " अनेकों " की परिभाषा में आया है। बात जमती नहीं। " ऐसे भी, अनेकों शब्द अशुद्ध है। इसी प्रकार अंतिम अंश पर शमशेर की टिप्पणी है कि " फौलादी नरसिंह से कहा जा रहा है — जल्दी कर, छवि से नाता जोड़। स्पष्ट है कि " छवि " का आशय यहाँ मात्र छायावादी होकर रह गया है। " 72

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि केदार का पूरा का पूरा काव्य भाषिक विन्यास की दृष्टि से अनगढ़ है। सच तो यह है कि उनकी अधिकांश कविताएँ भाषिक संरचना की दृष्टि से बेहद चुस्त-दुरूस्त हैं। उनकी काव्यभाषा में एकप्रकार की स्वाभाविक सहजता है जिसके कारण प्राय: वहाँ सम्प्रेषणीयता बाधित नहीं होती। इसके साथ ही हमें वहाँ जनभाषा (अवधी) का सार्थक प्रयोग एवं निखरा हुआ काव्यमय रूप भी दिखाई पड़ता है। तद्भव एवं देशज शब्दों से बनी केदार की काव्यभाषा जब वर्तमान जीवन की सामाजिक अन्तर्वस्तु को किसी परम्परागत गत्वर " रूप " में ढालकर सामने लाती है तो कविता की धार अत्यंत ही तीक्ष्ण एवं दूर तक मार करने वाली बन जाती है। ऐसे वहाँ तत्सम शब्दों का भी भरपूर एवं सार्थक प्रयोग देखा जा सकता है।

निष्कर्ष :-

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि केदार-काव्य का रूपविधान जहाँ उसकी अन्तर्वस्तु की प्रकृति के अनुरूप है, जहाँ वस्तु और रूप एकमेकता की स्थिति में हैं, वहाँ बेहतरीन कविताओं का सृजन संभव हो सका है। इसके विपरीत जहाँ कहीं भी रचनाकार ने नये प्रयोगों के चक्कर में पड़कर शिल्प का चमत्कार प्रदर्शित करने की चेष्टा की है वहाँ चमत्कार भले ही उत्पन्न हो गया हो, पर कविता प्राय: रचनात्मक दृष्टि से स्खलित हो गई है।

त्रिलोचन - काव्य में अन्तर्वस्तु की विविधता :-

त्रिलोचन एक ठेठ भारतीय कवि हैं । उनके कवि की संवेदना एवं अभिव्यक्ति पद्धति दोनों ही में इस भारतीयता को देखा जा सकता है । भारत में रहनेवाला एक आम आदमी किसी बात को जैसे ग्रहण करता है और जिस प्रकार से अभिव्यक्त करता है, उसी का निखरा हुआ काव्यमय रूप हमें त्रिलोचन के यहाँ देखने को मिलता है । इसी कारण त्रिलोचन काव्य में एक खास किस्म की सरलता है जिससे तादात्म्य स्थापित करना किसी भी हिन्दी पाठक के लिए आसान है, बशर्ते भारत की ग्रामीण संस्कृति से उसका थोड़ा बहुत परिचय हो । ऐसे, त्रिलोचन-काव्य में ग्रामीण जीवन से पाठक के परिचय पर पड़ी तथाकथित आधुनिकता की गर्द-गुबार को फूँक मारकर उड़ा देने की भरपूर क्षमता है और इस प्रकार उनके काव्य से गुजरने पर कवि द्वारा तल्लीनतापूर्वक चित्रित ग्रामीण परिवेश से पाठक की आत्मीयता का बढ़ जाना स्वाभाविकही है । बसच तो यह है कि त्रिलोचन की कविताओं का पाठक उसमें चित्रित परिवेश के वैशिष्ट्य एवं अन्तर्विरोधों की वास्तविकताओं से पूरी तरह अवगत हुए बिना नहीं रह पाता ।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि त्रिलोचन निरे लोक कवि हैं और उन्हें अपने समय की बदलती हुई सामाजिक संरचना की कोई खबर नहीं है । वस्तुत: त्रिलोचन का कवि भारतीय ग्रामीण जीवन की सम - स्याओं से जितनी गहराई से परिचित है उससे कम परख उसे शहरी जीवन की नहीं है । यदि वे पूँजीवादी आधुनिकीकरण के फलस्वरूप गाँवों की कीमत पर मकड़ी के जाल की तरह दिनानुदिन फैलते शहरी वातावरण एवं वहाँ के जीवन की समस्याओं से परिचित नहीं होते तो उनके द्वारा " रैन बसेरा " जैसी कविता की रचना संभव न हो पाती । " मैं " शैली में

रचित इस कविता के उत्तम पुरूष द्वारा पहले काव्य-नायक परमानंद को शहर में बिना सोचे-समझे यहाँ-वहाँ टिकने पर संभावित खतरे से परिचित तो कराया जाता है पर बाद में उन्हें अपने यहाँ नहीं टिका पाने की विवशता के कारण उसे अत्यंत दुखी भी होना पड़ता है ---

" कमरा एक और रहने वाले तीन
पत्नी, बच्चा और मैं
चौथे की गुंजाइश यहाँ नहीं
मेरी अनकहनी चिंता
मेरी बिथा बना दी । " 73

सच तो यह है कि कवि त्रिलोचन का अनुभव लोक अत्यंत व्यापक है । उनकी कविता का फलक गाँव से लेकर शहर तक, ग्रामीण किसान एवं खेत मजूर से लेकर करखनियाँ मजूर तक तथा निम्न वर्ग एवं मध्य वर्ग की खस्ता हालत से लेकर श्रम से विरत अवकाशभोगी धन्नासेठ एवं भूस्वामी वर्ग तक प्रसरित है ।

त्रिलोचन - काव्य का रूपविधान :-

काव्य वस्तु ही नहीं, बल्कि रूपविधान की दृष्टि से भी त्रिलोचन-काव्य विविधवर्णी है । उसमें कहीं गद्यलय की उठान काव्य लय में तो कहीं काव्यलय का पर्यवसान गद्य की लय में होता हुआ दिखाई देता है । लेकिन कुल मिलाकर त्रिलोचन एक गद्यात्मक प्रकृति के कवि प्रतीत होते हैं । इन सबसे अलग उनके यहाँ सॉनेट जैसे विदेशी काव्य रूप का भी सफल प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि आज हिन्दी में त्रिलोचन और सॉनेट तकरीबन

एक-दूसरे के पर्याय-से बन गये हैं । अतः विचारणीय मुद्दा यह है कि कहाँ-कहाँ त्रिलोचन का काव्य रूपविधान की दृष्टि से स्खलित हो गया है और क्यों ? तथा कहाँ वे वस्तुतत्व की नैसर्गिक आकांक्षा के अनुकूल उसे " रूप " प्रदान कर श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि करने में सफल हो सके हैं।

त्रिलोचन-काव्य के शिल्प पक्ष पर विचार करते हुए शमशेर बहादुर सिंह ने अपने " एक बिलकुल परसनल एसे में लिखा है कि " मैं त्रिलोचन के शिल्प और शैली पर बहुत कठोर मत रखते हुए भी, उनकी कम-से-कम सौ से अधिक चीजों को दुनिया के अच्छे-से-अच्छे शिल्पी की रचनाओं के बराबर निःसंकोच रख सकता हूँ । उनके यहाँ जो कमजोरियाँ हैं, वह सहज ही कब की दूर हो सकतीं थी, मगर कई बातों की तरह भाषा और शैली पर भी इनके दृष्टिकोण में एकप्रकार का कट्टरपन है, एक कड़ापन । इस दिशा में मैं समझता हूँ कि इनके और मेरे बीच कहीं-न-कहीं बुनियादी मतभेद है । त्रिलोचन खड़ी बोली की हिन्दी भाषा और साहित्यिक अभिव्यक्ति के आधुनिक इतिहास मेंएक बड़ी महत्वपूर्ण कड़ी बनकर आते हैं। एक विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण उन्होंने अपने लिए, जाने या अनजाने जो सीमाएँ निर्धारित कर लीं है, उनको पार करके आगे बढ़ना, ऐसा लगता है, उनके लिए सहज नहीं है । मगर फिर भी उनके लिए संभव क्या नहीं है । " 74

शमशेर का उपर्युक्त मंतव्य इसलिए भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि यह किसी पूर्वाग्रही आलोचना-दृष्टि का फलाफल होने के बजाय एक सुधी रचनाकार एवं कवि मित्र की हैसियत से दिया गया संतुलित वक्तव्य है । इसके साथ ही सब जानते हैं कि अनेक बार खुद शमशेर ने त्रिलोचन

की कविताओं को ठीक-ठाक करने का कष्ट भी उठाया है और इस संदर्भ में उनके " सुचिंतन और श्रम " की सराहना स्वयं त्रिलोचन ने भी की है । 75 अपने इसी आलेख में शमशेर ने त्रिलोचन-काव्य की खूबियों एवं खामियों दोनो ही को पकड़ने का जो सूत्र बताया है वह अत्यंत काम का है —

" त्रिलोचन की कमजोरियों और शक्तियों दोनों को समझने के लिए यह हृदयंगम कर लेना बहुत उपयोगी है कि वह सामान्य को ही असामान्य का दर्जा देते हैं और उसी को व्यक्त करने के लिए कृत-संकल्प हैं । वह सपाट और स्पष्ट शैली में ही विश्वास करते हैं। ‖ सपाट का मैं स्ट्रेट के अर्थ में प्रयोग कर रहा हूँ । ‖ यह सपाट स्पष्टता भाव, विचार और अनुभूति तीनों के अर्थ हैं : और अक्सर अनुभूति की धरा पर अनुलक्षित ड्रामे को व्यक्त करने के लिए ; — जिसमें भाषा का किंचित भी लालित्य या " साहित्यकपन " उसे अयथार्थ बना देगा ; जो त्रिलोचन को सह्य नहीं होगा । कविता मात्र अनुभूति की विशिष्टता में होगी ; नहीं तो फिर नहीं ही होगी । उसके लिये और कोई उपादान, और कोई आदान नहीं, जहाँ तक भी संभव है ।" 76

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि शमशेर की दृष्टि में सहजता ही त्रिलोचन-काव्य का प्राण है । उनके यहाँ इस सहजता को काव्यवस्तु एवं रूपविधान, दोनो ही स्तरों पर घटित देखा जा सकता है । जहाँ उन्होंने जटिल काव्यवस्तु को उठाकर उसे सहज " रूप " में विन्यस्त करने की असफल चेष्टा की है, वहाँ कविता कुछ हद तक लड़खड़ा गई सी प्रतीत होती है पर अधिकांश कविताओं में त्रिलोचन अपनी स्वाभाविक सहजता एवं संयमित स्वर के बावजूद कुछ इस रूप में उपस्थित होते हैं कि

उनके सामान्य रचाव में भी एक प्रकार का वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है । अपनी कविता के बारे में उन्होंने ठीक ही दावा किया है --

" शब्दों के द्वारा जीवित अर्थों की धारा
मैं ने आज बहा दी है जिसके दो तट हैं
एक भाव का एक रूप का । निकट निकट हैं
चाहे दूर दूर दिखते हों । जो भी हारा --
थका यहाँ पहुँचेगा वह तन मन में न्यारा
तेज ओज पाएगा, लक्षण सभी प्रकट हैं
हुलसी हरियाली से उपचित हैं, उद्भट हैं --
वचन प्राण का परितोषण करते हैं सारा । " 77

कहना न होगा कि कविता अन्य कलाओं से इस कारण से भी भिन्न है कि इसकी संरचना मात्र भाषिक होती है तथा इसकी संरचना की व्याख्या का एक मात्र माध्यम भाषा ही है । अतः कवि के सामने अपनी " काव्यवस्तु " को उसके अनुकूल " रूप " प्रदान करने की जो चुनौती होती है इसके लिए उसे भाषा के स्तर पर भी एक प्रकार का रचनात्मक संघर्ष करना पड़ता है । त्रिलोचन ने संभवतः अपने इसी संघर्ष की इशारा करते हुए लिखा है --

" शब्दों में उन अर्थों को मैं कैसे लाऊँ
जो आमों की टहनी टहनी में फल बन कर
झूल रहे हैं, जंगल में देखा है तन कर
सिंह किस तरह चलता है, किस विधि से पाऊँ

धरती का सा धैर्य दृगों में व्योम बसाऊँ
फिर यह छवि उरेहता जाऊँ। मन से छन कर
रूप और से और बनेंगे तन मन धन कर
कैसे उसको मूर्त बनाऊँ और सजाऊँ। " 78

वस्तुत: यह कविता रचना-प्रक्रिया के क्रम में कवि त्रिलोचन द्वारा काव्यवस्तु को सही रूप प्रदान करने के लिए उनकी तत्परता एवं सजगता का प्रमाण देती है। उसके पास साधन के रूप में मात्र शब्दों की ही पूँजी है, जिनकी शक्ति में कवि को पूरी आस्था है —

" शब्दों से ही वर्ण गंध का काम लिया है
मैंने शब्दों को असहाय नहीं पाया है
कभी किसी क्षण " 79

<u>सॉनेट का फार्म</u> :-

जाहिर है कि त्रिलोचन ने एक बड़ी संख्या में सॉनेट की रचना की है, और सैनेट-जैसा कि सर्वविदित है - हिन्दी में अंग्रेजी कविता के प्रभाव से आया है। अंग्रेजी में सैनेट तीन प्रकार के होते हैं — पेट्रार्कियन, स्पेन्सेरियन एवं शेक्सपीरियन या इंग्लिश सैनेट। सैनेट की रचना फ्रांस को छोड़कर प्राय: सभी पश्चिमी देशों में " आयम्बिक पेण्टामीटर " में ही होती है। फ्रांस में इसे आयम्बिक हेक्सामीटर में लिखा जाता है। सैनेट के उपर्युक्त तीनों प्रकारों में पेट्रार्कियन एवं शेक्सपीरियन सैनेट ही पश्चिमी साहित्य में मुख्य रूप से प्रचलित हैं। चौदहवीं सदी में इतालवी भाषा के कवि पेट्रार्क ने

सौनेट को अष्टक ॥ आक्टेव ॥ एवं षष्ठक ॥ सेस्टेट ॥ में विभाजित करते हुए जो तुक-विधान निश्चित किया था वह इस प्रकार था ---

अष्टक : गम मग गम मग

षष्ठक : स र प स र प ।

हालांकि सैद्धांतिक तौर पर अष्टक एवं षष्ठक के बीच वहाँ विराम की स्थिति का विधान किया गया था पर व्यावहारिक तौर पर वहाँ तुकों का नियम ही ज्यादा महत्वपूर्ण रहा । पेट्रार्कियन सौनेट में तुकों के निर्वाह का जो बंधन है, वह अंग्रेजी भाषा की प्रकृति के अनुरूप नहीं है । इसलिए आगे चलकर वहाँ सौनेट का एक ऐसा रूपविधान निर्मित किया गया जिसमें यह बंधन अपेक्षाकृत शिथिल था । सौनेट के इस नये रूपप्रकार में पूरी कविता को अष्टक एवं षष्ठक में विभाजित करने के बजाय उसे चार खण्डों में बाँटा गया तथा प्रथम तीन खण्डों ॥ बारह पंक्तियों ॥ को तीन चतुष्पदियों में बाँधकर अंतिम दो पंक्तियों को एक अलग इकाई बना दिया गया जिसमें वस्तुत:पूरी कविता में अन्तर्भुक्त मुख्य संदेश अथवा केन्द्रीय विचार विन्यस्त होता है । [80]

<u>त्रिलोचन के सौनेटों में वस्तु रूप सम्बन्ध :-</u>

जहाँ तक त्रिलोचन रचित सौनेटों का प्रश्न है, उन्होंने उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के सौनेटों की रचना की है । शेक्सपीरियन पद्धति के अनुसार रचित उनके सौनेट मुख्यत: " दिगंत ", " अनकहनी भी कुछ कहनी है ", तथा " तुम्हें सौंपता हूँ " जैसे संग्रहों में संगृहीत हैं । उनके शेष काव्य-संग्रहों में पेट्रार्की पद्धति वाले सौनेट ही दृष्टिगत होते हैं । अब सवाल यह उठता है कि

आखिर मुक्तछंद की कविता के इस युग में त्रिलोचन ने सॉनेट जैसे परम्पराबद्ध पश्चिमी काव्य रूप को ही क्यों अपनाया ? जबकि इसमें छंदों का ही नहीं, तुकों का बंधन भी अत्यंत कठोर है । इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि त्रिलोचन ने क्या केवल इसी कारण से बड़ी संख्या में पेट्रार्कियन पद्धति वाले सॉनेट रचे हैं कि हिन्दी में तुकांत शब्दों की भरमार है ? इन दोनों ही प्रश्नों का समुचित एवं सुचिंतित उत्तर देते हुए डॉ॰नन्द किशोर नवल ने लिखा है कि "वे हिन्दी के छायावादोत्तर कवियों में एकमात्र ऐसे कवि हैं, जो कविता में रूप और वस्तु के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को अत्यंत गहराई से समझते हैं और अपनी कविताओं द्वारा लगातार इसे उदाहृत करते रहते हैं ।" डॉ॰नवल का साफ कहना है कि त्रिलोचन की कविताओं (सॉनेट) को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि "उनकी वस्तु सॉनेट के लिए ही बनी है और उसमें सॉनेट का जो रूप है, वह वस्तु से ही बना है । इस प्रकार यह काव्य-रूप उनकी कविताओं पर आरोपित नहीं है, बल्कि एक रचनात्मक अनिवार्यता की देन है ।" इसके साथ ही नवल जी ने त्रिलोचन-काव्य विषयक अपने विवेचन क्रम में कवि की तुक-योजना तथा उसके द्वारा नियोजित तुकों की जड़ का संधान भारतीय काव्यशास्त्र एवं छंदशास्त्र में किया है । उनके शब्दों में "हिन्दी का एक प्रसिद्ध छंद है - कुंडलिया । इसमें कुल छः चरण होते हैं और इसके आरंभिक दो चरण दोहे से तथा शेष चार चरण रोला से बने होते हैं । इसके अलावा दोहे का चौथा चरण रोला के अंतिम चरण का पूर्वार्द्ध होता है और दोहे के प्रथम चरण के आरंभ के कुछ शब्द रोला के अंतिम चरण के अंत में आते हैं । इस आवृत्ति से एक कुंडल बनता है, जिससे कुंडलिया छंद में कसाव के साथ-साथ एक नये संगीत और सौन्दर्य की सृष्टि होती है ।

सौनेट और खासकर पेट्रार्की सौनेट में हमे तुक-योजना के कारण यही चीज अत्यंत उन्नत रूप में देखने को मिलती है । त्रिलोचन के सारे सौनेट रोला छंद में ही रचे गये हैं । यह मात्र संयोग नहीं है । " 8।

वस्तुत: त्रिलोचन ने सौनेट के रूप में एकपरम्पराबद्ध पश्चिमी काव्य-रूप को तो अवश्य अपनाया है पर उन्होंने रोला दंछ के मात्रिक संगीत मे ढालकर इसका एक अलग साँचा तैयार किया है, जो पूरी तरह हिन्दी की आंतरिक लय से मेल खाता है । त्रिलोचन का हिन्दी जाति के साथ जो अभिन्न रचनात्मक सम्बन्ध रहा है उसी का एक विशिष्ट रूप उनके सौनेटों में दिखाई पड़ता है । अत: सौनेट के लिए रोला जैसे विशिष्ट छंद की खोज उनकी हिन्दी भाषा की प्रकृति की पहचान का एक और सशक्त उदाहरण है । इसके साथ ही यदि हम त्रिलोचन द्वारा प्रयुक्त सौनेट के शिल्प के संदर्भ में हिन्दी में गद्य कविता (प्रोज पोयम) के लिए एक नये छंद की संभावना पर विचार करें तो उनके सौनेट हिन्दी में गद्य कविता के लिए प्रस्थान बिन्दु सिद्ध हो सकते हैं । वस्तुत: त्रिलोचन ने हिन्दी कविता को एक नये छंद से परिचित कराया है और यदि हिन्दी कविता के भावी शिल्प का आकलन किया जाय तो यह एकमात्र छंद व्यवस्था हो सकती है । अत: उनके सौनेटों को हम " सौनेट " जैसे विदेशी छंद के रूप में समझने के बजाय यदि उसे हिन्दी के पारम्परिक रोला छंद के रूप में ग्रहण करें तो कवि के साथ ज्यादा न्याय हो सकेगा । त्रिलोचन के छंद की इस समझ के सहारे ही हम उनके काव्य के भारतीय पहलू को ठीक-ठीक समझ सकते हैं ।

गद्य कविता { प्रोज पोएम } :-

अज्ञेय के नक स्थान पर कदाचित कविता की संरचना पर विचारते हुए लिखा है कि " आज भी मेरे सामने जो समस्या है, और जिसका हल पा लेना मैं अपने कवि - जीवन की चरम उपलब्धि मानूँगा, वह अर्थवान शब्द की समस्या है । काव्य सबसे पहले शब्द है । और अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है । सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से नि:सृत होते हैं । शब्द का ज्ञान शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़-ही कृतिकार को कृति बनाती है । ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते और इसी में विलय होते हैं । इतना ही नहीं, सारे सामाजिक संदर्भ भी यहीं से निकलते हैं: इसी में युग सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है । " 82

जाहिर है कि अज्ञेय ने यहाँ कविता को शब्द केन्द्रित विधा माना है । किन्तु जब वे " दूसरा सप्तक " की भूमिका में लिखते हैं कि " भाषा के विकास के क्रम में कविता की भाषा निरन्तर गदय की भाषा होती जाती है, " 83 तो स्वाभाविक रूप से सवाल उठता है कि जब कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती हुई अंतत: गदय काव्य की संरचना में अपनी भूमिका अदा करने लगेगी, क्या तब भी वह शब्द केन्द्रित रह पाएगी ? मेरी समझ से ऐसी स्थिति में कविता की इकाई के रूप में शब्द की जगह वाक्य की भूमिका ज्यादा महत्वपूर्ण होगी । ऐसे भी, चूँकि कविता में शब्द हैं अत: काव्यात्मक तर्क से उनके एक-दूसरे के निकट होने के संयोग से

यदि वाक्य बन जाए तो वह कविता में और अधिक प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकता है । उदाहरण के लिए त्रिलोचन रचित एक गद्य कविता का एक अंश देखना प्रासंगिक होगा —

" शहरों में आदमी को आदमी नहीं चीन्हता । पुरानी पहचान भी बासी होकर बससाती है । आदमी को आदमी की गन्ध बुरी लगती है । इतना ही विकास, मनुष्यता का, अब हुआ है । "

{ आलोचना - 82, पृ·13 }

वाक्य विन्यास एवं भाषा संवेदना :-

त्रिलोचन-काव्य में जो अनगिनत सूक्ति वाक्य हमें प्राप्त होते हैं वे कविता के प्रभाव को और बढ़ाते ही हैं । इस संदर्भ में उनका कवि - कौशल वहाँ देखा जा सकता है जबकि वे सैानेट के छंदों-तुकों की कठोर पाबंदी का पूरी तरह निर्वाह करते हुए भी अपने गदयात्मक वाक्य विन्यास की सरलता को सम्पूर्णत: सुरक्षित रख पाते हैं । अनेक बार तो उनके सैानेट में प्रयुक्त गद्यात्मक वाक्य-विन्यास साधारण बोलचाल की भाषा के बिलकुल करीब आ जाता है —

दुपहर थी जेठ की । हवा भी चलकर ठहरी थी ।
नीम की छाँह । चलता कूआँ । मुड़े । चले हम
तुम । प्यास बढ़ी थी और थकन भी गहरी ।

घनी छाँह देखी । जा बैठे पेड़ के तले ।
घमा गये थे हम । फिर नंगे पाँव भी जले
थे । भर गया पसीना, जी भर बैठ जुड़ाये
लोटा डोर फाँसकर जल काढ़ा । पिया ।
भले चंगे हुए । हवा ने जब-तब वस्त्र उड़ाये ।

इसी प्रकार नीचे उद्धृत उनके एक सॉनेट के षष्ठक की पंक्तियाँ भी काव्य-भाषा एवं बोलचाल की भाषा के समीप होने का अच्छा उदाहरण है, पर इसका वाक्य विन्यास ऊपर के उद्धरण के मुकाबले थोड़ा पदयात्मक है —

" प्रिय लगती है बहुत, घमौनी ; घाम देखकर
लोग कहीं जमते हैं, गाएँ और बकरियाँ
खड़ी धूप में मौज लिया करती हैं, सर्दी
इसी तरह जाती है । घर से मीन-मेख कर
आती हैं महिलाएँ, आती हैं सुंदरियाँ ;
कुत्ते करते रहते हैं आवारागर्दी । " 84

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि त्रिलोचन का काव्य केवल काव्य-भाषा को जनभाषा के करीब लाने के क्रम में किया गया अकाव्यात्मक प्रयोग मात्र है । वस्तुत: त्रिलोचन अपनी कविता में वस्तु-रूप के बीच सामंजस्य के आग्रही हैं । इसलिए जब काव्यवस्तु लोकजीवन से ली जाएगी उसे अभिव्यक्ति देने वाली काव्यभाषा का भी लोकभाषा के करीब आ जाना अस्वाभाविक नहीं है । जिन कवियों के पास वस्तु-रूप के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की पहचान का अभाव होता है वे अपनी कविता में

वस्तु की नैसर्गिक आकांक्षा के विपरीत कभी तो संस्कृत शब्दों की और कभी लोकभाषा के शब्दों की अनावश्यक ठूँस-ठाँस करके तैयार की गई गद्य पंक्तियों को ही कविता के नाम पर आड़ी-तिरछी रेखाओं में सजा दिया करते हैं जिसके फलस्वरूप रचना से स्वाभाविकता का प्राय:लोप हो जाता है। कविता में अनुभव और अभिव्यक्ति के बीच संतुलन न रख पाने वाले ऐसे ही फैशनपरस्त जनकवियों की खबर लेते हुए त्रिलोचन के अपने एक सॉनेट में लिखा भी है —

" हो तुम भी घोंचू ही। भाषा, छंद, भाव के
पीछे जान खपाते हो। लद गया जमाना
इन का। छोड़ो भी। आओ, अब से मनमाना
लिखा करो। गद्य ही ठीक है। अब कटाव के
ढब बदले हैं। बोल चढ़े हैं भाव ताव के।
लिखो, लिखो कुछ, बहुत सरल है कवि कहलाना।

x x x x

विषय नहीं सूझता ? अजी तुम लिख दो " ढेला "
इसके बाद लिखो " हँसता था "। इसके आगे ?
बहुत खूब, आ हा, " भीनी सुगंध उड़ती थी।
फिर नभ में उमड़ा घुमड़ा मेघों का मेला,
सन्नाटा छा गया, धरा पर अंकुर जागे। "
यह प्रयोग है, कलम जिधर चाहा, मुड़ती थी। " 85

रूपवाद का विरोध :-

कहना न होगा कि काव्य-रचना के बहाने कव-कर्म को मजाक बना देने वाले इन " घोंघूं " कवियों से ज्यादा खतरनाक चरित्र उन रचनाकारों का होता है जो शिल्प के उस्ताद तो होते हैं, पर अपनी इस उस्तादी को ही वे कवि-कर्म की इति मान लेते हैं । ऐसे रूप-शिल्प के आग्रही रचनाकारों की कविता में जनपक्षधरता की बात तो दूर, अनेक बार वहाँ भावपक्ष की कीमत पर चमत्कार सृजन का आत्यंतिक आग्रह दिखाई देता है । त्रिलोचन का कवि इन तमाम स्थितियों से भली-भाँति अवगत है ––

" भाषा कितना छिपा लिया करती है
अपनी पर्तों में, मनुष्य का केवल चेहरा
रह जाता है, केवल अभिनय की उस्तादी
खेल दिखाया करती है । " 86

कविता की अन्तर्वस्तु को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति देने के लिए समुचित काव्यभाषा तलाशने का उनका संघर्ष कितना गहरा है, यह नीचे उद्धृत उनकी काव्यपंक्तियों से भी पता चलता है ––

" भाषा के भी पर प्राण लहरें लेता है,
उगता है, बढ़ता है और पल्लवित होकर
अपने पाँव खड़ा होता है, इसके द्वारा
और और भी उठते हैं । " 87

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, त्रिलोचन न तो निरे लोक कवि हैं और न ही उनकी काव्य भाषा जनभाषा के शब्दों की अनावश्यक ठूँस-ठाँस की कृत्रिमता से ग्रस्त है। सच तो यह है कि आवश्यकता पड़ने पर कई बार कवि ने अपनी काव्यवस्तु को संस्कृतनिष्ठ तत्सम पदावली में भी विन्यस्त किया है —

सुविकसितांतर्भाव - निपीतवारि - वनराजी
सुदलच्छाय-प्रफुल्ल-लता-वीरुध-तरू-ललिता
श्रावण - धारासार - पोषिता ईरण - चलिता
बहुनी वर्णाकार - प्रसून - शोभिता भ्राजी
मेघश्याम - दिगंत - वलय में। बहुधा गाजी
अचिरप्रभा। वनांत भूमि मिहिकासंकलिता,
निनदमान - नद विग्न, नदी - चादर उच्छलिता,
वेश नवीन नवीन। दिवा रजनी ने साजी
अपनी ध्वनि का धार षड्ज से, खग-मृग - जलचर
जीवन के आघात झेल कर जीवमान हैं,
हस्ति - महिष - वाराह उल्लसित घूम रहे हैं
वारिद का निर्घोष श्रवण कर। वसुधा गल कर
शिथिलबंध निस्पाय पड़ी है, विहग गान हैं
जल के तल पर और विटप सब झूम रहे हैं। • 88

संरचनात्मक संश्लिष्टता की दृष्टि से त्रिलोचन की यह कविता हरिऔध के " रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय मालिका शकेन्दु बिम्बाधना " के मुकाबले निराला की अनेकानेक संस्कृत निष्ठ पदावलियों के ज्यादा करीब है। वर्षा ऋतु का ऐसा जीवंत वर्णन हिन्दी में कम ही दिखाई देता है। पेट्रार्कियन

सौनेट के शिल्प में रचित इस कविता में जोरों से रोर करती हुई धारासार वर्षा के वर्णनक्रम में संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग से जो नाद सौन्दर्य उत्पन्न हो सका है वह चूँकि संस्कृतिनिष्ठ पदावली के बिना लगभग असंभव था, इसलिए हमें लगता है कि इसे इसी रूप में विन्यस्त करना एक प्रकार से कविता की रचनात्मक आवश्यकता थी । इस संदर्भ में विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि संस्कृतनिष्ठ पदावली का प्रयोग करते हुए भी रचना-क्रम में कवि ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि संस्कृत शब्दावली हिन्दी शब्दों के यथोचित प्रयोग से प्राणवान बनी रहे । इसी कारण ऊपर उद्धृत सौनेट के षष्ठक की दूसरी पंक्ति में " जीवन के आघात झेलकर जीवमान हैं " तथा अंत में " विहग गान हैं जल के तल पर और विटप सब झूम रहे हैं " जैसा हिन्दी का वाक्य-विन्यास भी वहाँ प्रयुक्त हुआ है । वस्तुत: त्रिलोचन के कवि ने अपनी अन्तर्वस्तु की प्रकृति की आवश्यकता के अनुरूप काव्यभाषा के कई स्तरों का निर्माण करते हुए हिन्दी में निहित भाषागत संभावनाओं का भी खुलासा किया है । कविता की अन्तर्वस्तु जब केवल सामान्य यथार्थ चित्रण से सम्बन्धित होगी तो उसकी अभिव्यक्ति के उपादानों का भी खालिस यथार्थपरक होना अत्यावश्यक होगा । अन्यथा शमशेर के शब्दों में " भाषा का किंचित भी लालित्य या साहित्यिकपन उसे अयथार्थ बना देगा । " इससे विलग जब कविता के वस्तुगत यथार्थ दृश्यों से कवि कल्पना जुड़ेगी तो ऐसे कवित्वपूर्ण दृश्यों के अंकन के क्रम में प्रयुक्त काव्यभाषा भी पहले से स्वाभाविक रूप से भिन्न होगी । अत: काव्यभाषा की संवेदनशीलता की परख के अभाव में त्रिलोचन या किसी भी अन्य कवि की कविताओं की संरचना पर बेतुकी टिप्पणी करना मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं है ।

डॉ॰परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि " त्रिलोचन के यहाँ एकदम अपरिचित अप्रचलित संस्कृत के तत्सम शब्द ठेठ देशज तद्भव शब्दों के साथ जितनी सहजता से, अनायास आते हैं और भाषा की अर्थशक्ति (जहाँ-तहाँ, अर्थव्याप्ति) के कारण बनते हैं, वह अन्यत्र विरल है । " 89 वस्तुत: त्रिलोचन की कविता में तत्सम शब्दों के साथ तद्भव एवं देशज शब्दों के सटीक प्रयोग से रचना में बेतरतीबी की जगह एक प्रकार की विशिष्टता ही पैदा होती है जो नये अर्थ सौन्दर्य की सृष्टि करती है ---

" भूमंडल भर के भविष्यव्यवसायी दल ने
जल-स्थल-नभ से महाप्रलय होगा-भाखा है ।
प्राणी अर्धप्राण हो गए हैं, बस कल की
चिंता उनको अकर्मण्यता से कर मलने
पर ही विवश कर रही है, जिस ने राखा है
वह क्या कल न रखेगा, ऐसी चिंता छलकी । " 90

उपर्युक्त काव्यपंक्तियों की कदाचित संरचनात्मक व्याख्या करते हुए डॉ॰नन्द किशोर नवल ने लिखा है कि " इसमें " भाखा " शब्द में व्यंग्य है । व्यंग्य का कारण स्पष्ट है । वह यह कि भविष्यकथन का व्यवसाय करने वाले ज्योतिषियों के एक समूह ने एक निहायत झूठी बात इस भाव से कही है, जैसे कि वह सवा सोलह आने सही हो । यह कहना सामान्य कहना न होकर " भाखना " ही हो सकता है । इस " भाखा " में जो व्यंग्य है वह आगे " राखा " शब्द में अपना अर्थ-विस्तार करता है । लेकिन इस बार व्यंग्य उस आम जनता पर है जो इस अंधविश्वास की शिकार है

" जाको राखे साइयाँ, मारि न सकि हैं कोय । "

यह व्यंग्य उस सर्वशक्तिमान ईश्वर पर भी है, जिसमें कण-मात्र भी शक्ति नहीं है। यह सारी व्यंजना " भाखा " की तुक के लिए " राखा " शब्द को लाने से संभव हुई है। इस तरह त्रिलोचन के सॉनेटों में रूप और वस्तु, तुक और अर्थ की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। " 71

सॉनेट के फार्म में क्रांतिकारी अन्तर्वस्तु :-

जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, त्रिलोचन ने सॉनेट जैसे पश्चिमी काव्य रूप को अपनाने के बावजूद उसे रोला छंद के मात्रिक संगीत में ढाल कर उसका एक अलग साँचा तैयार किया है, जो हिन्दी भाषा की आंतरिक लय से मेल खाता है। इस संदर्भ में गंभीरतापूर्वक विचारने से यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने इस रूपप्रकार को विषयवस्तु की दृष्टि से अपेक्षित विस्तार दिया है। पेट्रार्की पद्धति पर लिखे गये सॉनेटों के अलावा शेक्सपीरियन पद्धति पर लिखित उनके अनेकानेक सॉनेटों में भी हमें वस्तु तत्व की दृष्टि से विविधता के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए सदियों से सामंती दमन-शोषण के चक्र में पिसती तथा व्यवस्था का नरक भोगने को अभिशप्त आम जनता का क्रांतिकारी आवाहन करते हुए शेक्स-पीरियन पद्धति पर रचित उनके एक सॉनेट की प्रथम चतुष्पदी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं --

" सड़ी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के लिए
मैं ललकार रहा हूँ उस सोई जनता को
जिनको नेता लूट रहे हैं, कह कर, ताको
मत, हम तो हैं ही। "

वस्तुत: त्रिलोचन का राजनीतिक विवेक उनकी काव्य-चेतना का अपरिहार्य अंग बन चुका है। इसीलिए अपने कवि-कर्म के बारे में उनकी समझ साफ है ---

" बीज क्रांति के बोता हूँ मैं, अक्षर दाने
हैं, घर बाहर जन समाज को नये सिरे से
रच देने की रुचि देता हूँ। घिरे घिरे से
रहना असम्मान है जीवन का अनजाने। "

और अंत में सड़ी-गली सामाजार्थिक व्यवस्था का व्यूह तोड़ने के लिए अवाम का यह आवाहन ---

" अगर घुटन हो, प्राण छटपटाएँ तो घेरा
तोड़ फोड़ दो, क्योंकि हुआ है नया सबेरा। " 92

कुंडलिया :-

सौनेट के अतिरिक्त त्रिलोचन काव्य में हमें जिन पुराने काव्य रूपों का नवीन अन्तर्वस्तु के लिए सफलता के साथ प्रयोग दृष्टिगत होता है उनमें कुंडलिया की चर्चा प्रासंगिक होगी। जैसा कि पहले विवेचित किया जा चुका है, कुंडलिया हिन्दी का एक पुराना छंद है जिसमें कुल छ: चरण होते हैं। इसके आरंभिक दो चरण " दोहे " से तथा शेष चार चरण " रोला " से बने होते हैं। इसके साथ ही कुंडलिया छंद में दोहे का चौथा चरण रोला के अंतिम चरण का पूर्वार्द्ध होता है और दोहे क प्रथम चरण के आरंभ के

कुछ शब्द रोला के अंतिम चरण के अंत में आते हैं । इस आवृत्ति से एक कुंडल बनता है, जिससे इस छंद में कसाव के साथ-साथ एकनये संगीत और नये सौन्दर्य की सृष्टि होती है । त्रिलोचन के कवि ने इस पुराने सशक्त रूप का विधान अपने समय की विसंगतिपूर्ण सामाजार्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था तथा शोषक शक्तियों की जनविरोधी कारगुजारियों से सम्बन्धित काव्यवस्तु की अभिव्यक्ति के लिए कितनी सफलता के साथ किया है, यह निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है —

छोड़ा है सरकार ने गेहूँ का व्यापार
हुआ मंडियों में शुरू व्यापारी त्यौहार
व्यापारी त्यौहार लगा है तुलने गल्ला
दर्शक डाँडी देख चकित हैं अल्ला-अल्ला
फखरूद्दीन अली अहमद को यह थोड़ा है
बातों के घोड़े को संसद में छोड़ा है ।

कब क्या से क्या कर गया छोटा सा गुजरात
आसन दिल्ली के हिले कटी बात से बात
कटी बात से बात रात चढ़ती ही आई
संघर्षों की धारा ने सरकार बहाई
चिंतक गहरा सोच सँभाले डूबे हैं अब
कहाँ उभरना है क्या जाने क्या होगा कब । " 93

"अन्तर्वस्तु" में परिवर्तन से "रूप" में बदलाव :-

त्रिलोचन की एक कविता है - "बिना मिले लौटने की राह में।" मुक्त छंद में रचित यह पूरी की पूरी कविता आत्मकथन की शैली में विन्यस्त है। इस कविता का उत्तम पुरुष जब कवि विजेन्द्र से मिलने भरतपुर जाता है तो पहले वह दरवाजे पर ही रुककर भीतर की रोह लेता है। इस क्रम में जब उसे किसी की कोई आवाज नहीं सुनायी पड़ती तो बिना दरवाजा खटखटाये ही वह कई तरह का अनुमान लगते हुए वापस लौट जाता है --

"सम्भव है, विजेन्द्र और उषा किसी बात पर
आपस में उलझे हों
बच्चियाँ चुप हैं
माँ जी लेटी होंगी
बर्तन रसोई में बोलते हैं
उषा बोलती नहीं
सोचती हो शायद
ऐसा क्यों हो जाया करता है
ऐसे में,

इसके साथ ही उसे इस बात का भी तीक्ष्ण एहसास है कि उसके कवि मित्र की पत्नी कविता से बहुत चिढ़ती है ----

"यदि मिलकर ही आता
तो उषा कविता से
और अधिक चिढ़ जाती

वैसे हँस कर कहती
बड़ा आनन्द आया "

इस पूरी कविता में आतिथेय के संभावित व्यवहार के बहाने अपनी खास्ता हालत तथा परिवार-समाज में कवि-कर्म की अप्रतिष्ठाजन्य स्थिति पर भाँति-भाँति से विचारा गया है। किन्तु जैसे ही अपने भविष्य के बारे में आशावादिता का एक स्वर उभरता है, तो, न केवल छंदविधान बदलता है बल्कि इस भाव को अभिव्यक्ति देने वाली भाषा भी बदल जाती है ----

" एक दिना नहिं एक दिना
कबहूँ दिन वे दिन फेर फिरेंगे " 94

स्वगत में मुक्त संवाद का फार्म :-

नागार्जुन काव्य के रूपविधान पर विचार करते हुए जिस " स्वगत में मुक्त संवाद " के फार्म की विस्तृत चर्चा की गई है, उसे उदाहृत करने वाली यथार्थ चेतना सम्पन्न अनेकानेक कविताएँ त्रिलोचन के यहाँ भी मौजूद हैं। यदि हम उनके " धरती " नामक काव्य-संग्रह की कविताओं से ही आरंभ करें तो वहाँ " भोरई केवट के घर " तथा " चम्पा काले - काले अच्छर नहीं चीन्हती " जैसी कविताएँ अपनी नाटकीय संरचना एवं संवाद योजना के कारण अत्यंत सशक्त बन पड़ी हैं।

" नगई महरा " कविता का रूपविधान :-

डॉ॰ नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है कि " धरती की जिस भाषा से " चम्पा " की कली फूटी है, उसी से आगे चलकर त्रिलोचन ने " नगई महरा " शीर्षक लम्बी कविता की सृष्टि की है, जिसमें गाँव की पूरी संस्कृति मूर्तिमान हो उठती है । " 95 वस्तुत: " नगई महरा " ठेठ अर्थ में एक वर्णनात्मक कविता है । ऐसे तो त्रिलोचन की कविता में भाषा के विविध धरातल मिलते हैं, पर " नगई महरा " कविता में उनकी काव्यभाषा चिरानीपट्टी की भाषा के बिलकुल करीब आ गई है जिसमें कहीं से भी कोई बनावटीपन, आवेश एवं तनाव नजर नहीं आता —

" नगई खाँची फांदे बैठा था
हाथों में वही काम
आँखें उन हाथों को
हरबट चिताती हुई
खाँचो में लगी एक आँख मुझे भी देखा
और कहा बैठो उस पीढ़े पर
साफ है मैं ने कुछ ही पहले धोया है
बैठने पर मुझसे कहा
अच्छा बाँच लेते हो रामायन
तुम्हारे बाबू कहते थे जैसे
अब कोई क्या कहेगा
उनकी भीतरी आँख खुली थी
सुर भी क्या कंठ से निकलता था
जैसे असाढ़ के मेघ की गरज " 96

रूपविधान की दृष्टि से " नगई महरा " कविता पर विचारने से यह स्पष्ट होता है कि छोटे-बड़े कुल 23 चरणों में लिखित इस कविता के हर चरण का एक केन्द्रीय प्रयोजन है और उसमें किसी न किसी-न-किसी दृश्य या तथ्य या भाव का प्रस्थापन अवश्य हुआ है। प्रत्येक चरण के अंत में अगले चरण का आरंभ निहित है जो विधि वस्तुत: कथा-कथन की है और उपन्यासों में अपनाई जाती है। जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, त्रिलोचन के काव्य में शब्द की जगह वाक्य ही प्राय: इकाई की भूमिका में हैं। इस कविता में भी जिन छोटे-छोटे सुगठित वाक्यों का इस्तेमाल किया गया है वे कविता को कथात्मक चरित्र प्रदान करते हैं। कविता की इस कथात्मकता के द्वारा जिस यथार्थ का अंकन हुआ है उसे अभिव्यक्ति देने वाली भाषा बिलकुल पारदर्शी है। तल तक साफ। सोमदत्त के शब्दों में यदि कहें तो त्रिलोचन की यह कविता " किसी व्यक्ति विशेष की या अलग-अलग घटी घटनाओं की काव्यात्मक परिणति मात्र नहीं, बल्कि एक समूचे वर्ग की जीवन पद्धति का औपन्यासिक सम्वेदना वाला आख्यान है। " 97

<u>वस्तु-रूप सम्बन्ध में विच्छित्ति :-</u>

त्रिलोचन के कवि की एक बड़ी विशेषता है उसका संयमित स्वर। काव्य-रचना के क्रम में कवि प्राय: उद्विग्न नहीं होता। इसके विपरीत नागार्जुन की अधिकांश कविताओं में हमें अत्यधिक उद्वेग के दर्शन होते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि त्रिलोचन का मन अपनी पारिवेशिक विसंगतियों से आहत नहीं होता और उनके मन:मस्तिष्क में आक्रोश की लहरें नहीं उठतीं। सच तो यह है कि वे अपनी गंभीर प्रकृति एवं अन्तर्मुखी

व्यक्तित्व के कारण अपना गुस्सा पी जाते हैं। इस प्रक्रिया के बाद जब वे अपनी काव्यवस्तु को रूप प्रदान करने या काव्य-रचना के लिए प्रवृत्त होते हैं तो अनायास उनकी रचना में एक प्रकार की संवेदनात्मक गहराई आ जाती है। परन्तु इसके साथ ही त्रिलोचन-काव्य में ऐसे भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं जहाँ अनुभूतिप्रवणता के बजाय कोरी उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति प्रधान है। वस्तुत: अनुभव के जिस मर्म के कारण उनकी अनेकानेक गद्यात्मक शैली में लिखित कविताओं में भी उच्चस्तरीय कवित्व के दर्शन होते हैं उसी के अभाव में उनकी कई छंदोबद्ध एवं तुकों के कठोर नियम का पालन करके लिखित कविताओं एवं विशेषकर सॉनेटों में से कवित्व लगभग गायब हो गया-सा प्रतीत होता है। डॉ॰नामवर सिंह के शब्दों में यदि कहें तो "इसके बाद रह जाता है द्विवेदी-युगीन सीधा सरल पूरा सही वाक्य। व्याकरण और इतिवृत्त। सॉनेट के अन्दर अस्खलित वाक्य-रचना-निर्वाह के कारण ऐसी दुर्घटना अक्सर घटित होती है। तुक मिलाने की दयनीय कोशिश में फालतू वाक्य भी काफी आते हैं। कारण वही पूरा वाक्य लिखने का हठ।" [98]

त्रिलोचन की गजलों में वस्तु-रूप सम्बन्ध :-

जाहिर है कि त्रिलोचन ने बड़ी संख्या में गजलों की भी रचना की है जो उनके "गुलाब और बुलबुल" नामक संग्रह में संगृहीत हैं। ऐसे, इस पुस्तक में परिशिष्टवत कुछ चतुष्पदियाँ भी संगृहीत हैं। यदि परम्परा - गत उर्दू शायरी पर विचारें तो स्पष्ट होगा कि वहाँ "गुलाब" और "बुलबुल" प्रतीकात्मक अर्थों में गजल के गुलशन की रौनक बहुत पहले से बढ़ाते रहे हैं। सच तो यह है कि वहाँ पुराने उस्तादों ने गुलाब और बुलबुल के

बहाने माशूक और आशिक के विरह मिलन के अअअहसासों को बेहतरीन ढंग से अभिव्यक्ति दी है ।

गजल का शब्दार्थ है - माशूक से बातचीत करना । त्रिलोचन की अधिकांश गजलें भी वार्ता शैली में ही रचित हैं । इस तरह पहली नजर में इस संग्रह का शीर्षक उर्दू शायरी की परम्परा से बँधा प्रतीत होता है । पर बात ऐसी है नहीं । जब त्रिलोचन का कवि गुलाब और बुलबुल को चैत माह में मिलन मोद मनाते देखता है तो अपने परिवेश के साथ इस मोद का तालमेल न देखकर उसके हृदय में एक प्रकार की रिस रिक्ति का अहसास होता है —

" चैत के दिन हैं बसी हैं गुलाब की डालें
कैसा आनंद है बुलबुल को, गान गाता है ।
कितना अवसन्न हूँ कितना दुखी है मेरा मन
अपनी बस्ती में कहीं हर्ष नहीं पाता हैं । " 11

जहाँ तक गजल के फार्म का प्रश्न है, इसके निर्माण की इकाई " शेर " होता है जिसकी तुलना एक हद तक " दोहे " जैसे स्वप्रकार से की जा सकती है । ज्यादातर गजलों के अधिकांश शेर अपने-आप में पूर्ण होते हैं। इसके साथ ही एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शेर में प्राय: रवानी तभी आती है जब इसकी अन्तर्वस्तु रोमांटिक होती है । किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि शेर या गजल के फार्म में यथार्थवादी अन्तर्वस्तु को ढाला ही नहीं जा सकता । उर्दू के तरक्कीपसंद शायरों में अकेले फैज अहमद फैज की सैकड़ों गजलें यथार्थवादी अन्तर्वस्तु वाली हैं । फिर भी यदि गौर से

देखें तो स्पष्ट होगा कि उर्दू की बेहतर गजलों में प्राय: तिक्त यथार्थवादी अन्तर्वस्तु भी रूमानी शर्करा से आवेष्ठित रहा करती है। मेरी समझ के मुताबिक जब तक यह संतुलन वहाँ बना रहता है तभी तक यथार्थवादी अन्तर्वस्तु का गजल के फार्म में प्रभावकारी विन्यास संभव हो पाता है। उदाहरण के लिए फैज का एक प्रसिद्ध शेर देखा जा सकता है —

" मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरे महबूब न माँग
और भी गम हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं, वस्ल की राहत के सिवा "

या

" दुनिया ने तेरी याद से बेगाना कर दिया
तुझ से भी दिलफरेब हैं गम रोजगार के। "

ऊपर उद्धृत दोनों ही कविताओं की अंतर्वस्तु यथार्थवादी है पर कवि के कहने का ढंग कुछ ऐसा है कि यथार्थवादी अंतर्वस्तु भी सफलता के साथ रोमांटिक ढंग से अभिव्यक्त कर दी गई है। खूबी यह कि इनमें न तो वस्तु द्वारा रूप की सीमाओं की अवहेलना की गई है और न ही रूप तत्व ने वस्तु का गला घोंट कर काव्य प्रभाव को बाधित किया है। वस्तुत: यहाँ कविता के दोनों ही तत्व अपनी-अपनी जगह पर संतुलन बनाये हुए हैं। इससे विलग उर्दू शायरी में ऐसे भी कई उदाहरण मिलते है जबकि प्रातिभ रचनाकारों ने गजल के फार्म में खालिस क्रांतिकारी अन्तर्वस्तु को भी सफलता के साथ विन्यस्त किया है।

हिन्दी गजल के नाम पर दुष्यन्त ने जो कुछ लिखा है, वह मेरी समझ से हिन्दी कम उर्दू ही ज्यादा है। ऐसा कहकर यहाँ हिन्दी उर्दू विवाद छेड़ना मेरा अभिप्राय नहीं है। किन्तु यदि केवल दुष्यंत की काव्यभाषा पर गौर किया जाय तो स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि अपवाद स्वरूप कुछ शेर छोड़कर उनके काव्य संग्रह " साये में धूप " की अधिकांश गजलें हिन्दी में हैं या उर्दू में।

जहाँ तक त्रिलोचन की गजलों का सवाल है, उनकी कई गजलें बेशक अच्छी हैं जिनको हिन्दी गजल भी कहा जा सकता है। पर गजल में काफिया-रदीफ की पाबंदी के कारण जब वे भाषा के स्तर पर तत्सम शब्दों को ग्रहण करते हैं तो स्वभावतः उनके शेर बोलचाल की भाषा से दूर चले जाते हैं। उदाहरण के लिए " कितना अवसन्न हूँ कितना दुखी है मेरा मन " में " अवसन्न " तथा " अपनी बस्ती में कहीं हर्ष नहीं पाता है " में " हर्ष " जैसे शब्द वस्तुतः गजल या शेर के फार्म की प्रकृति के अनुरूप नहीं हैं। लेकिन यदि इनका विकल्प ढूँढ़ा जाय तो शेर के हिन्दी-उर्दू से दूर फारसी के करीब चले जाने की ही संभावना अधिक होगी। अतः यहाँ इनका प्रयोग करना एक प्रकार से कवि की बाध्यता है। इन सबसे विलग कई बार त्रिलोचन जब अपनी कवि-प्रकृति के अनुरूप सहज होकर खालिस यथार्थवादी अन्तर्वस्तु को " शेर " के फार्म में विन्यस्त करते हैं, तो, बात तो वे कह जाते हैं पर काव्यात्मकता की दृष्टि से शेर बहुत कमजोर प्रतीत होता है --

" घर औरों का जो बनाता है अपना भी आप बना लेगा
अनुकूल मसाला पा जाए और चूना गारा पा जाए " [100]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यहाँ कवि ने जिस प्रकार काव्यवस्तु को " शेर " के फार्म में जबर्दस्ती विन्यस्त करने का असफल प्रयास किया है उससे कविता की प्रभावन्विति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी है ।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि त्रिलोचन गजल शौ के रूप में बिलकुल असफल रहे हैं । सच तो यह है कि जहाँ गजल के " रूप " की प्रकृति को ध्यान में रखकर उसके अनुकूल अन्तर्वस्तु को हिन्दी-उर्दू से उपयुक्त शब्दों का चयन करके विन्यस्त किया गया हैं वहाँ उनकी गजलें भाव का निर्झर बन गई हैं --

" लोग कच्चा तुम्हें बतलायेंगे खुश होकर
गैर के आगे गिला अपनों का गाया न करो ।
क्या हुए लोग जो हँसते हैं उन्हें हँसने दो
प्रेम की पीर में आँसू तो बहाया न करो । " 101

लिरिकल अन्तर्वस्तु एवं गीत का फार्म :-

त्रिलोचन-काव्य के प्रसंग में सॉनेट, वैचारिक कविताओं, गजल आदि के बाद गीत के फार्म की चर्चा भी अपेक्षित है । वस्तुत: त्रिलोचन ने इस संदर्भ में निराला के अनुभवों से लाभ उठाते हुए एक लम्बे समय से ठहरे हुए रूपप्रकार को जो प्रगति का मार्ग दिखलाया है वह कहीं से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । उनके गीतों में मात्र आत्माभिव्यंजना की जगह शब्द-चेतन समुदाय को अपने से बाहर आकर देखने-परखने का जो आमंत्रण है वह हिन्दी गीत काव्य में प्राय: दुर्लभ है ।

कहना न होगा कि पठ्य-पाठ्य एवं वैचारिक कविता से भिन्न गीत की एक अलग रचनात्मक शर्त एवं समझ होती है और कई मायने में तो प्रभावान्विति की दृष्टि से वैचारिक कविता की अपेक्षा गीत कहीं ज्यादा श्रेयस्कर होता है । गीत की रचनात्मक महत्ता को स्वीकारते हुए जार्ज लुकाच ने ठीक ही लिखा है कि " गीत काव्य में केवल महान क्षण रहा करता है । यह वह क्षण होता है जिसमें प्रकृति और आत्मा की सार्थक एकता या उनका सार्थक अलगाव जो आत्मा का सर्वस्वीकृत अकेलापन हुआ करता है, शाश्वत बन जाते हैं । " आगे लुकाच ने कदाचित गीत काव्य की रचना-प्रक्रिया पर विचारते हुए लिखा है कि " गीतमय क्षण में आत्मा की शुद्धतम आभ्यांतरिकता अनिवार्यत: काल से पृथक कर दी जाती है, वस्तुओं को अस्पष्ट विविधता से ऊपर उठा दी जाती है और इस तरह पदार्थ में परिवर्तित कर दी जाती है, जब कि अपरिचित और अज्ञेय प्रकृति भीतर से निकाल दी जाती है ताकि चमकते हुए एक प्रतीक में बँध सके । लेकिन आत्मा और प्रकृति के बीच स्थापित इस सम्बन्ध को केवल गीतमय क्षणों में ही निर्मित किया जा सकता है । " ॥ उपन्यास के सिद्धांत, पृ. 85 ॥

जाहिर है कि लुकाच ने यहाँ जिस गीतमय क्षण की महत्ता पर बल दिया है वह और कुछ नहीं, बल्कि गायन योग्य सामग्री के रचने की मन:स्थिति ही है, जिसका सीधा सम्बन्ध गायन की मन:स्थिति से है और यह मन:स्थिति निश्चय ही पठ्य-पाठ्य एवं वैचारिक कविता के रचने की मन:स्थिति से एक हद तक भिन्न होगी ।

त्रिलोचन-काव्य में हमें इस मन:स्थिति का प्रथम दर्शन उनके पहले काव्य संग्रह की पहली ही रचना में होता है --

" मुझे जगत जीवन का प्रेमी
बना रहा है प्यार तुम्हारा
मेरी दुर्बलता को हर कर
नयी शक्ति नव साहस भर कर
तुमने फिर उत्साह दिखाया

कर्म क्षेत्र मे बढ़ूँ सँभलकर
तब से मैं अविरत बढ़ता हूँ
बल देता है प्यार तुम्हारा । " 102

रचनागत तकनीक की दृष्टि से यदि इस गीत पर विचारें तो स्पष्ट होगा कि यहाँ प्रगतिवादी कवि द्वारा द्विवेदीयुगीन शब्दावली में छायावादी अन्तर्वस्तु को अभिव्यक्ति दी गई है । छायावादी कवियों की तरह ही यहाँ त्रिलोचन के कवि को पत्नी-प्रियतमा जीवन-जगत में उसे संघर्ष के लिए अक्षय उर्जा प्रदान कर रही है । वह प्रेरणास्रोत की भूमिका में है । किन्तु छायावादियों से विलग त्रिलोचन के यहाँ न तो वह देवी, माँ, सहचरी, प्राण है और न ही कोई आद्या शक्ति । कवि अपने इस प्रेरणा - स्रोत को अपनी सरल-सहज प्रकृति के अनुरूप सहज ही रहने देता है, कोई वैशिष्ट्य प्रदान नहीं करता जिसके परिणाम स्वरूप उसका काव्यानुभव हमें छायावादियों के मुकाबले ज्यादा विश्वसनीय एवं लौकिक प्रतीत होता है ---

" आज सुन स्वर में तुम्हारे
गीत अपने
याद आए याद आए

x x x x

तुम नदी सी बहु नगर के पास
नगर नगर भरा तुम्हारा हास
और विलास
तरुण युग अनुचर तुम्हारा दास
तुम चपल मैं अचल
सुनता गीत अपने
आज मीठे लग रहे हैं
गीत अपने " [103]

टी•एस•ईलियट ने अपने " ट्रेडिशन एण्ड इंडिविजुअल टैलेंट " शीर्षक सुप्रसिद्ध निबंध के पूर्वार्द्ध में किसी कविता का महत्व पूर्ववर्त्ती कवियों की कविताओं के साथ समझने परखने की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है कि " किसी कवि या कलाकार की पूर्ण सार्थकता केवल अपने-आप में नहीं होती । उसकी सार्थकता, उसकी परिशंसा दिवंगत कवियों और कलाकारों की सापेक्षता में ही होती है । " [104] यदि हम इस दृष्टि से त्रिलोचन के गीतों को उनके पूर्ववर्ती गीतकारों की रचनाओं के संदर्भ में रखकर विचारें तो हमें वहाँ अनेकानेक ऐसे गीत भी प्राप्त होंगे जो उन्होंने अपने अग्रज गीतकारों की विभिन्न शैलियों का अभ्यास करते हुए रचे हैं --

" दूर अति दूर, क्षितिज के पार
कलक का रच सुन्दर संसार
हरित अंकुर ले उठा उभार
प्राप्त कर जग का मृदु व्यवहार । "

पंत की " दूर उन खेतों के उस पार " वाली शैली में रचित इस गीत की अगली पंक्तियों में त्रिलोचनपन को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है ----

" बढ़ा, वह उद्धत हो स्वयमेव
बह पड़ा पाकर कुटिल बयार
धरा के धसके मानस नेत्र
वितरने लगे उसे धिक्कार ! " 105

इसी प्रकार निराला-शैली में रचित उनका एक छोटा गीत भी देखा जा सकता है ----

" कैसी नित नई यह प्यास
हो गया प्रति - कंठ में
जिसका कि अब आवास
तृषित छूटे हैं उसी की ओर
यदि कहाँ-समझे कि यह निशि भोर
चाहते भर हैं कृपा की कोर
उठ रहा प्रति-रोम में गति रोर
जग का यही अभ्यास ! " 106

किन्तु बहुत जल्द ही उन्होंने अपना निजी शिल्प पा लिया । जहाँ तक उनके गीतों में वस्तु-रूप सम्बन्ध का सवाल है, वहाँ प्राय: संतुलन की स्थिति ही दृष्टिगत होती है । कारण यह कि गीत के फार्म में विन्यस्त करने हेतु रचनाकार ने प्राय: लिरिकल अन्तर्वस्तु का ही चुनाव किया है । फलत: गीत-रचना में उसे बेहद सफलता मिली है । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, त्रिलोचन के गीत मात्र आत्माभिव्यंजना के वाहक नहीं हैं, वहाँ इसके साथ-साथ जनपक्षधरता का भी स्पष्ट स्वर सुनाई देता है --

" व्यूह बनते हैं दलों के एक दल चुनना पड़ेगा
फिर महाभारत निकट है
लक्षणों से यह प्रकट है
खेंच नीख हैं रहे पर
भर चुका अब धैर्य घट है
रात दिन उद्योग चलता
पक्ष वर्धन की विकलता
पाँव सिर की ओर दो हैं, एक को चुनना पड़ेगा

x x x x x

एक अपहर्त्ता अपरकर्त्ता तुम्हें चुनना पड़ेगा । " 107

बिम्ब विधान :-

डॉ०रामविलास शर्मा ने लिखा है कि " मार्क्सवाद भावबोध को बहुत महत्त्व देता है । मार्क्स ने मनुष्य की चेतना पर सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव पर जोर दिया था । इस चेतना में मनुष्य के विचार और भाव दोनों शामिल हैं x x x सामाजिक परिस्थितियाँ भावों के माध्यम से मनुष्य की विचारधारा को प्रभावित करती हैं । तोल्सतोय की विचार-धारा उलझी हुई थी, पर सामाजिक परिस्थितियों को देखकर उनकी भावात्मक प्रतिक्रिया सही होती थी, इसीलिए वह यथार्थ जीवन के ऐसे प्रभावशाली चित्र दे सके । " 108

कहना न होगा कि कवि-त्रिलोचन के पास जीवन की एक स्पष्ट समझ है जिसका वैचारिक आधार मार्क्सवाद है । किन्तु उनके इस जीवन-विवेक के निर्माण में मार्क्सवाद विषयक पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा जन-जीवन की उनकी अपनी समझ की भूमिका कहीं ज्यादा है । इसी कारण उनकी कविता में जिन जीवनधर्मी बिम्बों के दर्शन होते हैं वे " जन " की दुर्दशा से बेखबर तथाकथित जनवादी कवियों की रचनाओं में प्राय: दुर्लभ हैं । उदाहरण के लिए उनके एक सॉनेट की चंद पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

" बड़े बड़े शब्दों में बड़ी बड़ी बातों को
कहने की आदत औरों में है पर मेरा
दर्रा अलग गया है । ढाकों के पातों को
थाली की मर्यादा देकर पहला घेरा
तोड़ दिया । रस जीवन का जीवन से खींचा,
दिए हृदय के भाव, उपेक्षित, थी जो भाषा
उसको आदर दिया । " 109

यहाँ " ढाक के पत्तल " तथा " थाली " जैसे जीवनधर्मी बिम्बों के द्वारा कवि मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में वर्ग-भेद की स्थिति को सहजता के साथ उद्घाटित करते हुए स्पष्ट करता है कि उसका वर्ग-चरित्र उन कवियों से भिन्न है, जिनमें " बड़े बड़े शब्दों में बड़ी बड़ी बाते " कहने की आदत है । उसने तो ऐसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना है जो अभिजात वर्ग की रुचि के प्रतिकूल थी, उपेक्षित थी ।

त्रिलोचन की कविता में विभिन्न प्राकृतिक परिदृश्यों के वर्णन-क्रम में जिन अनोखे चित्रों को उरेहा गया है वे बिलकुल ताजे-टटके हैं —

" गेहूँ जौ के ऊपर सरसो की रंगीनी
छाई है, पछुआ आ आ कर इसे झुलाती
है, तेल से बसी लहरें कुछ भीनी भीनी
नाक में समा जाती है, सप्रेम बुलाती
है मानों यह झुक झुक कर । " 110

यहाँ गेहूँ एवं जौ के पौधे के ऊपर खिले सरसो के पीले फूलों का पछुआ हवा में झूमने के चित्र के साथ ही जब कवि तेल से बसी भीनी भीनी लहरों की सुगंध की बात करता है तो पंत की " उड़ती भीनी तैलाक्त गंध " जैसी घ्राण बिम्ब को साकार कर देने वाली पंक्ति का अनायास ही स्मरण हो आता है । वस्तुत: त्रिलोचन के अनेकानेक सॉनेटों एवं दूसरी कविताओं में हमें ऐसे ताजे-टटके प्रकृति चित्रों के दर्शन होते हैं जो दूसरे कवियों से प्राय: अछूते ही रहे हैं । और अंत में उनके एक सॉनेट की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें एक ही साथ कई चाक्षुष बिम्बों को प्रस्तुत किया गया है —

" प्रिय लगती है बहुत, घमौनो, घामदेखकर
लोग कहीं जमते हैं, गाएँ और बकरियाँ
खड़ी धूप में मौज लिया करती हैं, सर्दी
इसी तरह जाती है। घर से मीन-मेख कर
आती हैं महिलाएँ, आती हैं सुंदरियाँ,
कुत्ते करते रहते हैं आवारागर्दी। " [1]

इसी प्रकार त्रिलोचन-काव्य में अन्य बिम्ब प्रकारों को उदाहृत करने वाली अनेकानेक पंक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं।

प्रतीक विधान :-

कवि केदारनाथ सिंह के अनुसार त्रिलोचन के शिल्प की एक खास बात यह है कि वे किसी भी वस्तु का प्रयोग प्रतीकवत नहीं करते। अपनी कविता में वे सारी काव्यात्मक जिम्मेदारी के साथ उसे " वस्तु " ही बने रहने देते हैं। वस्तुतः इसका सम्बन्ध भारतीय साहित्य की रूप-सम्बन्धी अवधारणा की एक विशिष्ट परम्परा से है, जिसके व्यावहारिक उदाहरण हमें अपनी लोक कविता और क्लासिकी कविता में एकाध मिल सकते हैं। यह परम्परा एक खास ढंग से प्रेमचंद के कथा साहित्य में भी जीवित है। वहाँ भी वर्णन के क्रम में आने वाली वस्तुओं को प्रतीकों में बदल डालने की जल्दी कहीं नहीं दिखाई देती। " नये पत्ते " और " बेला " की कुछ कविताओं में निराला ने भी इसी तथ्यपरक कला का प्रयोग किया है।

फिर भी यदि हम मोटे तौर पर कहना चाहें तो त्रिलोचन-काव्य में आए चरित्रों में नगई महरा, भोरई केवट एवं चम्पा आदि पात्रों को उस सत्तर-पचहत्तर प्रतिशत भारतीय ग्रामीण जन का प्रतीक-पात्र कह सकते हैं जिन्हें हाड़तोड़ मजूरी के बाद भी भरपेट अन्न नसीब नहीं हो पाता । इसी प्रकार " रैन बसेरा " कविता का " मैं " (उत्तम पुरुष) भी शहर में रहने वाले निम्न मध्य वर्ग के लोगों की जीवन स्थिति को प्रतीकित करता है जो चाहते हुए भी किसी अतिथि को अपने यहाँ टिका पाने में असमर्थ होते हैं और " देह धरे का दंड " भोगते हुए इन तमाम स्थितियों को चुपचाप झेलने को अभिशप्त होते हैं । त्रिलोचन - काव्य में ऐसे अनेक प्रतीकों को खोजा जा सकता है ।

निष्कर्ष :-

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि त्रिलोचन की कविता बहुत हद तक वस्तु और रूप के बीच संतुलन की स्थिति को उदाहृत करती हुई पाठक पर गहरा प्रभाव छोड़ती है । उनके कुछ सॉनेटों एवं अपवाद स्वरूप कुछ गजलों आदि को छोड़कर वहाँ रूप प्रायः अन्तर्वस्तु के सम्प्रेषण में बाधक नहीं बना है । ऐसे तो कवि ने यथासंभव अन्तर्वस्तु की प्रकृति को ध्यान में रखकर ही " रूप " चयन किया है पर कई बार वहाँ वस्तु और रूप के एकमेकता के अभाव में कविता का प्रभाव क्षीण भी होता हुआ दिखाई देता है ।

संदर्भ

1. डॉ. नामवर सिंह : " नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ " भूमिका, पृ. 9.

2. पुरानी जूतियों का कोरस, पृ. 73 - 74.

3. वही, पृ. 64.

4. वही, पृ. 68.

5. शमशेर बहादुर सिंह : साक्षात्कार (अगस्त - नवम्बर, 1986) पृ. 55.

6. राजेश जोशी : साक्षात्कार 1986, पृ. 241 - 242.

7. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 21-22.

8. राजेन्द्र प्रसाद सिंह : क्तार (जनवरी - मार्च 1988) पृ. 54 - 55.

9. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 51-52.

10. वही, पृ. 89.

11. वही, पृ. 90.

12. डॉ. विजय बहादुर सिंह : साक्षात्कार 81-84, पृ. 236.

13. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 110.

14. साक्षात्कार 81-84, पृ. 243.

15. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 94.

16. साक्षात्कार 81-84, पृ. 242.

17. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 94.

18. वही, पृ. 44-45.

19. वही, पृ. 102-103.

20. वही, पृ. 100-101.

21. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ. 142.

22. वही, पृ. 108.

23. डॉ. नन्द किशोर नवल : कविता की मुक्ति, पृ. 17.

24. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 30-31.

25. गोविन्द द्विवेदी : पूर्वग्रह 63-64, पृ. 81-82.

26• राजेश जोशी : साक्षात्कार 81-84, पृ• 244•

27• नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ, पृ• 240-244•

28• डॉ•नगेन्द्र : काव्य बिम्ब, पृ• 5•

29• नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ• 62•

30• वही, पृ• 28•

31• वही, पृ• 31.

32• वही, पृ• 31.

33• डॉ•नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ• 139•

34• नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ• 90•

35• युगावलोकन ‖ प्रवेशांक ‖ अगस्त-सितम्बर 1987, पृ• 23•

36• आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : नागार्जुन, पृ• 47-48•

37• डॉ•वीरेन्द्र सिंह : मधुमती, सितम्बर 1989, पृ• 37•

38• नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ, पृ• 105•

39. नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएं, पृ. 106.

40. मधुमती, सितम्बर 1989, पृ. 40.

41. कवि मित्रों से दूर, पृ. 90.

42. पंख और पतवार, पृ. 14 - 17 (भूमिका)

43. मुक्तिबोध रचनावली - 5, पेपर बैक, पृ. 75-76.

44. आइना 19-20, नवम्बर 1981, पृ. 3.

45. " केदारनाथ अग्रवाल " (सं. अजय तिवारी) पृ. 65.

46. वही, पृ. 67.

47. " फूल नहीं, रंग बोलते हैं ", पृ. 32.

48. श्रम का सूरज, पृ. 48.

49. " फूल नहीं, रंग बोलते हैं, " पृ. 26.

50. वही, पृ. 25.

51. वही, पृ.xब 178.

52. वही, पृ. 154.

53. श्रम का सूरज, पृ. 49.

54. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 132.

55. वही, पृ. 142-143.

56. वही, पृ. 139 - 140.

57. वही, पृ. 139.

58. वही, पृ. 43.

59. श्रम का सूरज, पृ. 111.

60. " केदारनाथ अग्रवाल ", पृ. 70.

61. पंख और पतवार, पृ. 141 - 142.

62. श्रम का सूरज, पृ. 47.

63. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 108.

64. वही, पृ. 320 - 321.

65. वही, पृ. 251.

66. गुलमेंहदी, पृ. 21.

67. फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ. 43.

68. जिऊँगा जिन्दगी अभी और अभी और, पृ. 171-172.

69. फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ. 50.

70. डॉ. रामकुमार शर्मा : " केदारनाथ अग्रवाल ", पृ. 84.

71. श्रम का सूरज, पृ. 62.

72. " केदारनाथ अग्रवाल ", पृ. 72.

73. तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 82.

74. साक्षात्कार 81-84, पृ. 59.

75. फूल नाम है एक, निवेदन.

76. साक्षात्कार 81-84, पृ. 58.

77. शब्द, पृ. 44.

78. वही, पृ. 41.

79. शब्द, पृ. 41.

80. प्रिन्सटान एनसायक्लोपीडिया आँव पोएट्री एण्ड पोएटिक्स, पृ. 781.

81. शब्द जहाँ सक्रिय हैं, पृ. 59-60.

82. तार सप्तक, पृ. 301.

83. दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ. 11.

84. शब्द, पृ. 22.

85. फूल नाम है एक, पृ. 31.

86. वही, पृ. 33.

87. शब्द, पृ. 47.

88. वही, पृ. 69.

89. शब्द और मनुष्य, पृ. 95.

90. शब्द, पृ. 27.

91. शब्द जहाँ सक्रिय हैं, पृ. 62.

92. अनकहनी भी कुछ कहनी है, पृ. 87.

93. तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 99.

94. वही, पृ. 101 - 103.

95. डॉ.नामवर सिंह : विपक्ष - 3, पृ. 216.

96. पूर्वग्रह 63-64, पृ. 90-91.

97. सोमदत्त : पूर्वग्रह 63-64, पृ. 93.

98. डॉ.नामवर सिंह : आलोचना - 82, पृ. 100.

99. गुलाब और बुलबुल, पृ. 125.

100. वही, पृ. 96.

101. वही, पृ. 18.

102. धरती, पृ. 11.

103. वही, पृ. 39.

104. 'No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the apprecia tion of his relation to the dead poets and artists'.
The sacred wood, P.49.

105. तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 13.

106. वही, पृ. 16.

107. सबका अपना आकाश, पृ. 35.

108. भाषा, युगबोध और कविता, पृ. 148.

109. उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 116.

110. वही, पृ. 62.

111. शब्द, पृ. 22.

उ प सं हा र

उपसंहार

कला को सामाजिक उत्पादक बताते हुए यह बिलकुल ठीक कहा गया है कि कला का मोती समाज की सीपी में ही जन्म लेता है। अत: कलारूप होने के कारण कविता भी समाज का ही उत्पाद है जैसे कि मोती सीपी का उत्पाद होता है। इसके साथ ही एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि किसी काल विशेष में साहित्यिक रचनात्मकता की अभिरूचि तभी बदलती है जबकि जिस समाज में वह घटित हो रही होती है, उसमें कोई न कोई संघर्ष का कारण पूरे समाज की सक्रियता को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा होता है।

सन् 1930 के आसपास हिन्दी कविता में यदि हमें अन्तर्वस्तु एवं रूप की दृष्टि से उसके पूर्व रचित कविताओं की तुलना में एक स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, तो, निश्चित रूप से इस परिवर्तन का मूल कारण तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति में निहित है। इसी प्रकार जहाँ तक सन् 1936 में "प्रगतिशील लेखक संघ" के गठन का प्रश्न है, यह भी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक स्तर पर तकरीबन उन्हीं माँगों के ऐतिहासिक कार्य-भार की पूर्ति के लिए हुआ था जिनके दबाव में सन् 1936 में ही स्वामी सहजानंद सरस्वती द्वारा "अखिल भारतीय किसान सभा" की नींव रखी गई थी। संवेदनात्मक एवं बौद्धिक स्तर पर स्वाधीनता एवं सामाजिक क्रांति से जुड़े इन्हीं सवालों से जूझते हुए अपने समय की व्यापक सामाजिक-राजनीतिक चेतना के आधार पर जो साहित्य रचना गया वह कालांतर में प्रगतिवादी या प्रगतिशील साहित्य कहलाया।

वस्तुत: प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन साहित्य में राजनीति के सक्रिय हस्तक्षेप का रचनात्मक प्रतिफलन है जो एक प्रकार से उस युग के साथ ही हमारे समय की भी अनिवार्यता है । चूँकि बीसवीं सदी के तीसरे दशक में भारतीय राजनीति में वामपंथी एवं दक्षिणपंथी बुर्जुआ ताकतों का ध्रुवीकरण हो रहा था इसलिए उस युग के रचनाकारों के बीच भी विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों को लेकर यदि हमें आपसी मतभेद दिखाई देता है तो यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है । दक्षिणपंथी भाव - वादी लेखकों तथा वामपंथी प्रगतिशील लेखकों के बीच मतभेद का मूल कारण वस्तुत: उनकी जीवन-दृष्टि के भेद में निहित है । कहना न होगा कि उस समय के भाववादी रचनाकारों में से कुछ यदि क्षयिष्णु रोमान से ग्रस्त थे तो कुछ अरविंदवाद के आकर्षण में बंध रहे थे । इनसे विलग जिन रचनाकारों का झुकाव मार्क्सवाद की ओर था और जो जीवन-जगत की समस्याओं का विश्लेषण द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से करना बेहतर समझने लगे थे, उन्हें प्रगतिवादी या प्रगतिशील रचनाकार के रूप में मान्यता प्राप्त हुई ।

ऐसे तो डॉ॰जनेश्वर वर्मा एवं डॉ॰अजय तिवारी जैसे विद्वानों ने सन् 1918 के आसपास से " प्रगतिवाद " के आरंभ की घोषणा करते हुए गया प्रसाद शुक्ल " सनेही " को प्रथम प्रगतिवादी कवि के रूप में मान्यता दी है पर गंभीरतापूर्वक विचारने से स्पष्ट होता है कि सनेही मंडल के कवियों की कविताओं में वस्तुत: उस यथार्थवाद का विकास हुआ है जो भारतेन्दु युग में आरंभ हुआ था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जब कहते हैं —

" अंग्रेज राज सुखसाज सजै सब भारी
पै धन बिदेस चलि जात, यहै अति ख्वारी "

तो उनकी दृष्टि आलोचनात्मक यथार्थवादी ही है जिसमें औद्योगिक वैज्ञानिक उपलब्धियों को स्वीकारा गया है पर पूँजीवादी शोषणतंत्र के प्रति वहाँ अस्वीकार का भाव्ही निहित है। जब यह आलोचना - त्मक यथार्थवादी स्वर कालांतर में पल्लवित होते हुए सन " 36 में " प्रगतिशील लेखक संघ " के गठन के साथ ही मार्क्सवादी सिद्धांतों से जुड़कर समाजवादी यथार्थवाद के रूप में परिणत हो गया तथा रचनात्मक धरातल पर व्यक्त होने लगा तो साहित्यिक रचनात्मकता की अभि - रूचि में घटित हो रही इस परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रगतिशील साहि - त्यिक आंदोलन के रूप में पहचाना गया।

प्रगतिशील लेखन जब अपनी आरंभिक स्थूलता का परिष्कार करते हुए विकास की विभिन्न मंजिलें तय करता हुआ आम जनता से जुड़ने की दिशा में आगे बढ़ रहा था तभी इसकी रचनात्मक ऊर्जा से आक्रांत होकर साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय बुर्जुआ ताकतों के अलमबरदारों द्वारा लेखकों के बीच प्र॰ले॰स॰ के बढ़ते प्रभाव को फोर्ड फाउंडेशन के काले धन से निरस्त कर देने की साजिश के तहत " सोसाइटी फॉर कल्चरल फ्रीडम " जैसी संस्था की शाखा भारत में भी खोलने का निर्णय लिया गया और " प्रगतिवाद " की मृत्यु का ढिंढोरा पीटते हुए " प्रयोगवाद " को स्थापित करने की चालें चली गई। अपनी जमीन से कटे तथा विदेशज आधुनिकतावाद के प्रभाव से आक्रांत इस

काव्यान्दोलन के शलाका पुरुष कहे जाने वाले अज्ञेय ने आगे चलकर सन् 1951-52 के आसपास डोनाल्ड हॉल द्वारा सम्पादित अमेरिकी संकलन " न्यू पोएट्री " का सीधे अनुवाद करते हुए " नयी कविता " के नाम से जिस नवीन काव्यान्दोलन की उद्घोषणा की उसके लिए प्रादर्श ﴾ मॉडल ﴿ प्रस्तावित करने वाली उनकी " 1947- " 49 " के बीच रचित कविताएँ सन् 1950 में ही " हरी घास पर क्षण भर " के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुकी थीं । औपनिवेशिक आधुनिकता से ग्रस्त इस काव्यान्दोलन की परिणति कालांतर में जिन गलित आधु - निकतावादी काव्यमूल्यों और कुल मिलाकर जीवन-मूल्यों को उदाहृत करने वाली किसिम किसिम की कविताओं के रूप में देखने को मिलीं उसके विस्तार में जाना अनावश्यक होगा ।

छठे दशक के आरंभ में प्रगतिशील आंदोलन को दबाने में औप - निवेशिक आधुनिकता-वादियों को जो तात्कालिक सफलता मिली उसका मूल कारण प्रगतिशील रचनाशीलता की कमजोरी न होकर " भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी " की वे समझौतापरस्त नीतियाँ थीं जिनके तहत सन् " 51 में पार्टी की मदुराई कांग्रेस में उसके तत्कालीन महासचिव बी·टी· रणदिवे को संकीर्णतावादी एवं वामपंथी दुस्साहसिकतावादी करार दे कर अपदस्थ कर दिया गया तथा उनकी जगह अजय घोष को चुना गया जो पी·सी·जोशी की कार्यनीतियों के समर्थक थे । कालांतर में पार्टी ने श्री घोष के नेतृत्व में मध्यममार्गी झुकाव के नामपर संसदीय जनवाद का रास्ता चुना तथा कांग्रेस पार्टी से सहयोग करते हुए तेलंगाना के सशस्त्र विद्रोह को वापस लेने का निर्णय लेकर जनता की क्रांतिकारी

चेतना को कुंठित किया । पार्टी की इन्हीं परिवर्तित नीतियों का असर हमें " प्रगतिशील लेखक संघ " के दिल्ली सम्मेलन (1953) पर दिखाई देता है जिसमें डॉ॰रामविलास शर्मा को संकीर्णतावादी बताते हुए उनकी जगह महासचिव के रूप में कृशनचन्दर को प्रतिष्ठित किया गया । परिणामत: एक संगठित आन्दोलन के रूप में " प्रगति - वाद " बिखर गया और उसकी जगह " प्रयोगवाद " एवं " नयी कविता " ने ले ली ।

किन्तु इसका मतलब यह कतई नहीं है कि प्रयोगवाद एवं नयी कविता के दौर में हिन्दी में जो कुछ लिखा गया वह त्याज्य है । सच तो यह है कि " 50 - 60 " के दौर में मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, कुँवरनारायण, सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह एवं श्रीकांत वर्मा आदि कवियों ने जो कुछ लिखा है उसका स्वर लक्ष्मीकांत वर्मा एवं कैलास वाजपेयी जैसे कवियों की कविताओं से एक हद तक भिन्न अवश्य है । उस दौर की नयी कविता में प्रगीतात्मकता के जिस नये उभार को देखते हुए उसे जिस दृष्टि से रोमांटिक नवोत्थान की संज्ञा प्रदान की गई है उसे प्रगतिशील-यथार्थ-वादी काव्य-परम्परा से बिलकुल विच्छिन्न नहीं कहा जा सकता । इसके साथ ही यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि " 50 - 60 " के दौर में निराला के जो तीन गीत संग्रह अर्चना (1950), आराधना (1953), तथा गीतगुंज (1954) प्रकाशित हुए उनमें अन्तर्वस्तु एवं रूप तत्व दोनों ही दृष्टियों से उनकी पुरानी रचनाओं की तुलना में एक स्पष्ट बदलाव नजर आता है ।

मुक्तिबोध भले ही तार सप्तक में सहयोगी रचनाकार के रूप में शामिल हुए हों पर उन्हें प्रचलित अर्थों में प्रयोगवादी कवि कतई नहीं कहा जा सकता । उस संकलन का चरित्र चाहे जैसा भी रहा हो पर मुक्तिबोध के कवि को जो कहना था वही उन्होंने वहाँ भी कहा है । तार सप्तक में संकलित उनकी " पूँजीवादी समाज के प्रति " शीर्षक कविता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । वस्तुत: प्रयोगवाद का बौद्धिक व्यक्तिवाद मुक्तिबोध जैसे कवि के गले के नीचे उतरना प्राय: असंभव था । इसी प्रकार यह ठीक है कि उनकी अधिकाधिक महत्वपूर्ण कविताएँ " नयी कविता " के उत्कर्ष के दौर में ही रचित हैं पर इसी कारण उन्हें सीमित अर्थों में " नयी कविता " का कवि भी नहीं कहा जा सकता । वास्तविकता तो यह है कि जैसे छायावाद के प्रतिनिधि कवि होने के बावजूद निराला ने अनेक बार छायावाद की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए सशक्त यथार्थवादी भावबोध की कविताएँ लिखी हैं उसी प्रकार नयी कविता के कवि होते हुए भी मुक्तिबोध ने उसमें यथार्थबोध को संवेदनात्मक आकलन या प्रतिक्रिया तक सीमित पाकर उसकी सीमाओं का अतिक्रमण किया है तथा अपने क्लासिकी भावबोध को काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफलता पाई है ।

सन् 1960 के बाद भारतीय जीवन में जब मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हुई तो उससे कविता की भूमिका में भी भारी बदलाव आया । इस ऐतिहासिक मोहभंग की स्थिति के बाद हमें हिन्दी कविता में जिन दो विरोधी काव्यधाराओं के दर्शन होते हैं उनमें एक का सम्बन्ध जहाँ प्रतिबद्ध कविता से है वहीं दूसरे का सम्बन्ध अकविता से । इन दोनों परस्पर विरोधी काव्यधाराओं के बीच एक लम्बे समय तक संघर्ष की

स्थिति बनी रही और जाहिर है कि अंतत: औपनिवेशिक आधुनिकतावादी काव्य प्रवृत्तियों को प्रतिबद्ध कविता ने हिन्दी काव्य जगत से उखाड़ फेंका । उस दौर की प्रतिबद्ध युवा कविता की उपलब्धियों में धूमिल का " संसद से सड़क तक " शीर्षक काव्य संग्रह भी है जिसे हम समकालीन कविता के महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दुओं में एक मान सकते हैं । धूमिल के बाद की कवि पीढ़ी ने विरासत में प्राप्त काव्य परम्परा में जो छद्म क्रांतिकारिता एवं निषेधवादी प्रवृत्तियाँ थी, उनका परित्याग कर सामान्य जन जीवन की समस्याओं तथा सम्पूर्ण मानवीय क्रिया व्यापारों से संवेदना के स्तर पर जुड़कर एकतरह से आगे की रचनाशीलता के लिए जनवादीकरण का मार्ग प्रशस्त किया । सातवें दशक के बाद की हिन्दी कविता में प्रतिबद्धता एवं जनपक्षधरता का जो स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ता है उसे सन् 1967 के नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रतिफलन के रूप में भी देखा गया है जो कृषि-क्रांति की ओर पहला सशस्त्र अभियान था ।

इस संदर्भ में एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रगतिवाद के बिखराव से लेकर सातवें दशक के अंत में जनपक्षीय युवा कविता के अभ्युदय तक हिन्दी की जनपक्षधर एवं प्रगतिशील चेतना सम्पन्न काव्यधारा को जीवित रखनेवाले गिनेचुने प्रतिबद्ध कवियों के साथ ही उन नवगीतकारों के रचनात्मक योगदान का भी अलग से मूल्यांकन होना चाहिए जिन्होंने उस कठिन दौर में एक लम्बे समय से ठहरी हुई गीत विधा को लोकाश्रयी प्रवृत्तियों के नवोत्थान का महत्वपूर्ण दायित्व सम्पन्न करते हुए युवा जनवादी कविता के साथ-साथ जनगीत के लिए पृष्ठ भूमि निर्मित करने का

कार्य किया । सन् 1958 में मुंजफ्फरपुर (बिहार) से राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा "गीतांगिनी" का सम्पादन – प्रकाशन किया जाना इस दिशा में एक उल्लेखनीय कदम था, जिसमें उन्होंने निराला से लेकर जगदीश सलिल तक के करीब पांच-पीढ़ियों के नवगीतकारों के ताजा गीतों को संकलित कर अपने सम्पादकीय आलेख में लोकाश्रयी गीतों का नामकरण "नवगीत" किया था । इतना ही नहीं, जब जनपक्षधर वैचारिक युवा कविता के पुनरोदय के साथ ही नवगीत भी जनबोध से लैस होकर अपनी कारगर परिणति की ओर अग्रसर हो रहा था तो उन्होंने ही सर्वप्रथम "जनबोधी नवगीत" के रूप में उसके रचनागत वैशिष्ट्य को पहचाना था । अन्ततः हम जोर देकर कहना चाहेंगे कि पठ्य-पाठ्य एवं वैचारिक जनवादी कविता तथा जनबोध - जनवाद से लैस गेय कविता या जनगीत, दोनों ही आज अग्रगामी हिन्दी कविता का मुख्य प्रवाह हैं, जिसकी रचनात्मक पृष्ठभूमि के निर्माण-क्रम में औपनिवेशिक आधुनिकतावादी काव्य प्रवृत्तियों से जूझने वाले प्रतिबद्ध कवियों के साथ ही उन नवगीतकारों के रचनात्मक योगदान को भी भुलाया अथवा झुठलाया नहीं जा सकता जो उस कठिन दौर में लोकाश्रयी गीतों के नवोत्थान हेतु संघर्षरत थे ।

जब '67 की नक्सलबाड़ी कृषि क्रांति के बेरोक प्रभावों से प्रगतिशीलता की टूटी-छूटी कड़ियों को जोड़कर एक ही साथ जनवादी युवा कविता एवं लोकाश्रयी नवगीत ने औपनिवेशिक आधुनिकता के कुहा से को चीरकर कुण्ठा-आक्रोश दिशाहीनता की चुनौतियों के विरुद्ध ग्रामीण एवं नगरीय जीवनानुभव, सामाजार्थिक अन्तर्वस्तु, जनपक्षधर दृष्टि, स्वदेशी आधुनिक शिल्प वैविध्य और पूरे रचनागत बदलाव की क्षमता तथा

संभावनाएँ अर्जित कर लीं, तो, इस परिवर्तित रचना परिदृश्य पर विचारते हुए समीक्षकों का ध्यान उन कवियों की ओर भी गया जिनकी रचनाएँ प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के बिखराव के दिनों में भी अन्तःसलिला की तरह सप्तकेतर जनपक्षधर काव्यधारा के रूप में सतत् प्रवहमान थीं। वस्तुतः इसी क्रम में आलोचकों द्वारा नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन आदि कवियों की रचनाओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किये जाने की प्रक्रिया शुरू हुई जो अबतक जारी है।

नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन घोषित तौर पर प्रतिबद्ध कवि हैं। लेकिन इनकी प्रतिबद्धता का मतलब सिद्धांत-कथन या घिसे-पिटे पार्टी लेखन से कतई नहीं है। इनके काव्य में सैद्धांतिक सूत्र तथा जार्गन एवं क्लीशे आदि का सीधा प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में कहें तो वहाँ सिद्धांत स्वयं काव्य-विषय बनने के बजाय खून की चमक की तरह कविता में झलक मारता हुआ दिखाई देता है। चूँकि इन कवियों ने केवल पुस्तकीय ज्ञान या कोरे चिंतन से प्राप्त वैचारिक पक्षधरता के बजाय विवेक के साथ लोकबद्ध होने की प्रक्रिया में ही विचारधारा का अर्जन एवं आत्मसातीकरण किया है इसलिए इनके काव्य में शोषित-पीड़ित जनता के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति की जगह एक प्रकार की सहज आत्मीयता दृष्टिगत होती है। वस्तुतः नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन की कविताएँ अपने समय का तापमान बताती हैं तथा वे प्रगतिवाद के आरंभ से लेकर अबतक अत्यंत ही गत्वर एवं प्रासंगिक रही हैं। जब हम इनके रचना-संसार पर दृष्टिपात करते हैं तो वहाँ तमाम महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों पर लिखित कविताओं के साथ ही अनेकानेक ऐसी कविताएँ भी मिलती हैं

जो निहायत तात्कालिक घटनाओं को लेकर रचित हैं। किन्तु इन कवियों की तात्कालिक कविताओं में भी जो व्यंग्यार्थ है वह उन्हें कालजयी बना देता है। उदाहरण के लिए पूर्णिया के छात्र आंदोलन को लेकर नागार्जुन रचित " तीन दिन, तीन रात " शीर्षक रचना या केदार की " देवली के नरसंहार " पर रचित कविताएँ देखी जा सकती हैं। हिन्दी के विद्वान समीक्षकों ने नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन को ठीक ही प्रगतिवाद की त्रयी के रूप में स्वीकारा है।

नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन की आरंभिक रचनाओं की प्रकृति में जो एक हद तक अंतर दिखाई देता है उसका कारण वस्तुत: उनकी जीवन पद्धति एवं काव्य-दृष्टि के भेद में निहित है। उसमें भी नागार्जुन एवं त्रिलोचन से केदार का पारिवारिक वातावरण एवं उनकी रचना-दृष्टि आरंभ में बिलकुल भिन्न थी। नागार्जुन एवं त्रिलो-चन जहाँ शुरू से ही लोक से जुड़ने के आग्रही थे वहीं केदार का पारि-वारिक वातावरण एक हद तक अभिजात रुचियों वाला था। उनके पिता रीतिकाव्य के रसिक थे इसलिए अपनी किशोरावस्था में केदार को रीतिकालीन काव्यग्रंथों के पारायण का अवसर मिला था और इसके प्रभाव से वे तभी नारी प्रेम विषयक उद्दाम श्रृंगारिक रचनाएँ लिखने लगे थे। आगे चलकर जब वे निराला और विशेषकर डॉ॰ रामविलास शर्मा के सम्पर्क में आए तथा मार्क्सवाद से सम्बन्धित पुस्तकों से गुजरते हुए लेनिन की " काग्नीशन थ्योरी " से परिचित हुए, तो, उनके भाववादी संस्कार मिटने लगे और उन्होंने जन जीवन की समस्याओं से सम्बन्धित कविताएँ लिखनी शुरू की। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए

नागार्जुन की " युगधारा ", केदार की आरंभिक रचनाओं के संग्रह " गुलमेंहदी " तथा त्रिलोचन की " धरती " आदि काव्य संग्रहों की कविताएँ देखी जा सकती हैं। ऐसे, इन कवियों की अनेकानेक कविताएं बहुत पहले रची जाने के बावजूद क्रमिक प्रकाशन सम्बन्धी अव्यवस्था के कारण उनके बाद के संग्रहों में भी छपती रही हैं।

नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन की आरंभिक रचनाओं के संदर्भ में वस्तु और रूप की समस्या पर विचारने से स्पष्ट होता है कि नागार्जुन एवं त्रिलोचन के यहाँ कई अपवादों के बावजूद प्राय: रूप वस्तुमय हो जाने की चरम स्थिति में है और स्पष्ट ही वहाँ मानव संवेदना का अत्यंत घनीभूत रूप दिखाई देता है। उदाहरण के लिए नागार्जुन रचित " बादल को घिरते देखा है " ‖ 1938 ‖, " कालिदास " ‖ 1938 ‖, " सिन्दूर तिलकित भाल " ‖ 1943 ‖, " यह दंतुरित मुस्कान " ‖ 1943 ‖, तथा " मन करता है " ‖ 1945 ‖ जैसी उनकी आरंभिक प्रतिनिधि कविताएँ देखी जा सकती हैं जो प्रभावान्विति की दृष्टि से आज भी जीवंत हैं। इसी प्रकार त्रिलोचन के सन् 1945 में प्रकाशित प्रथम काव्य संग्रह " धरती " की " भोरई केवट के घर " तथा " चम्पा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती " जैसी कविताओं की यथार्थवादी काव्यवस्तु ने अपने में रूप को लगभग अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस संग्रह की गद्यात्मक प्रकृति वाली कविताओं के साथ ही गेय संरचना वाली कविताओं में भी गीत का फार्म लिरिकल अन्तर्वस्तु में घुलमिल-सा गया प्रतीत होता है।

नागार्जुन एवं त्रिलोचन से भिन्न केदार चूँकि सीधे जीवन से साहित्य में आने के बजाय साहित्य के पठन-पाठन की प्रक्रिया से गुजरते हुए रचना करने की ओर प्रवृत्त हुए इसलिए उनके संस्कार आरंभ में भाववादी थे और वे एक लम्बे समय तक प्रेम के गहरे ताप से उष्ण कविताएँ लिखते रहे जो उनके दूसरे काव्य संग्रह " नींद के बादल " में संकलित हैं । ऐसे तो केदार की प्रेमचेतना कभी सीमित नहीं रही है पर इसके बावजूद उनकी नारी प्रेम विषयक आरंभिक कविताओं से गुजरते हुए किसी भी प्रबुद्ध साहित्यिक को उनमें वर्णन-चित्रण की जो स्थूलता है, उसका सहज ही आभास हो सकता है, भले ही कवि के कथनानुसार वे पत्नी के प्रेम एवं सौन्दर्य की कविताएँ ही क्यों न हों । वस्तु-रूप सम्बन्ध की दृष्टि से केदार की इन घोर शृंगारिक कविताओं पर विचारने से स्पष्ट होता है कि इनमें वस्तु में रूप के पर्यवसित होने की बात तो दूर, वहाँ अनेक बार हमें वस्तुहीनता की स्थिति एवं शिल्पवाद का आग्रह दृष्टिगत होता है जो कुल मिलाकर कवि के पारम्परिक काव्य-संस्कार का परिणाम है ।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि केदार की तमाम प्रेम कविताएँ अन्यथाकृत वस्तु-रूप सम्बन्धों का नमूना मात्र हैं । सच तो यह है कि जहाँ-कहीं भी कवि ने स्वयं को पारम्परिक काव्य संस्कारों से मुक्त करके शुद्ध मानवीय प्रेम-व्यापार को सहजता के साथ व्यक्त करने का प्रयास किया है वहाँ उसे काफी सफलता मिली है । केदार की प्रेम कविताओं के साथ ही नागार्जुन एवं त्रिलोचन की भी ऐसी अनेकानेक प्रेम कविताएँ देखी जा सकती हैं जिनमें अत्यंत आत्मीय एवं पारिवारिक संदर्भों में कवि को प्रिया की याद आती है । नागार्जुन को यदि घर-आँगन में व्यस्त बाल-बच्चों से घिरी श्रमरत और चूल्हे के आगे दिपते

चेहरे से दीप्त अपनी प्रिया की याद आती है तो त्रिलोचन की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि - " मुझे जगत-जीवन का प्रेमी बना रहा है प्यार तुम्हारा । " इसी प्रकार केदार को आलू और अनाज के खत्म हो जाने तथा लालटेन का शीशा कालिख से भर जाने पर जब आफत महसूस होती है तब उन्हें उस अस्तव्यस्तता को ठीककरने वाली अपनी गृहीणी की बरबस याद आती है । वस्तुत: इन कवियों की ऐसी प्रेम कविताओं की प्रकृति गिरिजा कुमार माथुर जैसे कवियों के व्यक्तिवादी मानस संसार को उजागर करने वाली उन तथाकथित प्रेम कविताओं से बिलकुल भिन्न है जिनमें काव्य नायक को कॉरीडोर में सूखते पेटीकोट, ब्लाउज एवं ब्रेसरी को देखकर प्रिया की याद आती है । कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि नागार्जुन की " यह तुम थीं ", केदार की " आज नदी बिलकुल उदास थी " या " हे मेरी तुम " तथा त्रिलोचन के अनेकानेक प्रेम गीतों एवं एतद्विषयक कविताओं में चूँकि रूप वस्तुमय हो जाने की चरम स्थिति में है इसलिए उनमें मानव संवेदना अपने अत्यंत घनीभूत रूप में स्थापित हो सकी है ।

कविता में वस्तु-रूप सम्बन्ध की एक स्थिति वह भी होती है जबकि रूप के वस्तुमय होने के बजाय वस्तु ही रूपमय होने की प्रक्रिया में दृष्टिगत होती है और कहना न होगा कि इस प्रक्रिया की परिणति प्राय: कलावस्तु की अमूर्तता के रूप में दिखाई देती है । वस्तुत: कला के अमूर्त हो जाने के खतरे से भिज्ञ होने पर भी जब कोई रचनाकार बार-बार अपनी कलावस्तु को रूपमय होने की चरम स्थिति में पहुँचाने के लिए सचेष्ट रहता है तो वह रूपवादी या फार्मलिस्ट कहलाता है ।

दूसरे शब्दों में कहें तो रूपवादी कवि किसी काव्य रूप विशेष के प्रति इतना अधिक व्यामोह रखने लगता है कि वह उसे रचना में उपलब्ध कर लेना ही अपनी चरम उपलब्धि मानने लग जाता है । इस संदर्भ में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि कोई कवि किसी फार्म विशेष का बारम्बार सफलता के साथ प्रयोग करते हुए काव्य-सृजन करता है तो केवल इसी कारण उसे फार्मलिस्ट कवि मान लेना एक भूल होगी । ऐसी स्थिति में हमें देखना यह होगा कि रचनाकार क्या केवल उस रूप विशेष से चमत्कृत होकर उसमें बारम्बार अपनी काव्यवस्तु को ढालने का अटेम्प्ट ले रहा है या उस रूप पर उसका अधिकार भी हो गया है ? यदि उस रूप विशेष पर कवि का पूरा अधिकार हो गया है तो फार्म पर वही अधिकार उसे फार्मलिज्म से मुक्त भी कर देता है । उदाहरण के लिए दोहा-चौपाई शैली पर अतुलनीय अधिकार रखने वाले गोस्वामी तुलसीदास को हम केवल इसीलिए फार्मलिस्ट कवि नहीं कह सकते कि उन्होंने इस फार्म में काफी लिखा है । फार्मलिज्म का आरोप तो केशवदास पर लगाया जा सकता है जिन्होंने फार्म के व्यामोह मे पड़कर जगह-जगह कविता की हत्या कर दी है ।

नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन की कविता में अमूर्तता की स्थिति प्राय: नहीं है । नागार्जुन एवं त्रिलोचन से भिन्न केदार के काव्य में कई बार जो बिम्बों में उलझाव एवं अस्पष्टता दिखाई देती है उसका कारण भी किसी रूप विशेष के प्रति कवि का आत्यंतिक आग्रह होने के बजाय अनुभव एवं अभिव्यक्ति के बीच संतुलित स्थिति के अभाव पर घनीभूत हुआ है और उसने इस पर बल देते हुए अभिव्यक्ति को दरगुजर कर दिया है वहाँ स्वभावत: उलझे हुए बिम्बों की सृष्टि हुई है

और इस कारण रचनाकार का अनुभव लोक हमें तल तक साफ नहीं दीख पाता । उदाहरण के लिए कवि केदार के " फूल नहीं, रंग बोलते हैं " शीर्षक काव्य संग्रह में संकलित " आँखों देखा " कविता का अंतिम अंश द्रष्टव्य है ।

नागार्जुन एवं केदार से भिन्न त्रिलोचन के यहाँ हमें कई बार " वस्तु-रूप " सम्बन्धों के अन्यथाकरण की एक ऐसी स्थिति भी दिखाई देती है जहाँ रूप के वस्तु में अन्तर्मुक्त होने के बजाय कवि द्वारा रूप से वस्तु की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया गया है और कहना न होगा कि इस क्रम में वहाँ कलाहीनता उत्पन्न हो गयी है । त्रिलोचन-काव्य में यह स्थिति प्राय: उनके सॉनेटों के संदर्भ में घटित होती हुई देखी जा सकती है । हालांकि त्रिलोचन ने सॉनेट जैसे विदेशी काव्य रूप को ज्यों का त्यों न अपनाकर उसे रोला छंद के मात्रिक संगीत में ढालकर उसका अलग ढाँचा तैयार करने का सफल प्रयास किया है जो हिन्दी भाषा की आंतरिक प्रकृति से भी मेल खाता है पर इन सबके बावजूद हमें वहाँ अनेक बार काव्यात्मकता की कमी का तीखा एहसास हुए बिना नहीं रहता । भले ही डॉ॰नन्द किशोर नवल जैसे प्रतिष्ठित आलोचक ने त्रिलोचन की वस्तु-रूप के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध की सही समझ की जय जयकार करते हुए बलपूर्वक उनकी काव्यवस्तु को एकमात्र सॉनेट के फार्म के ही अनुरूप घोषित किया हो पर सच तो यह है कि सॉनेट के छंद एवं तुकों की कठिन पाबंदी का निर्वाह करती हुई त्रिलोचन की कविता कई बार वहाँ दम तोड़ती हुई-सी दिखाई पड़ती है । इसके साथ ही वहाँ कई बार सॉनेट का 'फार्म' रचना की अन्तर्वस्तु (कांटेंट) से अलग अपनी स्वतंत्र सत्ता जताता हुआ प्रतीत होता है और स्पष्ट ही

रूप और वस्तु की एकमेकता के अभाव में वहाँ कला विकृत हुई है। यही बात एक हद तक त्रिलोचन की गजलों पर भी लागू होती है। गजल के फार्म के लिए उपयुक्त शब्दों को तलाशता हुआ कवि जब संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करने लग जाता है तो वहाँ एक प्रकार की कृत्रिमता दिखाई पड़ती है। फिर भी वस्तु-रूप सम्बन्ध की दृष्टि से सॉनेट के मुकाबले उनके गजलों की स्थिति थोड़ी बेहतर जरूर है। त्रिलोचन को सर्वाधिक सफलता तब मिली है जब उन्होंने अपनी गद्यात्मक प्रकृति के अनुरूप वर्णनात्मक कविताएँ लिखी है या प्रगीतात्मक अन्तर्वस्तु वाले गीतों की रचना की है।

नागार्जुन एवं त्रिलोचन के काव्य में अनेक बार " स्वगत में मुक्त संवाद " के फार्म का सफल प्रयोग गद्यात्मक कविताओं की अन्तर्वस्तु के लिए हुआ है। उनकी ऐसी कविताओं में कभी तो गद्य की लय का उठान काव्य लय तक होता है, तो, कभी काव्य की लय वहाँ ठेठ गद्य की लय में पर्यवसित होती हुई दृष्टिगत होती है। यदि शैली की दृष्टि से विचारें तों स्पष्ट होगा कि इस फार्म के अन्तर्गत विन्यस्त अधिकांश कविताएँ वर्णनात्मक शैली में रचित हैं। उदाहरण के लिए नागार्जुन की 'नेवला', 'पका है यह कटहल,' 'जोड़ा मंदिर' एवं 'भुस का पुतला' तथा त्रिलोचन की 'भोरई केवट के घर,' " चम्पा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती ", " नगई महरा ", " रैन बसेरा " तथा " बिना मिले लौटने की राह में " शीर्षक कविताएँ देखी जा सकती हैं जिनमें आत्म - कथन के हिस्से भी एकाधिक बार आए हैं।

इसके विपरीत केदार की कविताओं में हमें गद्यात्मकता की जगह कविता की अलग एक विशिष्ट पहचान बनाये रखने की प्रवृत्ति हमेशा दृष्टिगत होती है । केदार में तुकविधान का जो आग्रह है वह उनकी कविता को प्राय: गद्यात्मक नहीं बनने देता । संभवत: इसी कारण केदार की अधिकांश रचनाएँ अपनी निर्मिति में पद्यात्मक हैं । ऐसे, वहाँ तुक के प्रति आत्यंतिक आग्रह के कारण कई बार कविता को भारी क्षति भी पहुँची है ।

जार्ज लुकाच ने अपनी पुस्तक " उपन्यास के सिद्धांत " में " रूपों के इतिहास दर्शन की समस्याएँ " तथा " महाकाव्य एवं उपन्यास " आदि प्रकरण के तहत साहित्य के रूप पक्ष पर विचारते हुए उसे ऐतिहासिक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से प्रभावित माना है। अपने रूप विषयक विवेचन क्रम में वे ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न स्थिति को साहित्यरूप का पूर्वनिर्धारक बताते हुए कलाकार की चेतना को उससे वस्तुनिष्ठ रूप में स्वतंत्र मानते हैं ।

लुकाच के रूप विषयक उपर्युक्त मंतव्य से असहमति जाहिर करते हुए बर्तोल ब्रेख्त ने स्पष्ट किया है कि किसी युग विशेष की सामाजार्थिक व्यवस्था में रचित साहित्य का कोई एक निश्चित रूप ही हो, यह आवश्यक नहीं है । उनका कहना है कि किसी पुराने काव्य रूप के द्वारा भी नवीन काव्यवस्तु को सफलता के साथ व्यक्त किया जा सकता है ।

लुकाच एवं ब्रेख्त के रूप विषयक चिंतन पर नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन के रचना संदर्भ में विचारने से हमें लुकाच के मुकाबले ब्रेख्त का एतद्विषयक चिंतन ही ज्यादा वैज्ञानिक तथा समीचीन प्रतीत होता है। जबकि हिन्दी कविता में मध्ययुग के अवसान के साथ ही " दोहे " जैसे काव्य रूप में कुछ नया कह सकने की तमाम संभावनाएँ तकरीबन समाप्त-सी हो चुकी थीं, नागार्जुन ने अपने समय की तिक्त-कटु यथार्थवादी अन्तर्वस्तु को अत्यंत सफलता के साथ इस काव्य रूप में व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए उनके द्वारा उत्तरशती में " शासन की बन्दूक " तथा " अन्न पचीसी के दोहे " शीर्षक से रचित घोर यथार्थवादी एवं क्रांतिकारी अन्तर्वस्तु वाले दोहे देखे जा सकते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने रैदास के एक सुप्रसिद्ध भजन की पंक्ति " प्रभु जी ! तुम चन्दन हम पानी " तथा " प्रभुजी ! तुम दीपक हम बाती " के तर्ज पर अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ जो व्यंग्य कविताएँ लिखी हैं वे प्रभावान्विति की दृष्टि से अत्यंत सशक्त हैं। नागार्जुन की ही तरह केदार ने भी जहाँ अमीर खुसरो एवं भारतेन्दु की शैली तथा अनेक बार उनकी शब्द योजना तक को अपनाते हुए व्यंग्य कविताएँ लिखी हैं वहाँ रचना की धार अत्यंत तीक्ष्ण हुई है और वह बहुत दूर तक मार करती प्रतीत होती है। उनकी ऐसी कविताएँ वस्तु और रूप, दोनों ही स्तरों पर इतनी अधिक लोकबद्ध हैं कि वहाँ आकर मौखिक एवं लिखित साहित्य की धाराओं का भेद तकरीबन मिट गया-सा लगता है। न केवल नागार्जुन एवं केदार ने ही, बल्कि त्रिलोचन के कवि ने भी अपने समय की विसंगतिपूर्ण सामाजार्थिक-राजनीतिक व्यवस्था की जनविरोधी कारगुजारियों का पर्दाफाश करने के लिए अपनी अन्तर्वस्तु को " कुंडलिया " जैसे पुराने फार्म में जिस सफलता के साथ

विन्यस्त किया है वह हमें चकित कर देता है । सच तो यह है कि इन कवियों के पास वस्तु और रूप के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की स्पष्ट समझ है इसीलिए उनकी रचना में कविता की अन्तर्वस्तु की नैसर्गिक आकांक्षा के अनुरूप पुराने फार्म का भी इतनी सफलता के साथ प्रयोग संभव हो सका है ।

यह ठीक ही कहा गया है कि सफल राजनीतिक कविता लिखना एक जोखिम भरा काम है । कारण यह कि राजनीतिक कविताओं की रचना करते हुए कवि प्रायः भाषणबाजी या नारेबाजी का रुख अख्तियार कर लेता है । नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन केयहाँ भी हमें बड़ी संख्या में राजनीतिक कविताएँ देखने को मिलती हैं पर उनकी रचनात्मक प्रकृति में पर्याप्त अंतर है । नागार्जुन-काव्य में जहाँ सीधे-सीधे राज - नीतिक घटनाओं, प्रतीकों एवं नामों आदि को आलंबन बनाया गया है वहीं केदार का कवि राजनीतिक घटनाओं के पीछे छिपे अभिप्रेतों को अपना आलंबन बनाता है । तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों कवियों की राजनीतिक कविताओं पर विचारने से स्पष्ट होता है कि नागार्जुन से भिन्न केदार की एतद्विषयक कविताओं में गहन संवेदनशीलता के बावजूद जिस यथास्थितिवादी जीवन तथा राजनीति को सख्त घृणा का विषय बनाया गया है, उसे अपनी घृणा बनाते हुए भी कविता का पाठक उससे आगे नहीं आ पाता और इस प्रकार शासक-शोषक वर्ग की राजनीति के प्रति घृणा-भाव के होते हुए भी वहाँ एक प्रकार की अमूर्तता की स्थिति प्रायः बनी रहती है । किन्तु इसी के साथ यह भी सच है कि एक-आध अपवादों को छोड़कर नागार्जुन की तरह वहाँ काव्य -

विषय के काव्यवस्तु में तत्वांतरण के बगैर रचना-प्रक्रिया के बीच में ही अभिव्यक्ति के लिए कोई उतावलापन नजर नहीं आता । वस्तुत: इसका मूल कारण अत्यधिक उद्विग्न प्रकृति के कवि नागार्जुन तथा एक हद तक शांत एवं संतुलित प्रकृति वाले कवि केदार की दो भिन्न मनोवैज्ञानिक एवं स्नायविक संरचना में निहित है ।

नागार्जुन एवं केदार से बहुत हद तक भिन्न त्रिलोचन का कवि किसी विसंगतिपूर्ण स्थिति से उद्वेलित तो होता है पर शीघ्र ही वह अपना गुस्सा पी जाता है । वह इस बात से पूरी तरह वाकिफ है कि क्रांति का मार्ग उतना सुबोध नहीं है जितना कि सामान्यत: समझा जाता है । संभवत: इसी कारण त्रिलोचन की राजनीतिक कविताओं में क्रांति या परिवर्तन के लिए उतावलापन के बजाय एक हद तक रचना - त्मक गांभीर्य दिखाई देता है । दूसरे शब्दों में कहें तो वहाँ काव्य-विषय का काव्यवस्तु में इतनी बारीकी के साथ तत्वांतरण हो जाता है कि पाठक रचना विशेष को किसी एक संदर्भ में सीमित करके नहीं देख सकता ।

नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन के काव्य में आए बिम्बों, प्रतीकों एवं भाषा-प्रयोगों पर जब हम तुलनात्मक दृष्टि से विचारते हैं तो वहाँ थोड़े-बहुत भेद के बावजूद एक अद्भुत समानता दिखाई देती है । चूँकि इन तीनों ही कवियों में भारतीय काव्य-परम्परा के प्रगतिशील एवं प्रासंगिक तत्वों को आत्मसात करते हुए रचनात्मक धरातल पर लोक से जुड़ने का आग्रह अत्यंत प्रबल है इसलिए इनकी कविताओं में आए अधिकाधिक बिम्ब एवं प्रतीक जीवनधर्मी हैं । जहाँ तक जनभाषा से काव्यभाषा के जुड़ाव का प्रश्न है, नागार्जुन-काव्य में मैथिली एवं केदार

तथा त्रिलोचन के यहाँ अवधी जैसी जनभाषाओं का निखरा हुआ काव्यमय रूप देखा जा सकता है । ऐसे, कविता की अन्तर्वस्तु की जरूरत के अनुसार वहाँ अनेक बार संस्कृत के तत्सम शब्दों तथा उर्दू एवं अंग्रेजी आदि के शब्दों का भी बेहिचक इस्तेमाल किया गया है ।

अन्ततः मैं यह कहना चाहूँगा कि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन न केवल प्रगतिवाद के ही, बल्कि हिन्दी जाति की सम्पूर्ण काव्य परम्परा के प्रतिनिधि जनकवि हैं। इनकी कविताएँ अपने आरंभिक चरण से लेकर अब तक अत्यंत ही तत्पर एवं प्रासंगिक रही हैं । वहाँ अपने समवयस्क कवियों से रचनात्मक संवाद के साथ ही युवतर पीढ़ी के कवियों के प्रति एक प्रकार के संवेदनात्मक लगाव की स्थिति भी देखी जा सकती है । अपने रचनात्मक जीवन के अंतिम चरण में अज्ञेय का कवि अपने समय की युवा कविता का मुहवरा अपनाने के लिए उत्सुक प्रतीत होता है जबकि हमारे समय के तमाम उल्लेखनीय युवा कवि निराला के बाद सबसे अधिक नागार्जुन तथा एक हद तक केदार एवं त्रिलोचन की काव्य संवेदना से रचनात्मक ऊर्जा ग्रहण कर रहे हैं । जहाँ तक इन तीनों कवियों की कुछ रचनाओं में कलाहीनता या सपाट बयानी का प्रश्न है, इस संदर्भ में मैं आक्तोवियो पाज की " दि बो एण्ड दि लायर " पुस्तक से विचार-सूत्र लेकर कहना चाहूँगा कि रचना-क्रम में अनेक बार विस्मय (एक्सक्लेमेशन) का धीरे-धीरे स्पष्टीकरण या सफाई (एक्सप्लेनेशन) बन जाना जिस हद तक कविता को असफल करता है, उसी हद तक कवि की ईमानदारी को उजागर करता है । इसके साथ ही एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन तीनों कवियों की कविताओं में

कलात्मकता अनेक बार कलाहीनता की हद तक बारीक है इसलिए इस संदर्भ में कोई-टीका-टिप्पणी करने के पूर्व पाठक-समीक्षक द्वारा अपनी सीमाओं पर भी पुनर्विचार कर लेना उचित होगा । सच तो यह है कि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल एवं त्रिलोचन की विविधवर्णी काव्यवस्तु के साथ ही उनके भाषा-संवेदन, छंद-रचना, लय-बोध या कुलमिलाकर उनकी कविताओं के रूपविधान पर भी विचारना केवल समकालीन समीक्षकों के लिए ही नहीं बल्कि कविता के तमाम गंभीर अध्येताओं एवं नये रचनाकारों के लिए भी समान रूप से उपयोगी होगा ।

-=-=-

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

क्र·सं·	लेखक	पुस्तक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण
1·	2	3	4	5
1·	अज्ञेय, स·ही·वा· (संपादक)	तार सप्तक	भारतीय ज्ञानपीठ 3620/21, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली - 6·	1972 चतुर्थ
2·	अज्ञेय (संपादक)	दूसरा सप्तक	भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली - 6·	1970 द्वितीय
3·	अवस्थी, रेखा	प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य	दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली	1978 प्रथम
4·	अग्रवाल, केदारनाथ	फूल नहीं, रंग बोलते हैं	परिमल प्रकाशन 17, एम·आई·जी· बाघम्बरी आवास योजना अल्लापुर, इलाहाबाद-211 006·	1965 प्रथम

1	2	3	4	5
5.	अग्रवाल, केदारनाथ	आग का आईना	परिमल प्रकाशन इलाहाबाद - 211 006.	1970 प्रथम
6.	"	गुलमेंहदी	"	1978 प्रथम
7.	"	पंख और पतवार	"	1979 प्रथम
8.	"	विचार बोध	"	1980 प्रथम
9.	"	विवेक विवेचन	"	1980 प्रथम
10.	"	हे मेरी तुम	"	1981 प्रथम
11.	"	मार प्यार की थापें	"	1981 प्रथम
12.	"	कहें केदार खरी-खरी	"	1983 प्रथम
13.	"	अपूर्वा	"	1984 प्रथम
14.	"	जमुन जल तुम	"	1984 प्रथम
15.	"	जो शिलाएँ तोड़ते हैं	"	1985 प्रथम
16.	"	बोले बोल अबोल	"	1985 प्रथम

1	2	3	4	5
17.	अग्रवाल केदारनाथ	आत्मगंध	परिमल प्रकाशन इलाहाबाद - 6.	1988 प्रथम
18.	गुप्त, मन्मथनाथ	प्रगतिवाद की रूपरेखा	आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट दिल्ली - 6.	1952 प्रथम
19.	चैलीशेव, य.प.	प्रगतिशील भारतीय साहित्यकारों के छविचित्र	किताब घर गांधीनगर, दिल्ली.	1985 प्रथम
20.	जैन, निर्मला	आधुनिक हिन्दी काव्य : रूप और संरचना	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली - 2.	1982 प्रथम
21.	जैन, निर्मला	रस सिद्धांत और सौन्दर्य-शास्त्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जवाहर-नगर, दिल्ली-7.	1967 प्रथम
22.	जैन, निर्मला (संपादक)	साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन	हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, मॉडल टाउन दिल्ली -110 009.	1986 प्रथम

1	2	3	4	5
23.	जैन, नेमिचन्द (संपादक)	मुक्तिबोध रचना- वली. भाग - 5 (पेपरबैक्स)	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली 110 002.	1985 प्रथम
24.	तिवारी, अजय (संपादक)	केदारनाथ अग्रवाल	परिमल प्रकाशन इलाहाबाद- 211 006.	1986 प्रथम
25.	तिवारी, अजय तथा रब्बी, डब्बार, (सम्पादक द्वय)	कवि मित्रों से दूर	"	1986 प्रथम
26.	तिवारी, अजय	प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य-मूल्य	"	1984 प्रथम
27.	दत्त, रजनीपाम	आज का भारत (अनुवाद)	द मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड	1977 प्रथम हिन्दी संस्करण
28.	दिनकर, रामधारी सिंह	मिट्टी की ओर	राजकमल प्रकाश पटना - 16.	1985 प्रथम

1	2	3	4	5
29.	द्विवेदी, हजारी प्रसाद	हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास, हजारी-प्रसाद ग्रंथावली-3.	राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली 110 002.	1985 प्रथम
30.	नगेन्द्र (प्र.संपादक)	पाश्चात्य काव्य-शास्त्र : मार्क्स-वादी परम्परा	हिन्दी विभाग दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली	
31.	नवल, नन्द-किशोर	कविता की मुक्ति	वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली-2.	1980 प्रथम
32.	"	शब्द जहाँ सक्रिय है.	नेशनल पब्लि-शिंग हाउस, दरियागंज नयी दिल्ली 110 002.	1986 प्रथम
33.	नागार्जुन	तुमने कहा था	वाणी प्रकाशन दरियागंज, नयी-दिल्ली-2.	1980 प्रथम

1	2	3	4	5
34.	नागार्जुन	खिचड़ी विप्लव देखा हमने	संभावना प्रकाशन रेवतीकुंज हापुड़ 245 101.	1980 प्रथम
35.	"	हजार-हजार बाहोंवाली	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली-2.	1981 प्रथम
36.	"	पत्रहीन नग्न गाछ	संभावना प्रकाशन हापुड़- 1.	1981 प्रथम
37.	"	प्यासी पथराई आँखें	अनामिका प्रकाशन इलाहाबाद-3.	1982 द्वितीय
38.	"	पुरानी जूतियों का कोरस	वाणी प्रकाशन दरियागंज, नयी दिल्ली-2.	1983 प्रथम
39.	"	ऐसे भी हम क्या ! ऐसे भी तुम क्या !	"	1985 प्रथम
40.	"	आखिर ऐसा क्या कह दिया मैं ने	"	1986 प्रथम
41.	"	रत्नगर्भ	"	1984 प्रथम

1	2	3	4	5
42.	प्रसाद, कमला, ज्ञानरंजन तथा मैनेजर पाण्डेय (संपादक त्रय)	मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र समग्र चिंतन	पहल द्वारा प्रकाशित	1977 प्रथम
43.	पाटणकर, रा.भा.	सौन्दर्य मीमांसा (मराठी से अनूदित)	साहित्य अकादमी रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह रोड, नई दिल्ली 110 001.	1990 प्रथम
44.	पाण्डेय, मैनेजर	साहित्य और इतिहास दृष्टि	पीपुल्स लिटरेसी 517, मटिया महल, दिल्ली 110 006.	1981 प्रथम
45.	भट्ट, प्रकाशचन्द्र	नागार्जुन : जीवन और साहित्य	सेवा सदन प्रकाशन रामपुरा, मन्दसौर मध्य प्रदेश	1974 प्रथम
46.	मलयज	कविता से साक्षात्कार	संभावना प्रकाशन हापुड़-245101.	1979 प्रथम

1	2	3	4	5
47·	मार्क्स एंगेल्स	कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र [अनुवाद]	प्रगति प्रकाशन मास्को	
48·	"	साहित्य तथा कला [अनूदित निबंधों एवं व्याख्यानों का संकलन]	"	
49·	मिश्र, शोभाकांत	नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएं-2·	वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली-2·	1985 प्रथम
50·	मिश्र, शिवकुमार	दर्शन, साहित्य और समाज	पीपुल्स लिटरेसी दिल्ली-6·	1981 प्रथम
51·	मुदीराज, शशि	छायावाद का समाजशास्त्र	परिमल प्रकाशन इलाहाबाद-6·	1988 प्रथम
52·	मेघ, रमेश कुंतल	साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-2·	1988 प्रथम

1	2	3	4	5
53.	मेघ, रमेश कुंतल	अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा	दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड दिल्ली	1977 प्रथम
54.	रहबर, हंसराज	प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन	विभूति प्रकाशन के-14, नवीन शाहदरा दिल्ली-2.	1966 प्रथम
55.	रणजीत ‖ संपादक ‖	प्रगतिशील कविता के मील के पत्थर	लोक भारती प्रकाशन 15-ए ‖महात्मागाँधी मार्ग, इलाहाबाद	1985 प्रथम
56.	राघव, रांगेय	प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड	सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा	1954 प्रथम
57.	"	काव्य, यथार्थ और प्रगति	विनोद पुस्तक मंदिर होस्पीटल रोड आगरा	1964 द्वितीय

1	2	3	4	5
58.	वर्मा, जनेश्वर	हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना	ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर-12.	1974 प्रथम
59.	शर्मा, राम-विलास	मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य	वाणी प्रकाशन 61-एफ, कमला-नगर, दिल्ली-7.	1984 प्रथम
60.	"	परम्परा का मूल्यांकन	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-2.	1981 प्रथम
61.	"	भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद	"	प्रथम
62.	"	नयी कविता और अस्तित्ववाद	"	1978 प्रथम
63.	शर्मा, राम-विलास (संपादक)	प्रगतिशील काव्य-धारा और केदार-नाथ अग्रवाल	परिमल प्रकाशन इलाहाबाद	1986 प्रथम
64.	"	श्रम का सूरज	"	1986 प्रथम

1	2	3	4	5
65.	सांकृत्यायन, राहुल	वैज्ञानिक भौतिकवाद	किताब महल प्रयाग	1947 तृतीय
66.	सांकृत्यायन, कमला § संपादक §	राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबंध	प्रवीण प्रकाशन महरौली, नयी दिल्ली-30.	1982 प्रथम
67.	सिंह, अयोध्या	भारत का मुक्तिसंग्राम	दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लि.	1977 प्रथम
68.	सिंह, नामवर § संपादक §	नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ § पेपरबैक्स §	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-2.	1988 तृतीय
69.	सिंह, नामवर	कविता के नये प्रतिमान	"	1968 प्रथम
70.	"	इतिहास और आलोचना	"	1978 तृतीय
71.	"	वाद विवाद संवाद	"	1989 प्रथम

1	2	3	4	5
72.	सिंह, केदारनाथ	आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब विधान	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई - दिल्ली - 6.	1971 प्रथम
73.	सिंह, उदयभानु सिंह, हरभजन श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ [संपादक त्रय]	साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली - 2.	1980 प्रथम
74.	श्रीवास्तव, परमानंद	शब्द और मनुष्य	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-2.	1988 प्रथम
75.	त्रिलोचन	धरती	नीलाभ प्रकाशन 5-खुसरोबाग इलाहाबाद	1977 प्रथम
76.	"	शब्द	वाणी प्रकाशन नई दिल्ली-2.	1980 प्रथम
77.	"	उस जनपद का कवि हूँ	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली-2.	1981 प्रथम
78.	"	गुलाब और बुलबुल	वाणी प्रकाशन नई दिल्ली-2.	1985 प्रथम

1	2	3	4	5
79·	त्रिलोचन	अनकहनी भी कुछ कहानी है	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली - 2·	1985 प्रथम
80·	"	तुम्हें सौंपता हूँ	"	1985 प्रथम
81·	"	फूल नाम है एक	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली - 2·	1985 प्रथम
82·	"	सबका अपना आकाश	"	1987 प्रथम
83·	"	पैती	वाणी प्रकाशन नई दिल्ली -2·	1987 प्रथम
84·	फॉक्स, रैल्फ	उपन्यास और लोकजीवन ‖ अनुवाद	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा·लि· नई दिल्ली -55·	1980 तृतीय
85·	लुकाच, जार्ज	उपन्यास का सिद्धांत ‖अनुवाद‖	मैकमिलन इंडिया‖	1981 प्रथम हिन्दी संस्करण
86·	वेलेक, रेने	आलोचना की धारणाएँ‖अनुवाद‖	हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी; चण्डीगढ़·	1978 प्रथम हि·सं·

अंग्रेजी ग्रंथ (मूल तथा अनुवाद)

87.	Caudwel, Christopher	Illusion and Reality	People's Publishing House BOMBAY	1947 First Indian Edition
88.	Dewey, John	Art as experience	Minton Balch & Company NewYork	1934 First
89.	Eaglton, Terry	Criticism & Ideology	Verso editions '5 Greek Streets, London	1982 Third
90.	Erlich, victor	Russian Formalism History-Doctrine.	New Heaven and London Yale University Press.	1981 Third
91.	Fischer, ernst.	The necessity of art (Translation)	Harmondsworth Penguin books	1984
92.	Jameson, Fredric	Marxist Esthetics		
93.	Khrapchenko, M.	The writer's creative individuality & the development of literature (Translation)	Progress Publishers MOSCOW	1984
94.	Lukacs, Georg.	Writer and critic (Translation)	Merlin Press LONDON	1978 Reprinted.
95.	Lyons, John.	Introduction to the theoretical linguistics.	Cambridge University Press, CAMBRIDGE	
96.	Marx, Karl	A contribution to the critique of political economy (Translation)	Progress Publishers MOSCOW	1984 Fifth print.

97.	Marcuse, Herbert	The Aesthetic Dimension.	Becon Press BOSTON	1978 English version
98.	Preminger, Alex.	Princeton Encyclopedia of Poetry & Poetics.	The Macmillan Press Ltd. London & Basingstoke.	1986 Reprinted.
99.	Rader, Melvin M.	A Modern book of esthetics.	Henry Holt & Company New York	1976 Fifth Print.
100.	Spender, Stephen	World within world.	Faber & Faber Ltd. 3 Queen Square, London W.C.I.	1977
101.	Taylor, Ronald.	Aesthetics & Politics. (Translation)	NLB,7 carliste street, London.	1979 Second Impression.
102.	Williams, Raymond.	Marxism and Literature.	Oxford University press Walton street Oxford.	1977
103.	Zis, AVNER	Foundations of Marxist Aesthetics. (Translation)	Progress Publishers MOSCOW	1977 First printing.

पत्र - पत्रिकाएँ

1. "आइना", आधुनिका, खबड़ा रोड, मुजफ्फरपुर (बिहार)
2. "आलोचना", राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - 2.
3. "उत्तरार्द्ध", 164, डेम्पियर नगर, मथुरा - 281 001.
4. "अंततः", एफ/2, सिधुटा... के पास, बैरागढ़, भोपाल - 30.
5. "कदम", ए-24/15, कोयला बाजार, वाराणसी - 221 001.
6. "कतार", प्रोफेसर्स कालोनी, पीरागोड़ा, धनबाद - 826 001.
7. "दस्तावेज", बेतियाहाता, गोरखपुर (उ.प्र.)
8. "निष्कर्ष", 59, खैराबाद, दरियापुर रोड, सुल्तानपुर
9. "पहल", 763, अग्रवाल कालोनी, जबलपुर (म.प्र.)
10. "पूर्वग्रह", मध्य प्रदेश कला परिषद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर मार्ग, भोपाल - 462 003.
11. "मधुमती", राजस्थान साहित्य अकादमी, सैक्टर -4, हिरणमगरी, उदयपुर - 313 001.
12. "युगावलोकन", चौधराइन मंदिर लेन, नया टोला, मुजफ्फरपुर (बिहार)
13. "विपक्ष", कदमा, हजारीबाग (बिहार)
14. "सरस्वती", इंडियन प्रेस, प्रयाग

15. " समकालीन सृजन ", 20 बालमुकुन्द मक्कर रोड, कलकत्ता -7.

16. " समकालीन भारतीय साहित्य ", साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली - 110 001.

17. " साक्षात्कार ", मध्य प्रदेश साहित्य परिषद, डी-1/1, प्रोफेसर्स कालोनी, भोपाल - 462 002.

18. " साम्य ", मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ, शीतलावार्ड, अम्बिकापुर्ण - 497 001.

-=-=-=-=-